

GOVERNMENT OF INDIA
ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO 8175

CALL No. 891.207/ Bha

D.G.A. 79



11/11/11



OM
A
HISTORY OF VEDIC LITERATURE

VOL. I part II

THE COMMENTATORS

OF
THE VEDAS

BY

BHAGAVAD DATTA

Professor D. A. V. College, LAHORE.

891.209

Bha

8173

26
12-2-40
891.2-19
Bha
DECEMBER 1931

First Edition }
500 Copies.

{ *Price Rs. Five.*

ओम्

दयानन्द महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला

अनेक विद्वानों की सहायता से

भगवदत्त

संस्कृत-आपाक वा अभ्यस अनुसन्धान विभाग
दयानन्द महाविद्यालय, लाहौर द्वारा
सम्पादित ।

प्रस्था १३

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 8175

Date..... 17-1-57

Call No. 896.209

Bha

Vaidika Vaidya ^{श्रीम}
वैदिक वाङ्मय का इतिहास ।

भाग प्रथम खण्ड द्वितीय

वेदों के भाष्यकार

लेखक

भगवद्दत्त

अध्यापक दयानन्द महाविद्यालय,
लाहौर ।

आयर्ष्य सम्वत् १९६०८५३०३१ ।

विक्रम सं० १९५५ ।

दयानन्दानन्द १०७

प्रथम संस्करण १९५० प्रति

द्वितीय संस्करण १९५३ प्रति

Printed by SATYENDRA NATH
AT

THE RAVI PINE ART PRINTING WORKS, MOHAN LAL ROAD, LAHORE.

AND PUBLISHED BY

THE RESEARCH DEPARTMENT, D. A. V. COLLEGE, LAHORE.

प्राकथन

इस इतिहास के द्वितीय भाग को प्रकाशित हुए आज पूरे चार वर्ष भवितुल हुए हैं। इन चार वर्षों में मेरे देश में एक अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में भूतलाकाश का अन्तर हो गया है। निर्बल जनता में बल का संचार हो रहा है। ऐसे दिनों में, ऐसे विविध आन्दोलन के दिनों में, अपने चित्त को इन प्रभावों से परे रखना या तो देवताओं का काम है या नरसिंहाओं का। नहीं, नहीं, अनेक योगिराजों के आसन भी इस अहिंसा के संग्राम में हिला दिए हैं। ऐसी परिस्थिति में कौन सा देशभक्त है जिसका मन उद्विग्न न रहता हो। पर इतिहास का लिखना एकान्त चाहता है, मन की समता चाहता है और विचार की गम्भीरता भी चाहता है। ये सब बातें इन दिनों में मुसल नहीं। पर फिर भी मैंने अपने कमरे में बन्द होकर प्राचीन ग्रन्थों के पढ़ने में पर्याप्त समय लगाया है। उसी का फलरूप वैदिक वाङ्मय के इतिहास के प्रथम भाग का यह द्वितीय खण्ड है।

चार वर्ष पहले मेरा अनुमान था कि प्रथम भाग में वेदों के विषयों का, वेद-शास्त्राओं का और वेद-भाष्यकारों का वर्णन हो सकेगा, परन्तु सामग्री के एकत्र होने पर मुझे पता लगा कि वेद-भाष्यकारों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन ही एक भाग में लिखा जा सकता है, अतः प्रथम भाग के दो खण्ड करने ही मैंने उपयुक्त समझे।

सन् १९१८ के नवम्बर मास में जोरिएण्टल कान्फरेंस का पञ्चम सम्मेलन लाहौर में हुआ था। उस में मैंने स्कन्द, उद्गीथ और वेङ्कटमाधव आदि के सम्बन्ध में एक लेख पढ़ा था। उस लेख का संक्षिप्त पहले मुद्रित हो चुका था। उक्त कान्फरेंस के अवसर पर मद्रास यूनिवर्सिटी के अध्यापक प्रो-कूहन् राज मेरे अतिथि थे। आश्चर्य की बात है कि उनका लेख भी इसी विषय पर था। हमने तीन दिन तक इस विषय पर विशेष विचार-परिचर्चा

किया। तब मेरा यह निश्चय हो गया था कि अपने इतिहास का वेद-भाष्यकारों का भाग पहले निकालना चाहिए। तभी से मैं ने इस का लिखना आरम्भ कर दिया। इस विषय पर मुझसे पूर्व किसी विद्वान् ने कम्बक रूप से अपनी लेखनी नहीं उठाई। अतः यह भाग एक प्रकार से अनेक नवीन बातों का संग्रह समझना चाहिए। मैंने इसमें भाष्यकारों के काल के विषय में अधिक लिखने का यत्न किया है। यदि इन भाष्यकारों का काल-क्रम निश्चित हो जाए, तो उनके मन्तव्यों का अधिक उत्तम अध्ययन हो सकेगा। उनके मन्तव्यों पर यहाँ अधिक नहीं लिखा गया।

इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे वेद-भाष्यकारों का उल्लेख किया गया है, जिनके अस्तित्व का ज्ञान भी बहुत कम लोगों को था। आशा है अब विद्वान् लोग इस ओर अपना ध्यान आकर्षित करेंगे।

अनेक संस्कृत प्रमाणाँ का जो अर्थ लिखा गया है, वह भावार्थ ही समझना चाहिए। अक्षरार्थ करने पर बल नहीं दिया गया। इसका अभिप्राय यही है कि कोई सी संस्कृत जानने वाले भी इस ग्रन्थ से पूर्ण लाभ उठा सकें। मैंने इस ग्रन्थ का आर्यभाषा में ही लिखना अवसर समझा है। इसी में लिखे गए विचार मेरे देश में चिरस्थायी होंगे।

प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के जो पाठ यहाँ उद्धृत किए गए हैं, उनके शोधन का यत्न नहीं किया गया। उनकी शुद्धि-अशुद्धि पाठक स्वयं देख सकते हैं।

कई भाष्य-ग्रन्थों के वर्णन मैं ने हस्तलिखित ग्रन्थों की सूचियों के आधार पर ही लिखे हैं। उनके हस्तलेखों का मंगवाना महा कठिन काम है। कई-कई बार पत्र लिखने पर भी वे ग्रन्थ हमें नहीं मिल सके। यह कठिनाई रियासतों के सम्बन्ध में विशेष रूप से सामने आती है। ईश्वर जाने इन रियासतों के कार्यकर्ताओं को इस लोकहित के काम में सहायता करने की बुद्धि कब आएगी। ईश्वर इन पर दया करे।

मेरे इस इतिहास के द्वितीय भाग के सम्बन्ध में कतिपय संस्कृतज्ञों ने अपनी सम्मति दी लिखी है। उनमें से कई एक ने मेरे लेख की प्रशंसा की है,

और कई एक ने इसके कुछ भागों के विरुद्ध भी लिखा है। मैं उन सबका ही भण्डवार् करता हूँ। जिन विद्वानों ने मेरे विरुद्ध लिखा है, उन्होंने अपनी सम्मतिमात्र का प्रकाश किया है, सप्रमाण कुछ भी नहीं लिखा। मेरी ऐसे महादुर्भागों से साजुरोध प्रार्थना है कि वे उदार हृदय से मेरे लेख के विरुद्ध सप्रमाण लिखें। तब मैं उनके औचित्यानीचित्य पर विचार करूँगा। प्रमाण-रहित सम्मति को मैं कल्पना की कोटि में मानता हूँ और कल्पना का इतिहास मैं प्रमाण नहीं है। मैंने जो कुछ लिखा है, वह परीक्षित-प्रमाणों के आधार पर लिखा है। अतः मेरे भावी समालोचक भी इस बात का ध्यान रखें। फिर भी मेरा विश्वास है कि मैं सर्वज्ञ नहीं हूँ। अपनी भूल को स्वीकार करने में मैं सदा प्रस्तुत रहता हूँ।

इस ग्रन्थ के लिखने में डा० कूहनन् राज ने बड़ी सहायता दी है। कई ग्रन्थों के हस्तलेख मेरा पत्र पहुंचते ही वे तत्काल मेरे पास भेजते रहे हैं। अन्य विषयों पर भी पत्र-व्यवहार द्वारा हम अपनी सम्मति मिलते रहे हैं। मिश्रकर डा० लक्ष्मण स्वरूप स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका का प्रत्येक फारम छपते ही मेरे पास भेज देते थे। डा० मन्मथदेव शास्त्री, पं० चारुदेव शास्त्री एम० ए०, पं० ब्रह्मदत्त, ब्रह्मचारी मुनिष्ठिर, पं० ईश्वरचन्द्र और पं० अण्णा शास्त्री वारे ने भी समय-समय पर बड़ी सहायता दी है। इन सबका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। पं० रामलाल शास्त्री ने पदपाठों की तुलना में सहायता की है, अतः वे भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। पञ्जाब यूनिवर्सिटी-पुस्तकालय से पुस्तकें और हस्तलिखित ग्रन्थ भेजने के लिए डा० स्वरूप, सा० लक्ष्मणाम प्रधान पुस्तकालय और पं० बालासहाय शास्त्री संरक्षक-संस्कृत-विभाग की अत्यन्त सहायता मिलती रही है, अतः मैं इनका भी धन्यवाद करता हूँ। मूक संशोधन का काम पं० शुचिमत एम० ए० शास्त्री और मेरे विभाग के पं० हंसराज, पं० प्रेमनिधि शास्त्री, पं० पीताम्बर शास्त्री, और पं० विजयानन्द शास्त्री ने किया है। मैं इन महाशयों का भी धन्यवाद करता हूँ।

इस ग्रन्थ के लिखे जाने में सबसे बड़ी सहायता दयानन्द-कालेज की प्रबन्ध-कर्तृ-सभा की है। जिस उदारता से यह सभा प्राचीन ग्रन्थों की प्राप्ति के लिए

मुझे धन देती है, उसका कोई हिसाब नहीं। वैदिक-ग्रन्थों की वह विपुलराशि जो इस समय लालबन्द-पुस्तकालय में है, यदि मेरे पास न होती, तो यह ग्रन्थ लिखा हो न जा सकता। मेरे मित्र श्री राम अनन्तकृष्ण शास्त्री अब तक भी अलभ्य प्राचीन-वैदिक-ग्रन्थ मुझे भेज रहे हैं, अतः मैं उनका भी आभारी हूँ।

मुझे पूर्ण आशा है कि मेरा परिश्रम दूसरे विद्वानों को इस विषय में अधिक खोज के लिए प्रोत्साहित करेगा। यदि वे देवत्वामी का ऋग्वेदभाष्य और कुण्डिन तथा गुहदेव के तै० सं० भाष्य प्राप्त कर लें तो वैदिक-अध्ययन में आश्चर्यजनक सहायता मिलेगी।

परमात्मा करे, कि वेद का पवित्र अर्थ सब विद्वानों के हृदय में प्रकाशित हो। हृत्पलम्।

१६ दिसम्बर, शनिवार }
सन् १९२१

भगवद्भक्त

विषयसूची

विषय	पृष्ठ
प्रथम अध्याय । ऋग्वेद के भाष्यकार	
१—रक्तस्वामी	१
२—नारायण	१८
३—उद्गीथ	२२
४—इस्तामजक	२५
५—वेङ्कटमाधव	२६
६—अथमथ	४२
७—पानुष्क ७७वा	४३
८—आनन्दतीर्थ	४३
अयतीर्थ	४७
नरसिंह	४८
राघवेन्द्रवति	४८
९—आत्मानन्द	४९
१०—सायण	५५
११—रायण	६१
१२—मुद्रञ्ज	६७
१३—चतुर्वेदस्वामी	६८
१४—देवस्वामी । भट्टभास्कर । उषट	६९
१५—हरदत्त	७१
१६—सुदर्शन खुरि से उद्धृत भाष्य	७२
१७—व्यानन्द सरस्वती	७६
द्वितीय अध्याय । यजुर्वेद के भाष्यकार	
१—शौनक	८५
२—हरिस्वामी	८६
३—उषट	८६
४—गौरधर	८७

५—राविण	६२
६—महीधर	६२
७—दयानन्द सरस्वती	६६

काण्व संहिता के भाष्यकार

१—सायण	६६
२—आनन्दबोध	६८
३—अनन्ताचार्य	१००
१—काशनाथ	१०२
२—हज्जायुध	१०६
३—आदित्यवर्धन	१०९
४—देवपाल	१०७
५—सोमानन्दपुत्र	१०६

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार

१—कुचिदन	११०
२—भवत्सामी	११०
३—गुहदेव	११२
४—शैशिक महभास्कर मिश्र	११३
५—पुर	११६
६—सायण	१२०
७—बैबटेश	१२१
८—बाळकृष्ण	१२२
९—हरदत्तमिश्र	१२२
समुद्र	१२३

रुद्राण्याय के भाष्यकार

१—अभिनवशङ्कर	१२६
२—अहोबल	१२७
३—हरिदत्तमिश्र	१२७
४—बेणोराय = सामराज	१२७
५—मयूरेश	१२८
६—राजहंस सरस्वती	१२८
७—एक अज्ञातायुद्ध भाष्यकार	१२८
८—भवानीशङ्कर	१२८

अनन्त की कात्यायन स्मृत मन्त्रार्थदीपिका	१२६
हररात की कृष्णावटप्रदीपिका	१२६
भवदेव	१२७

तृतीय अध्याय । सामवेद के भाष्यकार

१—माधव	१३१
२—भरतस्वामी	१३२
३—सायण	१३६
४—सूर्यदीवज	१३७
५—महारावामी	१३६
६—गोभाकर भट्ट	१३६
७—गुणविष्णु	१४०

चतुर्थ अध्याय । अथर्ववेद का भाष्यकार

१—सायण	१४३
--------	-----

पञ्चम अध्याय । पदपाठकार

१—शाकल्य	१४६
२—रायण	१४७
३—यजुर्वेद-पदपाठकार	१४७
४—काश्यपसंहिता-पदपाठकार	१४८
५—मैत्रायणी संहिता पदपाठकार	१४८
६—आश्वेप	१५०
७—गार्ग्य	१५२
८—आथर्वणपदपाठ	१५५
पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन	१५६

षष्ठ अध्याय । निरुक्तकार

चौदह निरुक्त	१६१
१—औपमन्यव	१६६
२—औदुम्बरायण	१६७
३—वाष्पायणि	१६७
४—गार्ग्य	१६८
५—आत्रायण	१६६
६—शाकल्य	१६६
७—औषावाभ	१७७

५—रावण	६२
६—महीधर	६२
७—दयानन्द सरस्वती	६६

काश्य संहिता के भाष्यकार

१—सायण	६६
२—मानन्दबोध	६८
३—मनन्ताचार्य	१००
१—कालनाथ	१०२
२—हज्जायुध	१०६
३—आदिभद्रार्जुन	१०९
४—देवपाल	१०७
५—सोमानन्दपुत्र	१०६

तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार

१—कुचिह्न	११०
२—भवस्वामी	११०
३—गुहदेव	११२
४—कौशिक भट्टभास्कर मिश्र	११३
५—दुर	११६
६—सायण	१२०
७—मैकटेश	१२१
८—बालकृष्ण	१२९
९—हरदत्तमिश्र	१२२
शत्रुघ्न	१२३

रुद्राध्याय के भाष्यकार

१—अभिनवशङ्कर	१२६
२—अहोबल	१२७
३—हरिदत्तमिश्र	१२७
४—देवोराय = सामराज	१२७
५—मयूरेक	१२८
६—राजहंस सरस्वती	१२८
७—एक भञ्जालाक्ष भाष्यकार	१२८
८—भवानीशङ्कर	१२८

अनन्त की कात्यायन स्मृत मन्त्रार्थदीपिका	१२६
हररात की कृष्णाखण्डप्रदीपिका	१२६
भवदेश	१३०

तृतीय अध्याय । सामवेद के भाष्यकार

१—माधव	१३१
२—भरतस्वामी	१३५
३—सायण	१३६
४—सूर्यदेवज्ञ	१३७
५—महास्वामी	१३६
६—शौभाकर भट्ट	१३६
७—गुणविष्णु	१४०

चतुर्थ अध्याय । अथर्ववेद का भाष्यकार

१—सायण	१४३
--------	-----

पञ्चम अध्याय । पदपाठकार

१—शाकल्य	१४४
२—रावण	१४७
३—यजुर्वेद-पदपाठकार	१४७
४—कायवसंहिता-पदपाठकार	१४८
५—मैत्रायणी संहिता पदपाठकार	१४८
६—आत्रेय	१५०
७—गार्ग्य	१५२
८—आथर्वणपदपाठ	१५५
पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन	१५५

षष्ठ अध्याय । निरुक्तकार

चौदह निरुक्त

१—औपमन्यव	१६१
२—औदुम्बरायण	१६७
३—वाष्पायणि	१६७
४—गार्ग्य	१६८
५—आम्रावण	१६६
६—शाकपूणि	१६६
७—औशंबाम	१७७

८—तैत्तिरीय	१७८
९—शांख्य	१७८
१०—श्रौतसूत्र	१८०
११—श्रौतसूत्र	१८०
१२—कार्यव्य	१८०
१३—वाल्मीकि	१८१

सप्तम अध्याय । निघण्टु के भाष्यकार

जीरस्वामी	२०८
१—देवराज यज्ञ	२१०

अष्टम अध्याय । निरुक्त के भाष्यकार

१—निरुक्त-वार्तिक	२१३
२—वचन स्वामी	२१७
३—दुर्गा	२१७
४—स्वन्द-महेश्वर	२२६
५—धीनिवास	२३४
६—नागेश्वरदत्त निरुक्त-भाष्य	२३५
७—वारहमिह निरुक्त-समुच्चय	२३५
कौत्सस्य का निरुक्त-निघण्टु	२४४
परिशिष्ट १	२४६
परिशिष्ट २	२५५
परिशिष्ट ३	२७४
शब्दसूची	२७६



ओम्

वैदिक वाङ्मय का इतिहास

भाग प्रथम

द्वितीय खण्ड

वेद-संहिताओं के भाष्यकार

ऋग्वेद के भाष्यकार

१—स्कन्दस्वामी (लगभग संघत् ६=७ । सन् ६३०)

ऋग्वेद के जितने भी भाष्यकारों का ज्ञान आज तक हमें हो चुका है, स्कन्दस्वामी उन सब में से प्राचीन है। सायण, देवराज, आत्मानन्द प्रभृति सब ही आचार्य उसे अपने अपने भाष्यों में उद्धृत करते आये हैं। स्कन्दस्वामी का काल अब सुनिश्चित रूप से जान लिया गया है। उस के काल का निश्चय किस प्रकार हुआ, इस का यहाँ लिख देना अनुचित न होगा।

स्कन्दस्वामी का काल कैसे ज्ञात हुआ।

सन् १६२८ मास अगस्त के आरम्भ में अवसर प्राप्त होने पर मैं कारी गया। वहाँ के क्वीन्स कालेज के सरस्वती भवन में एकत्र किये हुए हस्तलिखित-पुस्तक-संग्रह को देखने की विरक्तल से मेरी इच्छा थी। इसी अनिष्टाय से समय समय पर मैं उस संग्रह के सूचीपत्र से देखने योग्य ग्रन्थों के नाम नोट करता रहता था। मेरे मित्र श्री परिडल मन्त्रल देव जी शास्त्री एम० ए० सन् १६२८ के कुछ पूर्व से ही उस पुस्तकालय के अभ्युच्च चले आ रहे हैं। उन्हीं की कृपा से मैंने कई दिन तक अपने मतलब के ग्रन्थ देखे।

एक दिन वे मेरे समीप बैठे थे। मैंने माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के हरिव्यस अर्थात् प्रथम काण्ड पर हरिस्वामी भाष्य के मंगले के लिये उन से कहा। इस भाष्य का यही एक हस्तलेख अब तक मेरी दृष्टि में आया है। ग्रन्थ

जाने पर मैंने उस के अन्तिम पन्ने का पाठ आरम्भ किया और शास्त्री जी ने पहले का । अन्तिम पंक्तियों में हरिस्वामी ने अपने काल का निर्देश किया है । इस का उल्लेख आगे होगा ।

मैं अभी अपने चित्त में निर्णय कर ही रहा था कि शतपथ ब्राह्मण के सत्यण भाष्य के प्रथम काण्ड के अन्त में जो हरिस्वामी के भाष्य का अंश छपा है वह इस भाष्य से मिलता है या नहीं, जब मेरे मित्र ने सहर्ष मेरा ध्यान उस के भूमिकात्मक श्लोकों की ओर दिलाया । तब मेरी प्रसन्नता का कोई ठिकाना न रहा जब उन श्लोकों में मुझे ऋग्वेद भाष्यकार आचार्य स्कन्दस्वामी के काल का पता मिल गया ।

इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० १६, ४० पर मैंने हरिस्वामी के काल विषय में कुछ लिखा था । तब तक हरिस्वामी का ठीक काल अज्ञात था । फिर भी मैंने लिखा था कि—

“आचार्य हरिस्वामी दशम शताब्दी से पूर्व का तो अवश्य ही है ।”

अब तो हरिस्वामी का काल भी ठीक ज्ञान लिया गया है और उसी के आधार पर आचार्य स्कन्दस्वामी का काल भी ज्ञात हो गया है । इस सम्बन्ध में हरिस्वामी के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

नागस्वामी तत्र.....श्रीगुहस्वामिनन्दनः ।

तत्र याजी प्रमाणह आख्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥५॥

तत्रन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान् ।

अपीन्याख्यानधौरेयो ऽर्धाततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥६॥

यः सम्राट् कृतवान् सप्तसोमसंस्थास्तथर्कध्रुविम् ।

व्याख्या[१] कृत्वाध्यापयन्मां धीस्कन्दस्याग्यस्ति मे गुरुः ॥७॥

अर्थात् श्रीगुहस्वामी का पौत्र और नागस्वामी का पुत्र तथा ऋग्वेद के भाष्यकार स्कन्दस्वामी का शिष्य हरिस्वामी है ।

पुनः हरिस्वामी लिखता है—

यशब्दानां कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्चतानि वै ।

चत्वारिंशत्समाध्यान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

अर्थात् जब कलि के १७४० वर्ष हो चुके थे तब यह भाष्य रचा गया ।

कलि संवत् ११०२ पूर्व ईसा में आरम्भ हुआ था । इस लिये हरिस्वामी ने ६३८ सन् में शतपथ के प्रथम काण्ड का भाष्य किया । उस समय आचार्य स्कन्दस्वामी अपना ऋषिद भाष्य कर चुका था । इस से प्रतीत होता है कि स्कन्द लग भग सन् ६३० में अपना भाष्य कर रहा था ।

डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने सन् ५३८ ई० में हरिस्वामी का भाष्य करना लिखा है ।^१ वे १००२ पूर्व ईसा से कलि संवत् का आरम्भ मानते हैं । कलि संवत् का आरम्भ १२०० पूर्व ईसा में हुआ हो, ऐसा किसी अन्य विद्वान् का मत नहीं । अतः स्कन्द के ऋषिभाष्य करने का काल ६३० सन् ईस्वी ही ठीक है ।

पण्डित साम्बशिव शास्त्री^२ ने भट्टिकाव्य के टीकाकार गोविन्दस्वामिसूनु हरिस्वामी की समानता का शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी से जो अनुमान किया है, वह सत्य नहीं है । शतपथ ब्राह्मण भाष्यकार हरिस्वामी के पिता का नाम नागस्वामी था । इस से प्रतीत होता है कि भट्टिकाव्य के टीकाकार के सम्बन्ध में यदि पं० साम्बशिव शास्त्री का लेख ठीक है, तो हरिस्वामी नाम के दो आचार्य हो चुके हैं ।

परन्तु भट्टिकाव्य का जो संस्करण निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से सन् १८०० में निकला था, उसके अन्त में टीकाकार का नाम जयनराल आदि और ग्रन्थकार का नाम श्रीस्वामिसूनु कवि भट्टि लिखा है । इसलिये पं० साम्बशिव शास्त्री के लेख के मुनिधित होने में अभी सन्देह है । सटीक भट्टिकाव्य के जिस हस्तलेख का प्रमाण पं० साम्बशिव शास्त्री ने दिया है, उस की तुलना अन्य अनेक कोशों से होनी चाहिये ।

स्कन्द-काल के जानने के लिये अन्य प्रमाण ।

दूसरे प्रमाण, जिन से स्कन्द के काल का ज्ञान होता है, निम्नलिखित हैं—

(क) १४वीं शताब्दी के आरम्भ का देवराज गङ्गा अपने निषण्णभाष्य में स्थान स्थान पर स्कन्दस्वामी को उद्धृत करता है ।^३

१ Indices and Appendices to the Nirukta, Introduction p. 29.

२ ऋषि-संहिता स्कन्दभाष्यसंहिता । संस्कृत भूमिका १० ३ ।

३ देखो निषण्णभाष्य १० ७, १२, १३, १५, २७ श्यादि । ४

(स) १३वीं शताब्दी का केरावस्वामी अपने नानार्थार्थवसंक्षेप भाग १, पृ० ८ पर लिखता है—

द्वयोस्त्वभ्ये तथा ह्याह स्कन्दस्वाम्युक्तु भूरिशः ।

माधवाचार्यसूरिश्च को अघेत्युचि भावते ॥^१

अर्थात् दोनों लिपियों में गो शब्द का भोका अर्थ है । इसी प्रकार अनेक श्रुतियों में स्कन्दस्वामी ने भोका अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य श्रु० १८४/१६४ में यही अर्थ करता है ।

(ग) १२वीं शताब्दी अथवा इस से कुछ पूर्व का वैद्वटमाधव लिखता है—

भाष्याणि वैदिकान्याहुरार्यावर्तनिवासिनः ।

क्रियमाणान्यपीदानीं निरुक्तानीति माधवः ॥८॥

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात् ।

चक्रुः सहैकमृगभाष्यं पदधाक्यार्थगोचरम् ॥९॥^२

अर्थात् स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने मिल कर एक ऋग्वेद भाष्य रचा ।

स्कन्दभाष्य पहले भागों पर, नारायणभाष्य मध्य भाग पर और उद्गीथ-भाष्य अन्तिम भाग पर है ।

(घ) लगभग ११वीं शताब्दी का उपाध्याय कर्क अपने कात्यायन श्रौतसूत्रभाष्य ८/१८१४ में हरिस्वामी को उद्धृत करता है । आचार्य स्कन्दस्वामी हरिस्वामी का गुरु था । इसलिये स्कन्दस्वामी भी दशम शताब्दी से पूर्व का अवश्य ही होगा ।

यदि ऋग्वेदीय सम्प्रदाय के अधिक ग्रन्थ मिल जायें, तो उन से हरिस्वामी के पूर्वोक्त कथन की सत्यता अवश्य प्रमाणित होगी । वस्तुतः हरिस्वामी का अपना लेख ही उस का काल निर्धारित करने के लिये पर्याप्त है । अतएव इस

१ सन् १६२८ की ओरिएण्टल कॉन्फेस में इस प्रमाण की ओर मैने विद्वानों का ध्यान दिलाया था ।

२ जगधन्दीपिका, अष्टक = अध्याय ४ की भूमिका ।

बात के स्वीकार करने में अगुमात्र भी सन्देह न होना चाहिये कि आचार्य स्कन्दस्वामी सन् ११० के समीप ही अपना ऋग्वेदभाष्य कर रहा होगा, या कर चुका होगा ।

ऋग्वेदभाष्यकार स्कन्द स्वामी

और

निरुक्तटीकाकार स्कन्द स्वामी ।

उप प्रयोभिरागतम् इत्यादिषु निरुक्तटीकायां स्कन्दस्यामिना प्रय इत्यग्रनाम इत्युच्यते तथा च अस्तिति भव इत्यादिनिगमेषु वेदभाष्ये भव इत्यग्रनाम इति स्पष्टमुच्यते । २।॥

देवराज यज्वा के इस लेख से हम जानते हैं कि ऋग्वेदभाष्यकार और निरुक्त टीकाकार अथवा वृत्तिकार स्कन्द दोनों एक ही हैं । परन्तु सम्प्रति निरुक्त-भाष्य-टीका उसी प्राचीन स्कन्द की है, इसमें डा० लक्ष्मणस्वरूप को सन्देह है । वे लिखते हैं—

In my opinion, this commentary is the composition of Mahesvara.....Mahesvara's commentary is a tika on the bhasya of Skanda. This is supported by the title of the commentary, namely 'The Nirukta-bhasya-tika, which may be explained as the tika on the Nirukta-bhasya.

अर्थात् प्रस्तु वृत्ति (निरुक्त-भाष्य-टीका) महेश्वर की बनाई हुई है । इस के नाम से ही स्पष्ट है कि यह स्कन्दभाष्य की महेश्वरविरचित टीका है । इस प्रतिका के प्रमाणभूत चार हेतु उन्होंने दिये हैं । वे ये हैं—

(१) कुछ अध्यायों के समाप्ति-वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं ।

(२) टीका का नाम निरुक्त-भाष्य-टीका है ।

(३) देवराज यज्वा ने स्कन्द के जो प्रमाण दिये हैं, उन में से एक की तुलना स्पष्ट बताती है कि महेश्वर की वृत्ति स्कन्दभाष्य की टीका है ।

(४) उर्वी, अदिति, इला, अश्वरम्, स्वः, साध्याः, वासरम्, अशमा, अहिः इन शब्दों का स्कन्दस्यामिकृत व्याख्यान जो देवराज के निषण्डभाष्य में मिलता है, इस मुद्रित निरुक्त-भाष्य-टीका में नहीं मिलता ।

हमारी समझ में इन हेतुओं से उक्त परिणाम नहीं निकल सकता ।
क्योंकि—

(१) यदि कुछ अध्यायों के समाप्ति-वाक्य टीका को महेश्वरकृत बताते हैं, तो दूसरे, जो गणना में पर्याप्त हैं, टीका को स्कन्दस्वामिप्रणीत भी बताते हैं । और दो अध्याय-समाप्ति-वाक्य शंकरस्वामी^१ को टीका का कर्ता बताते हैं । अतः यह हेतु का० महोदय का पक्ष सिद्ध नहीं करता ।

(२) डा० लक्ष्मणस्वरूप का दूसरा हेतु भी अति निर्बल है । इसलिये जब निरुक्त-भाष्य-टीका नाम पर विचार करना चाहिये । निरुक्त की दुर्गाचार्यवृत्ति के पढ़ने वाले जानते हैं कि दुर्ग यास्क की भाष्यकार कहता है ।^२ ठीक इसी प्रकार प्रस्तुत निरुक्त टीका में भी मूल निरुक्त की भाष्य लिखा है—

तस्य निरुक्तस्य पञ्चाध्याया गौर्मा इत्यादयो निघण्टवस्तेषां व्याख्यानार्थं षष्ठप्रभृति समास्रायः समास्रातः इति भगवतो यास्कस्य भाष्यम् ।^३

और यास्क की निरन्तर भाष्यकार कहा गया है ।^४ अतएव निरुक्त-भाष्य-टीका का अर्थ है, निरुक्त स्त्री जो निघण्टुभाष्य है उस की टीका ।

मूल निरुक्त के कई ऐसे हस्तलेख हैं, जिन के अध्यायों की समाप्ति पर आज तक इस निरुक्त को निरुक्त-भाष्य कहा गया है ।^५ निश्चय ही प्राचीन ग्रन्थ-कार निरुक्त शब्द की निघण्टु का योतक मानते थे और इसलिये निघण्टुभाष्य को निरुक्तभाष्य भी कह देते थे ।^६ स्कन्द महेश्वर का जो प्रमाण पूर्व दिया

१ देखो त० २० चिन्तामणि का लेख, Madras Journal of Oriental Research. Vol. I. No. 1, p. 85.

२ देखो आनन्दशंभु संस्करण, पृ० २१७, १०३, ३४०, ४०६, इत्यादि ।

३ डा० लक्ष्मणस्वरूप का संस्करण, पृ० ४ ।

४ " " " " पृ० ५, १५, ५८, ६२ इत्यादि ।

५ देखो लालचन्द पुस्तकालय के हस्तलेख संख्या ३७३८, ३८२३

६ इसी बात को भूल कर सत्यभक्त रामभमी ने निरुक्त पाठ को, बिसे सावण अपने भाष्य में समाविष्ट करता है, सावणभाष्य के नाम से दिया है । देखो सत्यभक्त का निघण्टु भाष्य का संस्करण, पृ० २७६ ।

गया है, वहाँ भी निरुक्त के पहले पांच अध्यायों को नियरुद्ध कहा गया है । और आज कल के प्रथम अध्याय को षष्ठ कहा गया है ।

देवराज यज्वा इस भाव को और भी खोलता है, जब यह लिखता है—

आ उपर उपल इत्येताभ्यां साधारणानि पर्वतनामभिः
[निरुक्त २।२१ ॥] इत्यादि भाष्यस्य स्कन्दस्वामिग्रन्थः ।^१

अर्थात् निरुक्त २।२१॥ पर स्कन्दस्वामी से उद्धरण ।

(१) डा० लक्ष्मणस्वरूप का तीसरा हेतु भी विचार करने पर सत्य नहीं ठहरता । देवराज यज्वा स्कन्द के पूरे वाक्य को उद्धृत नहीं करता, प्रस्तुत उस में से उपयोगी भाग ले रहा है । और उस उपयोगी भाग को भी अपने प्रकार से ऊपर नीचे करता है । अन्य बाँसियों स्थानों में देवराज का उद्धरण निरुक्त-भाष्य-टीका से सिवाय पाठान्तरों के सर्वथा भिन्नता है । देखो निघण्टुभाष्य २।१।७॥ और निरुक्त-भाष्य-टीका २।१३॥

“अथ स्कन्दस्वामी—व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति” कर्त्तरि सत” इति” कृतव्याख्यानम् । तद्धि” शुभमशुभं वा । वृणोति निवध्नाति [महेस्वर—वध्नाति] कर्त्तारम् । तथा च ध्रुतिः—तं” विद्याकर्मणी समन्वारमेते” पूर्वप्रज्ञा चेति । इदमपीतरद् व्रतम्—गुडलवण-स्त्र्यादिविषयनिवृत्तिरूपं” कर्म । एतस्मादेव रूपसामान्यात् ।

१ निघण्टुभाष्य २।१०।१८।१६॥

२ यह सारा पाठ दो नये कोशों की सहायता से रोपा गया है । स=सत्यव्रत सा० का संस्करण । द=दशानन्द कातेज का इस्तलेख, संख्या ५४.८२ । व=वनारस कीन्स कातेज सं० १२।

३ स—वृणोति नास्ति ।

४ व—सतरिति ।

५ स—तद् द्विविधम् । व—तद्विधं ।

६ स—ते ।

७ स—समन्वारमेते । द—समन्वारमे । व—समन्वारमेते ।

८ द—निवृत्तिरूपं ।

प्रसक्तं व्रतं निरुच्यते । धारयतीति सतः । निवृत्तिरूपो^१ हि सङ्कल्पः^२ [महेश्वर—कल्पः] । तदतिक्रम्य प्रमादात् प्रवर्त्तमानं पुरुषं^३ धारयतीति सत इत्यन्येषां^४ पाठो ऽर्थश्च । अतमिति कर्मनाम । निवृत्तिकर्म [महेश्वर—कर्मनाम] धारयतीति सत इति । व्रतं कर्मोच्यते । कस्मात् । धारयते [महेश्वर—धारयतेः] तद्धि सङ्कल्पपूर्वकं प्रवृत्तिरूपमग्निहोत्रादिकर्म प्रत्यक्षां धारयतीति पुरुषः प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च व्रतेनाभिसम्बद्धः^५ । [महेश्वर—प्रवृत्तेनाभिसम्बन्धः] तेनाव्रतेन [महेश्वर—तेन व्रतेन] निधार्यत इति व्रतस्यैव प्राधान्याद् हेतुकर्तृत्वेन विवक्षा^६ । भोजनमपि व्रतं क्षुदादिनिवारणात् [महेश्वर—क्षुदानि०] ।

इतने लम्बे पाठ में सिवाय सात पात्रान्तरों के अन्य कोई भेद नहीं है । ये पात्रान्तर भी इसीलिए हैं कि देवराज और महेश्वर के ग्रन्थों के हस्तलेख अभी पर्याप्त संख्या में नहीं मिले । इस उद्धरण को देखकर कौन कह सकता है कि देवराज के पास निवृत्त का ठीक वैसा ही स्कन्दमहेश्वर भाष्य नहीं था, जैसा कि हमारे पास है ।

(४) डा० स्वरूप का यौगो हेतु भी ठीक नहीं ।^७ उर्षो शब्द का व्याख्यान नि० २।२६॥ पर, अदितिः का नि० ४।२२॥ पर, स्वः का नि० २।१८॥ पर और वासरम् का नि० २।२॥ पर, इसी प्रस्तुत ग्रन्थ में मिलते हैं । अरमा शब्द पर देवराज स्वयं कहता है कि यह प्रमाण ऋग्वेद २।१२।३॥ के स्कन्द भाष्य से लिया गया है । इसी प्रकार अहिः शब्द पर उद्धृत स्कन्द का भाव भी ऋग्वेद

१ द—निवृत्तिरूपो ।

२ द—सःकल्पः ।

३ द—पुरुषं ।

४ स—नाशि ।

५ स—सम्बन्धः ।

६ स—विवक्षते ।

७ डा० राज ने भी डा० स्वरूप का कथन स्वयं निरर्थक किए बिना मान लिया है ।

१०।१३।६॥ के भाष्य से लिया गया है। शेष रहे तीन शब्द—इला, अप्सरम् और साध्याः। इन में से इला शब्द का अर्थ तो ऋग्भाष्य में मिलना चाहिये। जो मन्त्र इस शब्द के स्कन्द के प्रमाण के साथ देवराज ने उद्धृत किया है उस का स्कन्दभाष्य अभी तक प्राप्त नहीं हुआ। इस लिये इस के विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता। अब रहे दो शब्द अप्सरम् और साध्याः। इन में से पहले का व्याख्यान भी निरुक्त ६।२२॥ पर इसी स्कन्द-महेश्वर भाष्य में मिलता है। साध्याः शब्द का व्याख्यान अन्वेषणीय है।

एक और बात भी विचारणीय है। डा० स्वरूप का चौथा हेतु तभी ठहर सकता है, जब हमें निश्चय हो जावे कि महेश्वर ने स्कन्द प्रणीत निरुक्त के सारे भाष्य को टीका नहीं की। परन्तु ऐसा अभी तक असिद्ध है। इस से निश्चित होना है कि देवराज अपने निघण्टुभाष्य में इसी स्कन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य ने अथवा स्कन्दस्वामी के ऋग्वेदभाष्य से स्कन्द का नाम लेकर सध प्रमाण देना है।

महेश्वर और स्कन्द का सम्बन्ध

यदि महेश्वर का स्कन्दभाष्य के साथ डा० स्वरूप प्रदर्शित सम्बन्ध नहीं है तो उसका स्कन्द के साथ और क्या सम्बन्ध है? यह प्रश्न बड़ा जटिल है। इस का सन्तोषजनक उत्तर पर्वत सान्नी के मिलने पर ही दिया जा सकता है। पर हां कुछ ऐसे स्थल अवश्य हैं जिन पर ध्यान देने से हम सत्य के निकट पहुंच सकते हैं। उन का निदर्शन नीचे किया जाता है।

(१) देवराज महेश्वर से परिचित था

वेङ्कट माधव के लेख से हम जानते हैं कि स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ, तीनों ने मिलकर एक ऋग्वेदभाष्य रचा था। देवराज बम्बा ने वेङ्कट माधव का भाष्य बड़े ध्यान से पढ़ा था। अतः यदि अन्य प्रकार से नहीं, तो वेङ्कट माधव के कथन से ही देवराज जानता था कि स्कन्द के सहकारी नारायण और उद्गीथ भी थे। परन्तु देवराज बम्बा ने अपने ग्रन्थ में स्कन्द के साथ नारायण और उद्गीथ का नामोल्लेख भी नहीं किया।^१ इसी प्रकार प्रतीत होता

१ इसी प्रकार अश्ववामीय युक्त का भाष्यकार (आत्मानन्द) प्रथम नमूने के भाष्य को स्कन्द का न कह कर उद्गीथ का ही कहता है। देखो Catalogue of the SK. Mss. India Office, Part I. p. 8. तथा Descriptive Catalogue of Mss. Central Library Baroda, Vol. I. p. 104.

है कि स्कन्द और महेश्वर दोनों को जानते हुए भी देवराज ने निरुक्त-टीका के सम्बन्ध में स्कन्द का ही नाम लिखना पक्षित समझा है।

अब देखिये। निरुक्त-भाष्य-टीका का तीसरा अध्याय महेश्वर विरचित है। उसमें निरुक्त २।१०॥ की वृत्ति में अम्बु की व्याख्या में यह लिखा है—

अम्बुमद्भ्रातीति वा । राजनेरर्थं भातिनाऽऽचष्टे । स्वच्छस्ति-
मितसरोऽम्बुवद्वभासते । कल्पितोपमानं चैतत् । यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेव भाति मतङ्गजः ।

सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोद्भिमतम् ॥

परमार्थतः स्वरूपमवकाशम् । अम्बुमद्भ्रातीति वा । रो मत्पर्थे सः ।

अब इसकी तुलना देवराज के निम्नलिखित लेख से करनी चाहिये। देवराज का लेख अम्बरम् शब्द के भाष्य पर है। इस अम्बरम् के व्याख्यान से ही उसने अम्बु का व्याख्यान भी कर दिया है। देवराज लिखता है—

अथवा अम्बुवद्भाजते । स्वच्छस्तिमितसरोऽम्बुवद्वभासते ।
कल्पितोपमानं चैतत् । यथा—

पुञ्जीकृतमिव ध्वान्तमेव भाति मतङ्गजः ।

सरः शरत्प्रसन्नाम्भो नभः खण्डमिवोद्भिमतम् ॥ इति

परमार्थतः स्वरूपमवकाशः । अथवा अम्बुमत् भवति । रो मत्प-
र्थयः ।^१ १।३।१॥

दोनों वाक्यसमूहों में कितनी समानता है। निरुक्त की टीका में यह पाठ प्रकृत रूप से आया है। और देवराज यजुषा ने बिना कर्ता का नाम लिखे इसे अवश्य ही वहाँ से उद्धृत किया है।^२ हम लिख चुके हैं कि यह पाठ निरुक्त

१—कल्पितोपमानं पाठ चाहिये। डा० स्वरूप का १) कोश इसी पाठ का समर्थन करता है।

२—देवराज का यह पाठ पञ्चाय यूनियर्सिटी लायनेरी के हस्तलेख में शुद्ध करके दिया गया है।

३—देवराज और स्थलों में भी दूसरे आचार्यों के लेख बिना उनका नाम लिखे अपने ग्रन्थ में प्रयुक्त करता है। देखो निषण्ड २।१०॥ में अम्बर की व्याख्या स्कन्द अम्बुवद्वभाष्य १।१।१॥ का उद्धरणमात्र है।

भाष्य-टीका के उस अध्याय का है जिसे महेश्वरकृत लिखा गया है ।

पूर्वोक्त निरुक्त-भाष्य-टीका के वचन से आठ पंक्ति आगे का एक और वचन-शाकपूषोरतिरिक्ता एते...इत्यादि देवराज निघण्टु २।१८॥ के अन्त में स्कन्दस्वामी के नाम से उद्धृत करता है । इस से प्रतीत होता है कि देवराज सारे ग्रन्थ को ही स्कन्द के नाम से उद्धृत करता है ।

उ० स्वरूप के लिए एक कठिनाई है ।^१ उनका कहना है कि यदि देवराज महेश्वर को जानता था तो वह दुर्गाचार्य को भी अवश्य ही जानता था । फिर उसने दुर्गाचार्य का नाम क्यों नहीं लिखा ।

देवराज उद्धृत स्कन्द और स्कन्द-महेश्वर के जिस लम्बे वचन की तुलना हमने पृ० ७, ८ पर की है, वह वचन हमने प्रयोजनविशेष से चुना है । उस वचन को लिखते हुए स्कन्द-महेश्वर के मन में दुर्गाचार्य का भाष्य अवश्य विद्यमान था । देखिये—

दुर्गाचार्य

निगमप्रसक्तमुच्यते । यतमिति
कर्मनाम वृणोतीति । एवं कर्तरि
कारके सतो वृणोतेः । तद्धि कर्म
शुभमशुभं वा कृतं सदावृणोति
कर्तारम् । २।१३॥

स्कन्दमहेश्वर

निगमप्रसक्तादाह । यतमिति
कर्मनाम वृणोतीति । कर्तरि सत
इति कृतव्याख्यानम् । तद्धि
शुभमशुभं वा वृणोति यज्जानति
कर्तारम् ।

इसी प्रकार आगे भी दोनों के शब्दों में कुछ समानता है । अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि देवराज दुर्गाचार्य का स्मरण क्यों नहीं करता ।

यद्यपि देवराज दुर्ग का स्मरण नहीं करता परन्तु देवराज के पूर्ववर्ती षेकटमाधव से उद्धृत उद्गीथाचार्य को दुर्गभाष्य का ज्ञान अवश्य था ।

दुर्गाचार्य

एते देवानां स्वभूताः...स्पशः...
चिह्नयितारः ।...अहश्च रात्रिश्च
उभे च संध्ये...इत्येवमादयः २।२॥

उद्गीथ

एते देवानां स्वभूताः स्पशःचराः
अहश्च रात्रिश्चोभे च संध्ये
इत्येवमादयः । १०।१०८॥

आगच्छान् आगमिष्यन्तीत्यर्थः ।
 आह । कानि । उच्यते । तान्यु-
 त्तराणि युगानि । आगमिष्यन्ति
 तेषु कालाः । न तावत् सांप्रतं
 वर्तन्त इत्यभिप्रायः । येषु किम् ।
 येषु जामयो भगिन्यो भ्रातृणाम्
 अजामियोग्यानि मैथुनसंबन्धानि
 कर्माणि करिष्यन्ति । कलियुगान्ते
 हि तादृशः सकरो भवति । न चेदं
 कलियुगं वर्तत इत्यभिप्रायः ॥३॥२०॥

आ गच्छान् । आगमिष्यन्ति ।
 ता तानि । उत्तरा उत्तराणि ।
 युगानि कालाः । कलियुगान्ते ।
 नेदानीं वर्तन्त इत्यभिप्रायः । यत्र
 येषु कालेषु । जामयः भगिन्यः ।
 कृण्वन् करिष्यन्ति । अजामि
 अमि भर्तृत्वेन नास्ति यस्य तद्-
 जामि । भगिन्या अयोग्ये मैथुन-
 लक्षणं कर्म । ऋग्भाष्य १०।१०।२०॥

इन दोनों वचनों में कितनी समानता है । दोनों ग्रन्थकारों में से एक के मन में दूसरे का ग्रन्थ अवश्य विद्यमान था । और उद्गीथ ही दुर्ग का ध्यान कर के लिख रहा था । यदि कहो कि दुर्ग ने उद्गीथ और स्कन्द आदि से भाव लिया है, तो यह असंभव हो जाता है । दुर्ग ने भी तो स्कन्द का नाम कही नहीं लिखा । कही एक जगह भी 'अन्ये' कह कर स्कन्द की पंक्तियाँ नहीं लिखी ।^१ दूसरी ओर स्कन्द-महेश्वर 'अन्ये' आदि लिख कर बहुधा दुर्ग का लेख उद्धृत करते हैं । देखो स्कन्द लिखता है—

अन्ये 'वालिशस्य वासमानजातीयस्य वा' इति तुल्यत्वात्

१ केवल एक स्थान पर दुर्ग—अपरे पुनः पदप्रकृतिः संहितेति । पदानि प्रकृतिरस्याः सेयं पदप्रकृतिरिति ॥१॥१०॥ ठीक स्कन्द जैसा वचन लिखता है ।

यद्यपि स्कन्द को यही भाव अभिमत था, तथापि दुर्ग ने अपरे कह कर वह पंक्ति स्कन्द से नहीं ली । दुर्ग और स्कन्द दोनों के काल से बहुत पहले प्रस्तुत सूत्र पदप्रकृतिः संहिता के दो अर्थ बलि आ रहे थे । वाक्यपदीय का कर्ता भर्तृहरि भी, जिसे स्कन्द-महेश्वर निरुक्त भाष्य १।२० में उद्धृत करते हैं, दोनों ही अर्थों को दर्शा रहा है—

पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया ॥१॥२०॥

अतः दुर्ग प्राचीन काल से प्रचलित अर्थ को अपरे लिख कर बताता है ।

संहिताया 'असमानजातीयस्य वा' इत्येवमवच्छिन्दन्ति । सा स्त्रीत्वादेव भगिनी भ्रातुरसमानजातीया इत्युच्यत इति व्याचक्षते । ४।२०॥

दुर्ग ग्रहता है—

असमानजातीयो हि पुरुषस्य भगिन्याख्यो धाता । सा हि स्त्रीत्वादेव अतुल्यजातीयैव पुरुषस्य भवति । ४।२०॥

'बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा'

इस वाक्य वाक्य का 'समान जातीयस्य' पाठ महेश्वर को ही सम्मत नहीं था प्रत्युत स्कन्द और उद्गीथ को भी सम्मत था, इसका प्रमाण नीचे दिया जाता है—

जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वा । समानजातीयस्य वा । इति वचनादत्र जामिशब्देन समानजातीय उच्यते । यथा समाना-
देकस्माज्जातस्य । उद्गीथभाष्य-१०।२३।७॥

पुनः स्कन्द निरुक्त १।६॥ के भाष्य में लिखता है—

ये तु शृच्छृङ्गीय खे उद्गन्ताम् इत्येते पाठमाश्रित्यास्येममर्थं व्याचक्षते ।

'शृच्छृङ्गीयैतौ कर्णौ प्रति खे व्यक्ताः सन्तः शश एतावपि घोदगन्तां प्रत्युद्गच्छत इव ग्रहणाय ।

यह वाक्य ठीक दुर्ग का है ।

पुनः स्कन्दमहेश्वर में लिखा है—

सौधन्यना रथकारा निपादशब्दवाच्या इत्यन्ये । ३।८॥

दुर्ग लिखता है—

निपादः । सौधन्यना इत्येके मन्यन्ते । स च रथकारः ।

यदि दुर्ग को उद्गीथ या स्कन्द का पाठ ज्ञात होता तो वह अवश्य दुर्गों का पाठ देता । दुर्ग अपने से प्राचीनों का पाठ वा मत बहुधा देता है । परन्तु

१ देखो दुर्ग १।१५॥ यहाँ ब्रिजका मत दुर्ग ने दिखाया है, उन्हीं का अग्रहण स्कन्द-महेश्वर करता है । तथा ब्रिजहरबलुवर्मा ४।११॥ दुर्ग सम्मत पाठ है । दुर्ग किसी और का पाठ नहीं जानता । स्कन्द दुर्ग सम्मत पाठ का अग्रहण करता है । पुनः देखो दुर्ग ५।२५॥ ६।२॥ ६।१॥ ६।५॥ ६।१४॥ ६।१६॥ ६।२२॥

इन में से एक भी ऐसा स्थान नहीं जिस से यह स्पष्ट प्रतीत हो, कि दुर्ग स्कन्द का स्मरण कर रहा है ।

निरुक्त १।२०॥ का स्कन्दमहेश्वर का भाष्य ऋग्वेद १०।७१।५॥ के उद्गीथ भाष्य से लग भग मिलता है । उद्गीथ वहाँ प्रसन्नवरा निरुक्त १२।१२॥ का पाठ उद्धृत करता है । और दुर्ग भी निरुक्तभाष्य में वही निरुक्त १२।१२॥ का पाठ उद्धृत करता है । ध्यान पूर्वक पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि उद्गीथ के मन में दुर्ग का भाष्य था ।

स्कन्द ऋग्भाष्य और स्कन्दमहेश्वर निरुक्तभाष्य की तुलना

पहले कई ऐसे स्थल बताए जा चुके हैं, जहाँ स्कन्द-महेश्वर का पाठ उद्गीथ के पाठ से प्रायः मिलता है । अब एक ऐसा स्थल लिखा जाता है, जिस के देखने से यह निश्चय होता है कि ऋग्भाष्य और निरुक्तभाष्य के वर्ता वा वर्ताओं का क्या घनिष्ठ संबंध था । ऋग्वेदभाष्य १।६।४॥ का पाठ निरुक्तभाष्य १।५॥ के आदह स्वधा० मन्त्र के भाष्य से बहुत ही मिलता है । दोनों स्थलों में किसी प्राचीन ग्रन्थ का एक ही प्रमाण उद्धृत किया गया है । ग्रन्थविस्तरभय से सारा पाठ यहाँ नहीं दिया गया । परन्तु तुलना कर के विद्वान् स्वयं देख सकते हैं कि महेश्वर ने स्कन्दभाष्य पर टीका नहीं की । वह तो स्कन्द का कोई साथी ही है और उस के पाठों को अधिक परिवर्तन के बिना वर्तता है । निरुक्तवृत्ति २।२२॥ का पाठ ऋग्वेद १०।२७।२३॥ के भाष्य से बहुत ही मिलता है । दोनों भाष्यों के कुछ और स्थान जो मिलते जुलते हैं डाक्टर राज के लेख से देखे जा सकते हैं ।^१

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि महेश्वर देवराज आदि से पुराना है तो उस का स्कन्द और उद्गीथादि से क्या संबंध है ?

महेश्वर स्कन्द, नारायण या उद्गीथ का शिष्य होगा ?

यह ध्येय डा० राज को है कि उन्होंने स्कन्द-महेश्वर के निम्नलिखित तीन पाठों की ओर सब से पहले विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया ।^२

1. Proceedings and Transactions of A. I. O. C. Lahore, 1928. Vol. II. PP. 252—253.

2. तथैव P. 253.

(१) उपाध्यायस्त्वाह—अनेकार्थत्वाद्भातूनां महदेवार्थस्य वक्तेर्वा बहतेर्वा साभ्यासस्येदं रूपम् । नि० वृत्ति ३।१३॥

(२)महांस्त्वं भवसि तत्र समिध्यमान इति शेषः । इत्युपाध्यायव्याख्यानम् । नि० वृत्ति ३।१३॥

३) एवम् उपाध्यायेन यदि वेति तुल्यायां संहितायां यदिनि इकारान्तं वेति वेति एव रूपद्वयमपोद्धृत्य व्याख्यातम् । नि० वृत्ति ७।३

इन में से प्रथम वचन जिस मन्त्र पर है, उसके उपयोगी अंश का स्कन्द का व्याख्यान इस प्रकार है—

‘वचस्त्रिध’ इत्यपि यद्यपि वक्तेर्वा बहतेर्वा साभ्यासस्य रूपम् । तथापि ‘विचस्त्रिध विवक्षस’ इति महन्नामसु पाठात् बहनयचनयो-
व्यासम्भवात् अनेकार्थतया धात्वन्तराणामपि प्रसिद्धत्वात् वचश्चति-
महद्भावाः । स्कन्द ऋग्भाष्य १।१६४।३७॥

निरुक्तइति का तीसरा अध्याय स्पष्ट महेश्वर विरचित कहा गया है ।^१
पूर्वोक्त प्रथम वचन उसी में आया है । और वह स्कन्द के ऋग्भाष्य से बहुत मिलता जुलता है । इस से प्रतीत होता है कि महेश्वर उद्गीथ या स्कन्द को अपना उपाध्याय मानता था ।

महेश्वर के प्राचीन होने में एक और प्रमाण

निरुक्तइति ३।१६॥ में महेश्वर लिखता है—

तथा च चूर्णिकारः पठति ।^२

इस से आगे पातञ्जल महान्याय का एक पाठ उद्धृत है । चीनी यात्री ह्वेनत्संग के लेख से हम जानते हैं कि सातवीं शताब्दी में भी भाष्यकार पातञ्जलि की कृति को चूर्णिकारी ही कहते थे । अरबीकाल में यह नाम बहुत कम प्रयुक्त हुआ है । अतः इस नाम के प्रयोग से भी यह अनुमान हो सकता है कि महेश्वर नया व्यक्ति नहीं है ।

१ इसी अध्याय के सयह १० में दुर्गा और उद्गीथ के अर्थ का बिना नाम लिखे स्पष्टन किया गया है ।

२ तुलना करो मेगास्थिनी के लेख से । मनु ५।१५८॥ पर भाष्य करने हुए वह लिखता है—उक्तं च चूर्णिकाकारेण ।

इस विषय जब निरुक्तवृत्ति के कुछ अध्यायविशेष स्कन्दप्रणीत लिखे जा रहे हैं और दूसरे अध्यायविशेष महेश्वर प्रणीत, तो इस बात के मानने में सन्देह नहीं होगा चाहिए कि जो अध्याय जिस आचार्य के नाम से हैं वह उसी का रचा हुआ है । एक हस्तलिख के दो अध्यायों के अन्त में शय्यर का नाम कैसे आ गया, यह हम नहीं कह सकते ।

महेश्वर के पिता का नाम पितृशर्मा था । यह बात निम्नलिखित श्लोक में उक्त ने स्वयं कही है—

निरुक्तमन्त्रभाष्यार्थपूर्ववृत्तिसमुच्चयः ।

महेश्वरेण रचितः सूनुना पितृशर्मणः ॥

इस श्लोक के पूर्वार्थ का अर्थ पूर्णतया स्फुट नहीं हुआ ।

स्कन्द का निवास आदि

आचार्य स्कन्द बलभी का रहने वाला था । ऋग्वेदभाष्य के प्रथमाष्टक के प्रथम अध्याय श्री सनाति पर यह लिखता है—

बलभीविनिवास्येतामृगार्थागमसंहतिम् ।

भर्तृध्रुवसुतश्चके स्कन्दस्वामी यथास्मृति ॥

स्कन्द भाष्य के चतुर्थाष्टक के अन्त में भी यही श्लोक विद्यमान है । इस से ज्ञात होता है कि स्कन्द स्वामी बलभी का रहने वाला था ।

ऋग्वेदभाष्य के अध्यायों के अन्त के पूर्वोद्धृत स्कन्द के लेख से यह भी जाना जाता है कि स्कन्द के पिता का नाम भर्तृध्रुव था । डॉ० राज का अनुमान है कि बलभी का राजा ध्रुवसेन ही कदाचित् भर्तृध्रुव हो । इस अनुमान के मानने के लिये मुझे अभी तक कोई प्रबल प्रमाण नहीं मिला ।

स्कन्द स्वामी का ऋग्वेदभाष्य

आचार्य स्कन्द का ऋग्वेदभाष्य याज्ञिक मतानुसारी है । इस के प्रत्येक सूक्त के आरम्भ के भाष्य में प्राचीन अनुक्रमणियों के श्रुति और देवता के बोध कराने वाले श्लोकार्थ अथवा श्लोकों के पाद पाए जाते हैं । यह अनुक्रमणियाँ

शौनक प्रणीत होंगी । स्कन्द वेदार्थावबोध में छन्दोज्ञान को अनुपयुक्त मानता है । वह लिखता है—

न छन्दः । अनुपयुज्यमानवचनत्वादिति ।

निषण्ड, निरुक्त, बृहदेवता, शौनकोक्त वचनों और ब्राह्मणग्रन्थों के प्रमाणों से यह भाष्य सुभूषित है । स्मरणं, स्मृतिः, स्मरन्ति लिख कर प्रायः मनुस्मृति के प्रमाण ही दिए गये हैं । चतुर्भाष्टक के अष्टमाध्याय के तीसरे वर्ग की दूसरी और तीसरी ऋचा के भाष्य में शाकपूषि के निरुक्त से प्रमाण दिया गया है । अ० १।८।७॥ के भाष्य में केचित् लिख कर सम्भवतः किसी प्राचीन वेदभाष्यकार का उल्लेख किया गया है । अ० ६।४७।२६॥ अथवा अष्टक ४।७।२४॥ के भाष्य में विष्टितं जगत् पदों के सम्बन्ध में निम्नलिखित वचन है—

केचित्तु-विष्टितशब्द स्थावरवचनः जगदित्येतेन समुच्चीयते स्थावरं जङ्गमं च बुध्यतामिति-पयं व्याचक्षते ।

इस से सम्भवतः किसी प्राचीन ऋग्भाष्य का ही पता मिलता है । यद्यपि यह मंत्र निरुक्त ६।१२॥ में भी है, पर वहाँ यास्क का व्याख्यान और प्रकार से है । उर्ग व्याख्यान में भी मन्यताम् अर्थ है, बुध्यताम् नहीं । अतः स्कन्द का संकेत किसी निरुक्तभाष्य की ओर कदाचित् ही हो सकता है ।

सायण का ऋग्वेदभाष्य बहुत स्थलों में इस भाष्य की छायामात्र है ।

स्कान्द ऋग्भाष्य के हस्तलेख

स्कान्द के ऋग्वेदभाष्य के जो हस्तलेख अब तक मिले हैं, उनमें प्रथम-

१—जो आर्षानुक्रमणि शौनक के नाम से राजेन्द्रलाल मिश्र ने प्रकाशित की थी, वह अर्थाचीन है । पद्मशशिष्य आदि ग्रन्थकार जो श्लोक शौनकोक्त आर्षानुक्रमणि से उद्धृत करते हैं, वे इस में नहीं मिलते ।

२—इस भाष्य का खण्डन जयतीर्थ करता है । उस का संकेत स्कन्द की ओर ही प्रतीत होता है । उस का वचन यह है—

एतेन छन्दोज्ञानमनुपयुक्तमिति कस्यचिन्मतं निराकृतं भवति । ऋग्भाष्य एव १३ क ।

एक सम्पूर्ण मिलता है। द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पञ्चमाष्टक के कुछ अंश ही हैं। चतुर्थाष्टक के अन्त में लिखा है कि ३२वें अध्याय पर स्कन्दस्वामी का भाष्य समाप्त हुआ। इस से इतना निश्चित होता है कि चतुर्थाष्टक तक तो स्कन्दभाष्य था ही। अगले पन्नों पर मसहल ६।७५।६५ तक का भाष्योपशेष है। इस भाष्य के हस्तलेख त्रिवन्दरम, अम्बार, और राजकीय पुस्तकालय मन्त्रालय में हैं।

पं० साम्बशिव शास्त्री के संस्करण का प्रथम सम्पुट अब तक प्रकाशित हुआ है। उस में सम्पादन के बहुत दोष हैं। उदाहरणार्थ पृ० ६१, ६४ और १३२ पर निरुक्त २।३। का एक प्रसिद्ध पाठ तीन प्रकार से दिया है। सम्पादक को वैदिक वाङ्मय का ज्ञान प्रतीत नहीं होता। इस भाष्य की अक्षरपूर्वक सम्पादन करने की बड़ी आवश्यकता है।

२—नारायण (लगभग संवत् ६८७)

इस ग्रन्थ के पृ० ४ पर बेट्टमाधव के आम्भाष्य का जो श्लोक उद्धृत किया गया है उस से हम जानते हैं, कि नारायण स्कन्दस्वामी का एक सहकारी था। नारायण के भाष्य का अवलोकन अभी तक मैं ने नहीं किया। पं० साम्बशिव शास्त्री के पाग जो कृ बिह का हस्तलेख है, उस में सप्तमाष्टक पर भी कुछ भाष्योपशेष मिलता है। परन्तु पञ्चमाष्टक का केवल प्रथम अध्याय ही है। और षष्ठाष्टक नहीं मिला। बहुत सम्भव है पाँचवाँ और छठा अष्टक नारायण कृत भाष्य वाले हों।

डाक्टर राज का अनुमान है कि यह नारायण सामविद्वरुणकार माधव भट्ट का पिता हो सकता है।^१ उन्हीं के विचार का अनुवाद पं० साम्बशिव शास्त्री के उपोद्घात में मिलता है—

१—बहुत लिखने पर भी उक्त महाशय का तत्सम्बन्धी लेख मुझे नहीं मिल सका। किसी न किसी कारण से वे इसे मेरे पास भेजने में असक्त रहे हैं। परन्तु यह बात उन्होंने सन् १९२६ के दिसम्बर मास के अन्त में स्वयं मुझे कही थी। वह तब मौजल टाउन में मेरे अतिथि थे।

स्कन्दस्वामिसहचरनारायणपण्डितस्य सुतत्वेन सम्भावि-
तस्य माधवपण्डितस्य कृतौ सामवेदव्याख्यायाम् उपक्रमे—

ॐ श्रीगणपतये नमः ॐ नमः सामवेदाय, इत्युक्त्या—

रजोजुषे जन्मनि सख्यवृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रसूये तमःस्पृशे ।

अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे प्रथीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥

इति मंगलकरणदर्शनात् महाकवियाणभट्टस्यानुप्रदीता
तत्परमाचार्यो वा सोऽयं माधवपंडितः प्रत्येतद्व्यः । सति चैवमदसी-
यमेव सामवेदव्याख्याग्रन्थगतः मंगलपद्यं स्वकीयकादम्बर्यामपि
तदनुग्रहस्मरणकृते बाणभट्टेन तथैवानूदितं शक्यमभ्यूहितुम् ।
सामवेदव्याख्याता प्रौढो माधवपण्डितः सर्वमान्यध्रीस्कन्दस्वामीय-
श्रृंगभाष्यगताम्—“एते सर्वे प्रयोगकाले स्वार्थं प्रतिपादयन्तः
कर्मणोऽङ्गत्वं मतिपद्यन्ते” इत्यादियाक्यपद्धतिमिव कस्यापि कवेः
काव्यगतं ‘रजोजुषे’ इत्यादिमंगलपद्यं स्वग्रन्थेऽनूदितवानिति कल्पना
तु न लोदक्षमा, ग्रन्थस्यापकर्षापेक्षेः । अतः किस्त्वध्वीयसत्तम-
शतकपूर्वार्धवर्तिनो बाणभट्टादनर्वाचीनस्य माधवपण्डितस्य
जनकसहचरः स्कन्दस्वाम्याचार्यः गतः प्राक्तन एव शक्यः
स्थापयितुम् इति ।

इस का अभिप्राय यह है कि बाणभट्ट ने ही सामवेदभाष्यकार माधवभट्ट
से अपनी कादम्बरी का मङ्गलश्लोक लिया है । अतः बाण से पुराना माधवभट्ट
सम्भवतः स्कन्द के सहचर नारायण का पुत्र था ।

सम्भव है यह अनुमान ठीक हो, परन्तु इस को पूर्णतया सिद्ध करने के
लिये अभी प्रयत्नविशेष की आवश्यकता है । हाँ, इतना और भी सत्य है कि
माधवभट्ट के सामवेदभाष्य की प्रस्तावना स्कन्दस्वामी के श्रृग्वेदभाष्य की
प्रस्तावना का स्वल्पभेद से रूपान्तर ही है ।^१

माधवभट्ट अत्यन्त संक्षिप्त रूप से अपना परिचय देता है । अतः वह
किं नारायण का पुत्र था, यह जानना कठिन है । माधव का लेख इतना ही है—

पञ्चाग्निना माधयेन धीनारायणसूनुना सधितुः परां
भक्तिमालम्ब्य तत्प्रसादाद् भाष्यं कृतम् ।

इस नारायण के अतिरिक्त तीन और नारायण हैं, जिनका नाम श्रुग्वेद
सम्बन्धी वाङ्मय में मिलता है । उनका उल्लेख आगे किया जाता है ।

आश्वलायन धीतवृत्तिकार नारायण

यह नारायण नरसिंह का पुत्र और गर्गगोत्री था । इस ने भगवान्
देवस्वामी के विस्तीर्ण भाष्य को देख कर अपनी वृत्ति लिखी थी । ये बातें यह
स्वयं अपनी वृत्ति के प्रारम्भिक श्लोकों में लिखता है—

आश्वलायनसूत्रस्य भाष्यं भगवता कृतम् ।

देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं सद्नाकुलम् ॥३॥

तत्प्रसादान्मयेदानीं क्रियते वृत्तिरीदृशी ।

नारायणेन गार्ग्येण नरसिंहस्य सूनुना ॥४॥

यह नारायण कितना पुराना है, यह हम नहीं कह सकते । श्रीपाण्डुरत्न
वामन काणे ने प्रो० भण्डारकर के आधार पर लिखा है कि यह नारायण त्रिकाण्ड
मण्डन में उद्धृत है ।^१ मुद्रित त्रिकाण्ड मण्डन में इस नारायण या इस की
वृत्ति का नामोल्लेख भी हमें नहीं मिला । हाँ, उसकी टीका में तो नारायण
उद्धृत है । परन्तु यह टीका बहुत नवीन है ।^२ बेलङ्कर महाशय का विचार है
कि इस नारायण को बौधायन प्रयोगसार का वर्ता केशवस्वामी उद्धृत करता
है ।^३ और यही नारायण अनेक धीतप्रयोगों का कर्ता है ।^४ हमारे विचार में
ऐसा मानने के लिये अभी कोई प्रमाण नहीं है । अतः इस नारायण के काल के
सम्बन्ध में अभी कुछ विशेषरूप से नहीं कहा जा सकता । हमारा अनुमान मात्र
है कि यह नारायण गृह्यविवरणकार से पहले का होगा ।

१—History of Dharmasastra पृ० २८१ ।

२—देखो, बेलङ्कर Descriptive catalogue of S. and P.
Mss. B. B. R. A. S. Vol. II. पृ० २१८ संख्या ६८६।

३—तथैव पृ० १६८ संख्या ५०८ ।

४—तथैव पृ० १८३ संख्या ५७३।

आश्वलायन गृह्यविवरणकार नारायण

गृह्यविवरणकार नारायण श्रौतवृत्तिकार नारायण से भिन्न प्रतीत होता है। उसके विवरण का आरम्भिक श्लोक यह है—

आश्वलायनमाचार्यं प्रणिपत्य जगद्गुरुम् ।

देवस्वामिप्रसादेन क्रियते वृत्तिरीदृशी ॥

अर्थात् यह गृह्यवृत्ति भी देवस्वामी के भाष्य के आधार पर लिखी गई है।

विवरण की समाप्ति पर ये दो श्लोक और मिलते हैं—

आश्वलायनगृह्यस्य भाष्यं भगवता कृतम् ।

देवस्वामिसमाख्येन विस्तीर्णं तत्प्रसादतः ॥

दिवाकरद्विजधर्यसूनुना नैधुयेण वै ।

नारायणेन विमेष्य कृतेयं वृत्तिरीदृशी ॥

अर्थात् दिवाकर शर्मा के पुत्र नारायण ने जो मैथुनगोत्री था, देवस्वामी के विस्तीर्ण भाष्य के अनुसार यह वृत्ति लिखी। पूर्वोक्त श्लोकों में इस ग्रन्थ की वृत्ति लिखा गया है, परन्तु अध्यायों के अन्त में इसे विवरण कहा गया है। इन श्लोकों के देखने से यह भाव उत्पन्न होता है कि गृह्यविवरणकार नारायण श्रौतवृत्तिकार नारायण से अर्थात् भिन्न है। उसके श्लोक श्रौतवृत्तिकार के श्लोकों की छायामान है। यह उचित प्रतीत नहीं होता कि श्रौतवृत्तिकार गृह्यविवरणकार का इन श्लोकों के लिखने में अनुकरण करे।

यह गृह्यविवरणकार नारायण संवत् १३२३ से पहले का है। रेणुदीक्षित जितने पारस्करगृह्य पर अपनी कारिका लिखी है और जो उस कारिका के अन्त में अपनी तिथि ११८८^१ शके देता है, वह सीमन्तोन्नयन संस्कार के प्रसंग में लिखता है^२—

सीमन्तोन्नयनं कर्म न स्त्रीसंस्कार इष्यते ॥ १४ ॥

केचिच्च गर्भसंस्काराद्गर्भं गर्भं प्रयुज्जते ।

१—देखो, सूची India Office, part 1 पृ० ९८ ।

२—दयानन्द कॉलेज का दस्तलेख पत्र ६ ।

स्त्रीसंस्कारसमाख्यातादिति नारायणोऽब्रवीत् ॥१५॥१२॥

अर्थात् कई ग्रन्थकार प्रति गर्भ समय सीमन्तोन्नयन मानते हैं, वे इसको स्त्रीसंस्कार नहीं मानते, परन्तु नारायण इसे स्त्रीसंस्कार ही मानता है, और इसकी प्राप्ति प्रति गर्भ में नहीं मानता ।

रेणु का संकेत इसी आश्वलायनगृह्यविवरणकार को ओर है । इसी की शक्ति में १।१४।१॥ सूत्र पर निम्नलिखित वाक्य मिलते हैं—

इदं कर्म न प्रतिगर्भमावर्तते । स्त्रीसंस्कारत्वात् । न त्वयं गर्भसंस्कारः.....सीमन्तोन्नयनमिति समाख्या यत्नात् । आधारस्य च संस्कृतत्वात् ।

यहीं से लेकर रेणु ने समाख्या शब्द का प्रयोग अपनी कारिका में किया है ।

शांखायनगृह्यभाष्य का कर्ता नारायण

इसके भाष्य का नाम गृह्यप्रदीपक है । इसने अपना भाष्य संवत् १६२६ में बनाया था । यह बात इस के भाष्य से स्पष्ट है ।^१

इन तीनों नारायणों में से तीसरा तो बहुत अर्थाचीन है । नैघ्रव नारायण भी गार्य नारायण का अनुकरण करता हुआ प्रतीत होता है । अतः इनमें से यदि किसी नारायण पर स्कन्द के सहकारी भाष्यकर्ता होने का सन्देह हो सकता है, तो वह श्रौतशक्तिकार नारायण ही है । परन्तु अधिक सामग्री के अभाव में सुनिश्चितरूप से अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता ।

३—उद्गीथ (लगभग संवत् ६८७)

वेङ्कटमाधव के लेखानुसार स्कन्दस्थानी का तीसरा सहकारी उद्गीथ था । उद्गीथभाष्य का हस्तलेख संवत् १६२६ में मुझे मिला था । परन्तु उद्गीथ का परिचय इस से पहले भी विद्वानों को था । सायण श्रुगभाष्य १०।४६।५॥ पर ओर आत्मानन्द अपने अस्थवामीय सूक्त के भाष्य^२ में इसका उल्लेख

१—देखो अलवर का सूचीपत्र पृ० २ और उसी के extracts पृ० १, २।

२—मुलना करो H. A. S. L. मैक्समूलर कृत, संवत् १८६०, पृ० २४० ।

तथा बड़ोदा का सूचीपत्र, भाग १, पृ० १०४ ।

करते हैं।

उद्गीथभाष्य का जो हस्तलेख हमें मिला है वह ऋग् १०।५।७॥ से लेकर १०।५३।५॥ का भाष्य है। मध्य में भी कतिपय मन्त्रों का भाष्य लुप्त है।

इस भाष्य में निम्नलिखित विशेषताएं मैंने अब तक देखी हैं—

(क) ऋग्वेद १०।६॥ के अन्त में सद्युगीस्तदपसो मन्त्र को सकल पाठ में देकर उद्गीथ उसका भी भाष्य करता है। वह लिखता है—

अग्नेयस्या वै सैलिष्येया ।

परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिए कि प्रस्तुत हस्तलेख में तीन चार अंश स्थानों पर मूल मन्त्रों का भी सकलपाठ मिलता है।

(ख) ऋग्वेद १०।२७।२५॥ के भाष्य में उद्गीथ ने

मास्मेताहक् के मा । अस्मै । ताहक् ।

पद पड़े हैं। दुर्ग का पदविच्छेद निट० ५।१६॥ के व्याख्यान में उद्गीथ समान ही है। स्कन्द-महेश्वर का पाठ शाकल्यनुसारी है। परन्तु इसमें हमें सन्देह है।

(ग) उद्गीथ पुराने भाष्यकारों का बहुत कम स्मरण करता है। केवल १०।४५।२॥ के भाष्य में इति केचित् कह कर किसी प्राचीन भाष्यकार की ओर संकेत करता है।

(घ) उद्गीथ भाष्य भैक्षसमूह पर सम्पादित श्रुक्सायण भाष्य के शुद्ध करने में बड़ी सहायता देता है। जैने, ऋ० १०।५।५॥ पर भाष्य करते हुए उद्गीथ लिखता है—

श्रुताय उक्कार्थं भौमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

भैक्षसमूह पर सम्पादित सायण पाठ इस प्रकार है—

श्रुताय सोमरसलक्षणस्योदकस्यादानार्थम् ।

अब विचारणीय है कि जल भौमरसलक्षण तो हो सकता है, परन्तु सोमरसलक्षण नहीं। अतः सायणभाष्य का भैक्षसमूह पर स्वीकृत पाठ शुद्ध हो जाना चाहिए। देवराज यजुषा भी निषण्डभाष्य १।३।२५॥ में उद्गीथ प्रदर्शित पाठ का ही समर्थन करता है। वस्तुतः सायण को भी यही पाठ अभीष्ट था ।

इसी प्रकार ऋग्वेद सायण भाष्य १०।१५।११॥ में प्रयत्नानि का सूचि अर्थ मैक्समूलर ने अपने संस्करण में माना है । सूचि पाठ वस्तुतः अशुद्ध है । यहां पर शुचीनी चाहिए । उद्गीथ का पाठ ऐसा ही है और मैक्समूलर का C^१ कोश भी इसी शुद्ध पाठ का समर्थक है ।

(क) सायण भाष्य जहां जहां प्रुटित अथवा दूषित हो गया है, वहां उद्गीथ भाष्य की सहायता से पाठ जाने जा सकते हैं । जैसे ऋ० १०।१०।१०॥ १०।१५।१५॥ १०।१२।१२॥ इत्यादि में ।

सायण ऋग्वेद भाष्य के मुम्बई संस्करण के सम्पादकों ने जहां स्वल्पना से प्रुटित स्थानों की पूर्ति की है, वह भी उद्गीथभाष्य के पाठ से बहुत सफुट हो जाती है । जैसे ऋ० १०।१७।६॥ का सारा सायण भाष्य इन्हीं सम्पादकों की कल्पना का फल है ।

(ख, उद्गीथ निरुक्त १३।१३॥ के पाठ का अंश ऋ० १०।७।१५॥ के भाष्य में लिखता है ।

(ग) ऋ० १०।१६।११॥ में उद्गीथ बृहदेवता का नाम स्मरण करता है । परन्तु १०।७।११॥ के भाष्य में देवतानुकमणी के नाम से एक पाठ देता है, जो बृहदेवता ७।१०।१॥ का पाठ है । सम्भव है कि बृहदेवता ने यह पाठ देवतानुकमणी से लिया हो या उद्गीथ ही बृहदेवता को देवतानुकमणी कह रहा हो ।

(घ) ऋ० १०।१०।१५॥ के पश्चात् उद्गीथभाष्य में सूक्तों का एक नया विभाग है । हम नहीं कह सकते कि यह विभाग किस शाखा का था ।

(ङ) निरुक्त के भाष्यकार दुर्ग, और स्कन्द-महेश्वर तथा निघण्टु भाष्यकार देवराज और नैरुक्त वंग का भाष्यकार बरदधि, ये चार निरुक्त को भाष्य और यास्क को भाष्यकार लिखते हैं । परन्तु उद्गीथ भी ऋ० १०।१७।१३॥ के व्याख्यान में भाष्य लिख कर निरुक्त २।५॥ की पंक्ति उद्धृत करता है ।

उद्गीथ का पूरा नाम आदि

आचार्य उद्गीथ अपने भाष्य में अध्यायों की संज्ञाति पर निम्नलिखित प्रकार का वाक्य पढ़ता है—

घनवासी विनिर्गताचार्यस्य उद्गीथस्य कृता ऋग्वेदभाष्ये
चतुष्पञ्चाशोऽध्यायः समाप्तः ॥

यदि वनवासी पाठ को स्कन्द के बलभीविनिवासी पाठ का टूटा हुआ अंश माना जावे तो इस वाक्य का यह अर्थ होगा—

विनिर्गत अर्थात् कहीं बाहर से आकर बलभी में रहने वाले आचार्य उद्गीथ का भाष्य ।

उद्गीथ का भाष्यक्रम

उद्गीथ का भाष्य स्कन्दभाष्य के समान याज्ञिक पञ्चयनुसार पूरे विस्तार से लिखा गया है । परन्तु सूक्तों के आरम्भ में स्कन्द के समान उद्गीथ आर्षानुक्रमणी को उद्धृत नहीं करता । वह तो अपि देवता सम्बन्धी ज्ञान अपनी संस्कृत में लिख कर ही संतुष्ट रहता है ।

४—हस्तामलक (लगभग संवत् ७५७)

हस्तामलक शंकराचार्य के प्रसिद्ध चार शिष्यों में से एक था । कवीन्द्राचार्य के पुस्तक-भण्डार के सूचीपत्र में उसे भी ऋग्वेद का भाष्यकार लिखा गया है ।^१ इसके ऋग्वेदभाष्य की सूचना अन्यत्र कहीं नहीं मिलती । कहते हैं यह हस्तामलक प्रभाकरमिश्र का पुत्र था ।^२ परन्तु इस बात को सुनिश्चित करने के लिये अभी प्रचल प्रमाणों की आवश्यकता है । इसका काल संवत् ७५७ के समीप ही रहना पड़ेगा ।^३

कहते हैं हस्तामलक आश्वलायन शास्त्रीय ब्राह्मण था, अतः सम्भव हो सकता है कि उसने ऋग्वेद का भाष्य रचा हो ।

५—वेङ्कटमाधव (लगभग संवत् ११००-१२००)

काल

(१) आचार्य तादण (११७२-१४४४ सं०) ज० १०।८९।११ के भाष्य

१—गायकनाथ प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला, संख्या १७, पृ० ११ ।

२—देसो, जर्नेल आफ ओरिएण्टल रिसर्च मद्रास, सन् १९२६ पृ० ४६ ।

३—देसो, महाराज चिन्तामणि का लेख The date of Sri Sankaracarya

जर्नेल आफ ओरिएण्टल रिसर्च मद्रास, सन् १९२६ पृ० १६-५६ ।

में लिखता है—

माधवभट्टास्तु-चि हि स्रोतोरित्येवर्गिन्द्राण्या वाक्यमिति
मन्यन्ते ।

अर्थात्—माधवभट्ट ऋ० १०।८६।१॥ को इन्द्राणी का वाक्य मानता है ।
इस से आगे इसी ऋचा पर सायण माधवभट्ट का भाष्य उद्धृत करता है । यह
उद्धरण बेट्टमाधव के भाष्य में मिलता है ।^१ इस से निश्चित होता है कि
बेट्टमाधव सायण से पहले हो चुका था ।

(२) निषण्ण भाष्यकार देवराजयज्वा (सं० १३७० के निकट) सायण का
पूर्ववर्ती है । डा० स्वरूप^२ का और मेरा^३ ऐसा ही मत है । इसके विपरीत डा०
राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्ती है । डा० राज लिखता है^४—

“I find that some passages cited by Devaraja from
Madhava are seen in Sayana.....”

“Devaraja gives passages from Madhava which are not
in Venkatamadhava, which are opposed to the explana-
tions in Venkatamadhava, and which are seen verbatim
in Sayana.”

अर्थात्—देवराज ने माधव के नाम से जो प्रमाण दिए हैं, उन में से कई
सायणभाष्य में अक्षरशः मिलते हैं ।

इस से आगे डा० राज ने देवराज से सात ऐसे प्रमाण दिए हैं, जो
बेट्टमाधवभाष्य में नहीं मिलते, परन्तु सायणभाष्य में ठीक वैसे ही मिलते हैं ।

१—देखो, डा० स्वरूप के Indices and Appendices to the Nirukta
1929. पृ० ११, १२ । डा० स्वरूप ने बेट्टमाधव का एक ही हस्तलेख देखा
था । अधिक ग्रन्थों को देखने से यह पाठ सायणोद्धृत पाठ से बहुत मिला
जाता है ।

२—निरुक्त, preface, पृ० २५-२७ ।

३—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग द्वितीय, पृ० ४५ ।

४—Proceedings, Fifth Indian Oriental Conference पृ० २२६ ।

डा० राज की प्रतिष्ठा और तदर्थ दिए गए हेतुओं की परीक्षा

अपनी प्रतिष्ठा को सिद्ध करने के लिए डा० राज ने जो प्रमाण दिए हैं उन सब का आधार सत्यमत का संस्करण है। सैद से कहना पड़ता है कि सत्यमत का संस्करण अत्यन्त असन्तोषजनक है। सत्यमत के पास पर्याप्त सामग्री नहीं। अतः उसके सम्पादित पाठों में किसी बात का निर्णय करना अपने को भ्रम में डालना है। हमारे पास देवराजकृत निषण्डभाष्य के बहुत से भाग का एक पर्याप्त पुराना हस्तलेख है। यह कम से कम ४०० वर्ष पुराना होगा। इन ग्रन्थ का उस से अधिक पुराना हस्तलेख अभी तक भरे देखने में नहीं आया। उसी के प्यान पूर्वक देखने से सत्यमत के संस्करण की नितान्त अश्रमाणिकता सिद्ध होती है। देखिए, उसके मिलाने से हमारे कथन की सत्यता प्रमाणित होती है—

(क) मुद्रित निषण्डभाष्य २।५।८॥ के अनुसार अ० ४।६।८॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है—

‘अथर्यो न स्त्रियः इय’ इति माधवः ।

ठीक वही पाठ सायणभाष्य में मिलता है।

बेङ्कटमाधव का पाठ है—

अथर्यस् स्त्रियः ।

यह सत्य है कि यदि सत्यमत का निषण्डभाष्य का संस्करण देवराज का वास्तविक पाठ होता तो डा० राज का पक्ष स्वीकार करना पड़ता, परन्तु उन अनेक कोशों को देखने से जिनके आधार पर पं० शुचिमत एम० ए० लाहौर में निषण्डभाष्य का नया संस्करण बना रहे हैं, मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि इस स्थान पर मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं है। हमारे अपने हस्तलेख तथा इण्डिया आफिस के हस्तलेख E ४४६ में—

अथर्य स्त्रिय इति माधवः ।

यह पाठ है। यह पाठ ठीक बेङ्कटमाधव का पाठ है। देवराज अथर्यः पद में विसर्ग का लोप करता है।

अब डा० राज के धुँरेर हेतु की परीक्षा होती है ।

(ख) मुद्रित निषण्डभाष्य १।१४।१८॥ में ऋ० ६।६७।२४॥ का प्रमाण देकर देवराज लिखता है—

मांश्चत्वः । मन ज्ञाने । पदस्य न-लोपाभावः पृषोदरादित्यात् ।
‘महीमे अस्य वृषनाम शूये मांश्चत्वे वा पृशने वा यधत्रे (ऋ० सं०
७,४,२१,४)’—इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम्—‘मही महती, इमे,
अस्य सोमस्य, शूये सुखकरे भवतः । ये च कर्मणी मांश्चत्वे । अश्व-
नामैतत् । मनु चरतीति । अश्वैः क्रियमाणे युजे बाहुयुजे, यधत्रे
शत्रूणां हिंसनशीले भवतः । सोऽयं मत्स्यापयच्छत्रून् स्नेहयच्च ।
स्नेहनं प्रद्रावणम् । अथ प्रत्यक्षकृतः ।

यह सत्य है कि यहाँ का मन्त्र भाष्य सायणभाष्य से बहुत मिलता है ।
परन्तु यह भी सत्य है कि मुद्रित पाठ देवराज का पाठ नहीं है । देखिए, हमारे
हस्तलेख में देवराज का कैसा पाठ है ।

मांश्चत्वः । मन ज्ञाने कृष् । चततिर्गतिकर्मा । इणशीङ्भ्यां
घञिति यन् प्रत्ययो बाहुलकाद्भवति । मन्यमानो ऽश्वपालस्यैगितं
गच्छति मांश्चत्वः । समासे पूर्वपदस्य न-लोपाभावः । पृषोदरादित्यात् ।
महीमे अस्य वृषनाम शूये मांश्चत्वे वा पृशने वा यधत्रे—इत्यत्र
माधवस्य प्रथमभाष्यम् । महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्पणमने
शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनमश्वैः क्रियमाणे युजे बाहुयुजे शत्रूणां
हिंसनशीले ये भवतः सोयमत्स्यापयच्छत्रून् स्नेहयच्च । स्नेहणं प्रद्रावणं ।
अथ प्रत्यक्षः ।^१

लेखकप्रमाद से जो अशुद्धियाँ इस पाठ में प्रविष्ट हो गई हैं, उनको
शोध कर देखने से मुद्रित पाठ से यह पाठ बड़ा उद्भूत प्रतीत होता है । सत्यव्रत
के पाठ में पहले तो दो पंक्ति का पाठ ही लुप्त है और आगे मन्त्रभाष्य सायण
के अनुकूल बनाया गया है । स्पष्ट ज्ञात होता है कि सत्यव्रत ने निषण्डभाष्य के

१—यह पाठ अन्तिम मूक में पं० शुचिव्रत के इण्डिया जाफिस के दो अन्य
कोशों से भी रोपा गया है ।

जो दो पूर्ण वा अर्धित हस्तलेख वर्तते हैं, उनमें से पूर्णकोश में किसी ऐसे शोधक का हाथ है जिसके पास माधवसायण का भाष्य था। वेङ्कटमाधव के भाष्य से अपरिचित होने के कारण अपना अपने मूल के बहुधा अर्धित होने के कारण से उसने कई स्थलों पर माधव का नाम देखकर सायण-माधव का भाष्य समानिष्ठ कर दिया है। अब हमारे कोशानुसारी देवराज के पाठ से वेङ्कटमाधव के पाठ की तुलना कीजिए। वेङ्कटमाधव का पाठ मैंने अपने पुस्तकालय के मूल कोश से, पञ्जाब यूनिवर्सिटी के मूल कोश से तथा मद्रास के कोश की प्रति से शोधकर लिया है।

श्रु० ६।६७।१४॥ पर वै० माधव का भाष्य

महीमे अस्य—महती इमे अस्य सोमस्य सुखकरे वर्षणमने शराणां वर्षणं शत्रूणां नमनं श्रुतैः क्रियमाणे युद्धे। अपि वास्पर्शन-साध्ये यादुयुद्धे। शत्रूणां हिंसनशीले ये भवतः। सोयमस्वापयच्छत्रुन् स्नेहयन्। स्नेहयं प्राद्रवणम्। अथ प्रत्यक्षः।

यह पाठ देवराज के पाठ से आश्चर्यजनक रीति से मिलता है। और यदि देवराज-कृतभाष्य और वेङ्कटमाधवकृतभाष्य सुतन्त्रादित हो जाएं तो एक दो स्थलों का स्वल्पभेद भी न रहेगा। इससे यह सिद्ध होता है कि देवराज इन स्थलों पर वेङ्कटमाधव के भाष्य को ही उद्धृत करता है।

डा० राज के दिए हुए दूसरे हेतुओं की भी यही अवस्था है। विस्तरभय से उन सबकी विवेचना यहां नहीं की गई। देवराज के शोधित ग्रन्थ का माधव के नाम से उद्धृत हुआ हुआ जो पाठ वेङ्कटमाधव के इस भाष्य में नहीं मिलता वह वेङ्कटमाधव के दूसरे भाष्य में मिल जाता है। इसका उल्लेख आगे किया जाएगा। इतने लेख से यह निष्णीत होता है कि डा० राज की प्रतिष्ठा सत्य-हेतु-रहित होने से निराधार है। अतः देवराज सायण का पूर्ववर्ती ही है।

देवराज वेङ्कटमाधव को उद्धृत करता है

देवराज अपने निष्पट्टभाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

श्रीवेङ्कटाचार्यतनयस्य माधवस्य भाष्यकृतौ नामानुक्रमण्यः
पर्यालोचनात्.....रुन्दस्वामि भवस्वामि—गुहदेव—
 श्रीनिवास—माधवदेव उवट—भट्टभास्करमिश्र—भरतस्वाम्यादि-

विरचितानि वेदभाष्याणि निरीक्ष्य कियते ।

यहां अनेक वेदभाष्यकारों के अतिरिक्त देवराज वेङ्कटनय माधव का स्मरण करता है । इससे सिद्ध होता है कि वेङ्कटमाधव संवत् १३७० से पहले का है ।

(३) केरावखानी [संवत् १३०० से पहले था] अपने नानार्थार्थवसंक्षेप भाग १, पृ० ८० = पर लिखता है—

द्वयोस्त्यश्चे तथा द्वाह स्कन्दस्वाम्युक्तु भूरिशः ।

माधवाचार्यसूरिश्च को अचेत्युक्ति भावते ॥

अर्थात् दोनों लिखों में गौ शब्द का बोझ अर्थ है । इसी प्रकार अनेक आचार्यों में स्कन्दस्वामी ने बोझ अर्थ किया है और विद्वान् माधवाचार्य ऋ० ११८४/१६॥ में वही अर्थ करता है ।

ऋ० ११८४/१६॥ पर वेङ्कटमाधव के भाष्य में गौ शब्द का बोझ ही अर्थ किया गया है । अतः वेङ्कटमाधव सं० १३०० से पहले था है ।

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक^१ अपनी न्यायपरिशुद्धि द्वितीय आह्निक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है । यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण सुदर्शनमीमांसा का कर्ता है ।^२ वेदाचार्य का काल संवत् १३०० से कुछ पहले था है । यह बल्लाल-नामक राजा था समकालीन था । यह सुदर्शनमीमांसा पृ० १२ पर लिखता है—माधवीयनामानुक्रमणायाम्—

चक्रध्याकः पविर्नेमिः पृथक् चक्रस्य याचकाः ।

१—सर्वदर्शनसंग्रह ४/२०४॥ में माधव वेङ्कटमाधव को उद्धृत करता है ।

२—डा. राज सितनर १, सन् १९३० के अपने पत्र में मुझे लिखते हैं—

The Vedantacharya who wrote the Sndarsana-mimansa is not the famous Vedantacharya of the 13th Century. He must be another.

अर्थात् प्रसिद्ध वेदान्ताचार्य सुदर्शनमीमांसा का कर्ता नहीं है । सुदर्शनमीमांसा का कर्ता कोई दूसरा वेदान्ताचार्य होगा । बहुतों ने सुदर्शनमीमांसा का कर्ता वेदाचार्य है । प्रतीत होता है डा. राज को पूर्ण सुनिश्चित घण्टा प्राप्त नहीं हुआ । उसमें स्पष्ट लिखा है कि वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण इसका कर्ता है ।

वही पुनः पृ० २२ पर लिखता है—

माधवीयाख्यातानुक्रमणाम्—

विवक्ति सितक्ति द्विपक्ति ।

ये प्रमाण संभवतः बेकटमाधव से ही दिए गए हैं । इनसे भी यही सिद्ध होता है कि बेकटमाधव सं० १३०० से पहले का है ।

बेकटमाधव स्वयं अपना काल बताता है

(१) ऋग्वेद के ऋटमाटक के तृतीयाध्याय की समाप्ति पर बेकटमाधव लिखता है—

एकोनपष्ठमध्यायं व्याकरोदिति माधवः ।

जगतामेकधीरस्य विषये निवसत्सुखम् ॥

अर्थात् एकधीर महाराज के राज्य में सुख में रहते हुए माधव ने ५६वें अध्याय का माध्य किया । इसी प्रकार ६०वें अध्याय के अंत में वह लिखता है कि वह चोल देश निवासी था ।

चोलों की राजवंशावलियां देखने में पता चलता है कि निम्नलिखित राजाओं का नाम वीर था । उनका काल भी साथ ही दिया जाता है ।^१

१—वीर राजेन्द्र सन् १०६२-१०७०

२—वीर चोल „ १०७८-१०८८

३—वीर चोल „ ११३५-११४६

४—वीर चोल „ ११८३-१२०६

५—वीर राजेन्द्र „ १२०७-१२४५

अतः बेकटमाधव यदि अंतिम राजा वीर राजेन्द्र के काल में भी हो तो वह विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुआ होगा । और यदि वह किसी पहले वीर राजा के काल में था तो उसका काल इस में पूर्व का हो जायगा ।

(६) पं० रामचरित शास्त्री ने स्कन्द और माधवभाष्य की भूमिका पृ० ६ पर एक प्रथा का वर्णन किया है । तदनुसार कौशिकगोशोत्पन्न गेतलूर कुलस्थ

१—देखो, Quarterly Journal of the Mythic Society, Vol. xxi, No. 1. July 1930, पृ० ४४-४६ ।

एक वेङ्कटमाधवार्य आचार्य रामानुज का शिष्य था। वेदभाष्यकार वेङ्कटमाधव वह नहीं हो सकता। वेङ्कटमाधव के वेदभाष्य में वैष्णव संप्रदाय की गन्ध नहीं है।

डाक्टर स्वरूप का मत

वेङ्कट माधव के काल के विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है^१—

In my opinion it will not be far from truth to assign Madhava son of Venkata, about the tenth century A.D.

अर्थात् वेङ्कटमाधव का काल ईसा की दसम शताब्दी के समीप हो सकता है।

यही मत डा० राज का है। उनके शब्द ये हैं^२—

“he is earlier than Sayana and may have lived about the tenth or ninth century of the Christian Era.

सम्भव है इन महागुरुओं का मत ठीक हो, परन्तु मेरा अभी तक इतना ही विश्वास है कि वेङ्कटमाधव ईसा की १२ वीं शताब्दी अथवा उस से पहले का है। कितना पहले का, यह अभी नहीं कहा जा सकता। यही बात मेरे अन्यत्र भी लिखी थी।^३ हां यदि पूर्वोद्धृत नानार्थाशेष के यत्नों केरावस्वामी का काल संवत् १३०० से बहुत पहले चला जाए, तो वेङ्कटमाधव का काल भी सुनिश्चित आधार पर कुछ और पहले का हो जायगा। केरावस्वामी किसी कुलोत्पन्न बोल का समकालीन था। इस नाम के दो राजा हो चुके हैं। हमने अभी तक इस नाम के उत्तरवर्ती राजा का ही ग्रहण किया है।

पं० साम्बसिंह शास्त्री ने अपनी भूमिका के पृ० ७ पर १०५०-११५० सन् ईसा ही वेङ्कटमाधव का काल माना है।

दुर्गाचार्य और वेङ्कटमाधव

डा० स्वरूप का मत है कि दुर्ग सायण और देवराज का मध्यवर्ती है।

१—Indices and Appendices, Nirukta, Preface, P. 34.

२—Proceedings, Fifth I. O. C. पृ० २४६।

३—Proceedings and Transactions of the Fifth A. I. O. C. Summaries of Papers. p. 7.

इसके विपरीत हमने अपने इतिहास के इसी भाग के पृ० ६-१४ तक यह बताया है कि देवराज स्कन्द-महेश्वर से परिचित था। और स्कन्द-महेश्वर अपनी टीका के आरम्भ में दुर्ग का स्मरण करते हैं, अतः दुर्ग देवराज से पहले का है। यही नहीं दुर्ग उद्गीथ आदि से भी पहले का है, ऐसा भी हम बड़ी दिला चुके हैं।

अब डा० स्वरूप का विचार है कि बेङ्कटमाधव के एक श्लोक को दुर्गाचार्य उद्धृत करता है। निरुक्त १। १॥ की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

तथा चोक्तम्—

शब्देनोच्चरितेनेह येन द्रव्यं प्रतीयते ।

तदुत्तरविधौ युक्तं नामेत्याहुर्मनीषिणः । इति

पुनश्चोक्तम्—

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।

तन्नाम कथयः प्राहुर्भेदे वचनलिङ्गयोः ॥

निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम् ।

स्वाभ्यर्थोऽधाधिकरणं विभक्त्यर्थः प्रकीर्तिताः ॥ इति ॥

इसी प्रकार के श्लोक बेङ्कटमाधव अपने भाष्य के द्वितीय अष्टक के प्रथमाध्याय की भूमिकात्मक सन्निकाओं में लिखता है—

शब्दैश्चरितैर्द्रव्यं यैरिह प्रतिपद्यते ।

तन्नाम कथयः प्रादुरग्निर्यायुस्तथाश्विनौ ॥

अष्टौ यत्र प्रयुज्यन्ते नानार्थेषु विभक्तयः ।

तन्नाम कथयः प्रादुर्लिङ्गसंख्यासमन्वितम् ॥

निर्देशः कर्म करणं प्रदानमपकर्षणम् ।

स्वाभ्यर्थोऽधाधिकरणं विभक्त्यर्थः प्रकीर्तिताः ॥

डा० स्वरूप की सम्मति में पहले दो श्लोक तो बेङ्कटमाधव ने बृहद्देवता के आश्रय से बनाए हैं, परन्तु तीसरा उसकी अपनी कृति है। उनका हेतु यह है कि दुर्ग पुनश्चोक्तम् और इति लिखकर स्पष्ट बनाता है कि ये श्लोक उसने वही से लिए हैं। और क्योंकि ये बेङ्कटमाधव के भाष्य में मिलते हैं इसलिए दुर्ग ने इन श्लोकों को वही से लिखा है।

हमारे विचार में यह बात ऐसे नहीं है। पहले दो श्लोकों का दुर्गस्वीकृत-पाठ ठीक बृहदेवता से मिलता है। वेङ्कटमाधव का पाठ इससे पर्याप्त भिन्न है। अतः दुर्ग इन दोनों श्लोकों में बृहदेवता से ले रहा है, वेङ्कटमाधव के भाष्य से नहीं। इसी प्रकार दुर्ग के उद्धरण की शैली से प्रतीत होता है कि अन्तिम दोनों श्लोक भी उसने एक ही स्थान से लिए हैं। वह स्थान बृहदेवता के अतिरिक्त और कोई नहीं। आजकल के बृहदेवता से निर्देशः श्लोक लुप्त हो गया है। और वेङ्कटमाधव भी पहले दोनों श्लोकों को बृहदेवता से कुछ बदल कर तथा तीसरे को आभातय्य उद्धृत करता है।

अथवा ऐसा भी हो सकता है कि दुर्ग और वेङ्कटमाधव इन श्लोकों को निरुक्तवार्तिक से ले रहे हैं। बृहदेवता और निरुक्तवार्तिक के अनेक श्लोक परस्पर मिलते हैं। यह निरुक्तवार्तिक क्या था, इसका वर्णन निरुक्त का इतिहास लिखने के समय किया जायगा।

याजुषभाष्यकार महीधर और वे० माधव

भा० स्वरूप का लेख है—

“Mahidhara, the commentator of the Sukla Yajur Veda, who belonged to c. 1100 A. D., mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava, son of Venkata.

अर्थात् लगभग ११वीं शताब्दी ईसा का शुक्ल-यजुर्वेद-भाष्यकार महीधर अपने पूर्वज एक माधव को स्मरण करता है। यह माधव सम्भवतः वे० माधव होगा।

वह सत्य है कि महीधर यजु० ११।४५॥ के भाष्य में एक माधव का प्रमाण देता है परन्तु वह माधव साधारण है अन्य नहीं। इसका विस्तृत उल्लेख महीधर के वर्णन में नहीं किया जायगा।

वे० माधव का कुल, ग्रामादि

अपने श्रुत्येदभाष्य के प्रत्येक अध्याय के अन्त में जो श्लोक वे० मा० ने दिए हैं, उनसे उसके कुल आदि के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

पितामह	=	माधव
पिता	=	वेङ्कटार्य
मातामह	=	भवगोल
माता	=	सुन्दरी
स्वगोत्र	=	कौशिक
मातृगोत्र	=	वासिष्ठ
अनुज	=	सङ्कर्षण
पुत्र	=	वेङ्कट और गोविन्द
निवास	=	दक्षिणापथ में चोल देश । कावेरी के दक्षिण किनारे पर गोमान् ग्राम ।'

समकालीन राजा = एकवीर

यथा वेङ्कटमाधव नाम के दो भाष्यकार थे

देवराजयज्वा ने वे० माधव के नाम से जो अनेक प्रमाण अपने निष्पद्-भाष्य में दिए हैं, वे सब वे० माधव के प्रस्तुत भाष्य में नहीं मिलते । डा० राज के पास

१—देखो, पं० साम्प्रदाय शास्त्री की भूमिका पृ० ७, ८।

दक्षिणापथ का प्रसिद्ध अर्थ दक्षिण देश है । वे० माधव निम्नलिखित श्लोक में अपने दक्षिणापथ वासी होने का कथन करता है—

अध्यायमष्टमं चांशं व्याख्यदार्येषु कञ्चन ।

दक्षिणापथमाश्रित्य वर्तमानेषु माधवः ॥

अष्टमाष्टक द्वात्रा अध्याय ॥

अर्थात्—दक्षिण देश में रहने वाले आर्यों में से किसी माधव ने आठवें अध्याय का व्याख्यान किया ।

डा० स्वरूप को इस श्लोक के समझने में भूल हुए हैं, उनका अर्थ है—

Madhava follows the southern method in his explanation. Nirukta, Indices, Introduction p. 56.

अर्थात्—अपनी व्याख्या में माधव दक्षिणापथ विधि का अनुसरण करता है ।

निःसन्देह वेदाङ्ग की कोई दक्षिणापथ विधिविशेष नहीं थी ।

ऋग्वेद के प्रथमाष्टक के एक भाष्य का एक हस्तलेख है। वह भाष्य भी बेंकटमाधव प्रणीत है। उसका कर्ता भी गोमान् ग्राम का वासी है। डा० राज सन् १९२८ के अन्त में जब लाहौर आए थे, तब उन से लेकर मैंने इस भाष्य का सरसरी तौर पर अवलोकन किया था। डा० राज का मत है कि यह कोई दूसरा बेंकटमाधव है और देवराज तथा वेदाचार्य ने जो माधवीयानुकमणी-पाठ उद्धृत किए हैं, वे इसी बेंकटमाधव के हैं। हमारा ऐसा अनुमान नहीं है।

सम्भवतः एक ही वे० माधव ने दो ऋग्वेदभाष्य रचे

देवराजयज्ञा का जो एक लम्बा प्रमाण हम पृ० २८ पर उद्धृत कर चुके हैं, वह ध्यान देने योग्य है। देवराज लिखता है—

...इत्यत्र माधवस्य प्रथमभाष्यम् । १।१४।१८॥

अर्थात्—इस मन्त्र पर माधव का प्रथमभाष्य उद्धृत किया जाता है। देवराज के शब्द अति स्पष्ट हैं। वे किसी दूसरी कल्पना का स्थान नहीं छोड़ते। उन से वह भाव प्रकट होता है कि देवराज की दृष्टि में एक ही माधव ने दो भाष्य रचे थे। उन दोनों में से प्रस्तुत भाष्य पहले रचा गया था। इसी में देवराजोद्धृत वह प्रमाण मिल जाता है। इस के रचने के पश्चात् माधव ने दूसरा विस्तृत भाष्य रचा। देवराज और वेदाचार्य से उद्धृत की हुई माधवीयानुकमणियों के प्रमाण इसी द्वितीय भाष्य में मिलने चाहिए। डा० राज के हस्तलेख में ये अनुकमणियाँ नहीं हैं। इस द्वितीय भाष्य के अन्य हस्तलेखों में ये हो सकती हैं। मैसूर राजकीय पुस्तकालय में प्रथमाष्टक के शुद्धितारा पर जो बेंकटमाधव के प्रथमभाष्य का हस्तलेख है, उसमें भी वे करिकाएँ नहीं हैं जो प्रथमभाष्य के दूसरे हस्तलेखों में मिलती हैं।

देवराजयज्ञा के उपोद्घात से यही निश्चित होता है कि वह बेंकटमाधव के उस भाष्य का कथन करता है, जिस में देवराज की उद्धृत की हुई अनुकमणियों का मूल है। और इसी अन्वय से वह माधव के नाम से अधिकारा प्रमाण देता है। कहीं कहीं उस ने प्रथमभाष्य भी वर्ता है। प्रस्तुत स्थान में तो उस ने प्रथमभाष्य शब्द का प्रयोग कर के सारे सन्देह का निवारण कर दिया है।

देवराज यजुषा का वेदभाष्यकार माधवदेव सामवेद विवरणकार माधव प्रतीय होता है ।

वे० माधव के प्रथम भाष्य के हस्तलेख

१—त्रिवन्दम, राजकीय पुस्तकालयस्थ । प्रथमाष्टक प्रथमाध्याय पर्यन्त ।

२—पं० साम्बशिव शास्त्री द्वारा नारायणन् नीलकण्ठन् नम्पूरि से प्राप्त ।

३—मद्रास, राजकीय प्राच्य पुस्तकालयस्थ । इसी की देवनागरी प्रति लाहौर में है । इसमें चतुर्थाष्टक नहीं है, अन्यत्र भी कहीं कहीं मुद्रित है ।

४—त्रिवन्दम, राजकीय पुस्तकालयस्थ । श्री सुब्रह्मयन्त्रलियराज से प्राप्त । अन्तिम चार अष्टक ।

५—मैसूर राजकीय पुस्तकालयस्थ । प्रथमाष्टक के तृतीयाध्याय के मध्य से प्रथमाष्टक की समाप्ति तक ।

इसी की प्रति दयानन्द कलेज के पुस्तकालय में है । पं० साम्बशिव शास्त्री को मैं ने यही ग्रन्थ भेजा था ।

६—त्रिवन्दम पुस्तकालयस्थ । श्री ब्रह्मदत्तन् नम्पूरि से प्राप्त । प्रथम और द्वितीयाष्टक सम्पूर्ण ।

७—लाहौर, पंजाब यूनिवर्सिटी पुस्तकालयस्थ । प्रायः समग्र । इस में चतुर्थाष्टक विद्यमान है ।

८—लाहौर, दयानन्द कलेज लालचन्द पुस्तकालयस्थ । प्रायः समग्र । इस में भी चतुर्थाष्टक विद्यमान है ।

९, १०—डा० राज के मलयालम में दो ग्रन्थ । एक में पूर्व और दूसरे में उत्तर अष्टकों का भाष्य है ।

इस से स्पष्ट है कि लाहौर के हस्तलेखों को छोड़ कर शेष सब प्रायः अपूर्ण हैं । फिर भी इतने ग्रन्थों की सहायता से इस भाष्य का विशद संस्करण निकाला जा सकता है । मेरे मित्र डा० स्वरूप इस भाष्य के सम्पादन में कृत-सङ्गलप हैं ।

वे० माधव के प्रथमभाष्य की विशेषताएं

(१) यह भाष्य भी याज्ञिकपद्धत्यनुसारी है । स्कन्दादिवत् यह विस्तृत

नहीं है। इस में अत्यन्त संक्षेप से काम लिया गया है। यथा—

ये यजत्रा य ईडेयास्ते ते पिबन्तु जिह्वया ।

मधोरमे वषट्कृति ॥ ऋ० १।१४।८॥

प्रथमभाष्य—ये यजत्र्याः । ये वेभ्याः । मनुष्या या ईडेभ्याः पितरो नमस्या देया यज्ञिया इति ब्राह्मणम् ।^१ ते तव जिह्वया सोमस्य वषट्कृतं हुतं पिबन्तु ॥

दत्ता युवाकयः सुता नासत्या वृक्षवर्हिणः ।

आयातं रुद्रवर्तनी ॥ ऋ० १।३।३ ॥

प्रथमभाष्य—दर्शनीयौ युष्मत्पानकामाः सोमाः । सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः ।^२ सत्यस्य प्रयेतारावित्याग्रायणः ।^३ वृक्षवर्हिणः सोमाः स्तरणार्थं द्विजवर्हिणः । आगच्छतं युगे घोरगमनमार्गौ ॥

मन्त्र के मूल पदों का भाष्य में अत्यल्प समावेश किया गया है। जहाँ पद अति सरल है और अर्थ का अनायास खोजक है, वहाँ पर तो बहू लिख दिया गया है।

अपने भाष्य के संक्षेप के विषय में वे० माधव स्वयं गर्व पूर्वक लिखता है—

वर्जयन् शब्दविस्तरम्^४

शब्दैः कतिपयैरिति ।^५

अर्थात्—इस भाष्य में शब्दविस्तर नहीं है और स्वल्प शब्दों में ही सारा अर्थ कहा गया है।

(२) वैङ्कटमाधव ने ब्राह्मण ग्रन्थों के अभ्यास में अलाधारण बल किया था, वह उस के भाष्य से बहुत स्पष्ट है। उस का मत भी है कि ब्राह्मण ग्रन्थों

१—शतपथ १।५।२।३॥ ईडेभ्याः के स्थान में पं० साम्बरिश शास्त्री

डेभ्याः पाठ मानता है। वह उन की भूल है।

२—निरुक्त १।१.३॥

३—देखो, Dr० स्वरूप Indices and Appendices to the Nirukta. पृ० ७०।

के जाने बिना वेदार्थ का समझना कठिन है—

अस्माभिस्त्वह मन्त्राणामर्थः प्रत्येकमुच्यते ।

ये ऽज्ञाता ये च सन्दिग्धास्तेषां वृद्धेषु निर्णयः ॥२॥

संहितायास्तुरीयांशं विजानन्त्यधुनातनाः ।

निरुक्त्याकरणयोरासीद्येषां परिभ्रमः ॥६॥

अथ ये ब्राह्मणार्थानां विवेकारः कृतधमाः ।

शब्दरीतिं विजानन्ति ते सर्वे कथयन्त्यपि ॥१०॥

ताण्डके शाठ्यायनके भ्रमः शतपथे ऽपि च ।

कौपीतके काठके च स्याद्यस्येह स परिद्वतः ॥११॥

ऐतरेयकमस्माकं वैष्णवादिमथर्वणाम् ।

तृतीयं तिस्रिर्मोक्षं जानन् वृद्ध इहोच्यते ॥१२॥

न भाष्यकमस्माभिस्तथा मैत्रायणीयकम् ।

ब्राह्मणं चरकाणां च धृतं मन्त्रोपबृंहणम् ॥१३॥

अर्थात्—इस भाष्य में हम ने प्रत्येक मन्त्र का अर्थ कहा है। जिन मन्त्रों का अर्थ अज्ञात वा सन्दिग्ध है, उन का हृदो—ब्राह्मणग्रन्थ जानने वालों में निर्णय होता है।

आधुनिक विद्वान् जिन का निरुक्त और व्याकरण में परिभ्रम है, वे ऋक्संहिता का केवल चतुर्थांश जानते हैं।

और जो ब्राह्मणार्थों के जानने वाले और उन में भ्रम किए हुए हैं, वे शब्दरीति को जानते हैं और संहिता का सारा अर्थ कहते हैं।

ताण्ड्य, शाठ्यायन, शतपथ, कौपीतकि और काठक ब्राह्मणों में जिस का भ्रम है, वह इस लोक में परिद्वत कहा जाता है।

हमारा ब्राह्मण ऐतरेय, आपर्वणों का वैष्णवादि, तीसरा तैत्तिरीय, इन जो जो जानता है, वह हृद कहता है। हम ने भाष्यवि, मैत्रायणीय, और चरकों का मन्त्रोपबृंहण करने वाले ब्राह्मण नहीं सुने।

इस से प्रतीत होता है कि बेङ्कटमाधव ने १—ऐतरेय, २—कौपीतकि,

१—अष्टमाहक, प्रथमाध्याय की मृमिक्रान्तक कारिकाएं।

१-शतपथ, ४-तैत्तिरीय, ५-कठ, ६-ताण्ड्य, ७-शाठ्यायन और ८-वैष्णव (गोपथ ?) ब्राह्मणों में अन्वय किया हुआ था। भास्वति, मैत्रायणीय और 'चरकब्राह्मण' उद्यो नहीं मिल सके। इन सब में से इस प्रथमभाष्य में शाठ्यायन ब्राह्मण बहुत उद्धृत है। यह ध्यान रखना चाहिए कि शाठ्यायन ब्राह्मण के ये पाठ जैमिनीय ब्राह्मण से बहुत मिलते हैं।

(१) इनके अतिरिक्त वे० माधव के भाष्य में कात्यायन, कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी, जैमिनीकृत निदानसूत्र, निघण्टु, निरुक्त, शौनक, और बृहदेवता बहुत उद्धृत हैं। अनेक स्थानों पर निरुक्त का पाठ बिना निरुक्त या यास्क का नाम स्मरण किए दिया गया है। वे० माधव निरुक्त के लघुपाठ को ही प्रायः उद्धृत करता है।

बृहदेवता को भी वे० माधव बहुत उद्धृत करता है। उसका पाठ मैकडानल की A शाखा के प्रायः अनुकूल है। बृहदेवता का जो पाठ वे० माधव ने लिखा है, वह कई स्थानों पर मैकडानल के पाठ से अधिक अच्छा है। यथा—

मैकडानल का पाठ

एकादशी प्रथमा च मासस्तृच उत्तरः ।

समागच्छन् मरुद्भिस्तु चरन् व्योम्नि शतक्रतुः ॥४६॥

दृष्ट्वा तुष्टाय तानिन्द्रस्ते चेन्द्रमृषयोऽग्रवन् ।

अर्थात्—एकादशी और प्रथमा ऋच भी (इन्द्र की हैं।) अगला तृच (ऋ० १।१६५।११-१५॥) मरुतों का है। शतक्रतु = इन्द्र आकाश में विचरता हुआ मरुतों से मिला। उन्हें देख कर इन्द्र ने उन की स्तुति की। और वे ऋषि इन्द्र से बोले।

ऋग्वेद १।१६५॥ आदि सूक्तों का अर्थ अगस्त्य है, मरुत नहीं। मैकडानल के पाठ के अनुसार मरुत ऋषि थे। यह बात असंगत है। इस स्थान पर बृहदेवता का जो पाठ वेङ्कटमाधव देता है, वह बड़ा प्रशस्त है—

१—चरक ब्राह्मण का अस्तित्व वे० माधव को स्कन्दादिभाष्य से बात ही था। ऋ० १।१०।१११ के भाष्य में स्कन्द चरक का उद्धृत करता है, परन्तु वे० माधव कोई अन्य भा० लिखता है।

दृष्ट्वा तुष्टाय तानिन्द्रस्ते चैनं मयतोऽब्रुवन् ।

अर्थात्—उन मयों को देखा कर इन्द्र ने उन की स्तुति की और वे मयत् इन्द्र से बोले ।

इसी प्रकार अन्यत्र भी कई स्थलों पर वे० माधव का दिया हुआ गृह-वत्ता का पाठ मैकडानलस्वीकृतपाठ से अधिक युक्त है ।

(४) अष्टक, अप्याव, वर्ग, मण्डल, सूक्त और मन्त्रों के विषय में वेङ्कट-माधव का विचार देखने योग्य है । अतः वह आगे लिखा जाता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्युग्मिभिः कृतः ।

उत्प्राहार्यं प्रदेशानामिति मन्यामहे वयम् ॥१॥

वर्गाणामपि विच्छेद आर्य एवेति निश्चयः ।

ब्राह्मणेष्वपि दृश्यन्ते वर्गसंशब्दनादि च ॥२॥

शतैश्चतुर्भिर्धिकमयुतं गणितं मया ।

हे च यान्यतिरिच्येते द्विपदाश्चात्र संगताः ॥२१॥

पृथग्यदा तु गणनं द्विपदानां तदाधिका ।

चतुश्शतादशीतिश्च वाक्यं च ब्रह्मण्यम् ॥२२॥

ऋचां दशसहस्राणि ऋचां पञ्चशतानि वै ।

ऋचामशीतिः पादश्च पाटोऽयं न समञ्जसः ॥२६॥^१

अर्थात्—अष्टक, अप्याव (सूक्त, वर्ग आदि) का विभाग पुराने ऋषियों ने संहिता के रचानों के जानने के लिए किया है । ऐसा हम मानते हैं ।

वर्गों का विभाग भी आर्य ही है, ऐसा निश्चय है । ब्राह्मणों में वर्ग आदि शब्द देखे जाते हैं ।

भेदे ऋचाओं की गणना १०४०२ की है । इन में द्विपदा सम्मिलित हैं ।

जब द्विपदा पृथक् गिनी जायें, तो १०४८० होती है ।

१०४८० ऋचा और एक पाद ऐसा जो (अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में) पाठ है, वह युक्त नहीं ।

अनुवाकानुक्रमणी और चरणव्यूह आदि में किस शाखा की गणना दी है, ऐसा जाने बिना ही वे० माधव ने उस गणना का निरादर किया है।

(५) वे० माधव का मत है कि यास्कीय निरुक्त का मूल जो निषण्ड है वह भी यास्कप्रणीत ही है। श्रु० ७।८।७।४॥ की व्याख्या में वह लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्धर्भर्ताति पृथिवीमाह ।
तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि ।

अर्थात्—पृथिवी वाची गौ शब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं।

वे० मा० के विषय में अधिक विचार उसके द्वितीय भाष्य के छप जाने पर होगा।

— — —

६—लक्ष्मण (सं० ११५० के समीप)

शारदातनय ने अलङ्कार पर भावप्रकाशन नाम का एक ग्रन्थरत्न लिखा है। शारदातनय का काल सं० १२३२-१३०७ है।^१ वह अपने मतलबों में लिखता है—

आर्यावर्ताह्वये देशे स्फीतो जनपदो महान् ।

मेरुत्तर इति क्यातस्तस्य दक्षिणमागतः ॥५॥

ग्रामो माठरपूज्याख्यो द्विजसाहस्रसम्मितः ।

तत्र लक्ष्मणनामासीद्विप्रः काश्यपवंशजः ॥६॥

त्रिंशता कतुभिर्विष्णुं तोषयामास वेदवित् ।

वेदानां भाष्यमकरोन्नास्त्रा यो वेदभूषणम् ॥७॥

अर्थात्—आर्यावर्त देश में मेरुत्तर एक सुन्दर महान् जनपद है। उसके दक्षिण में माठर नाम ग्राम है। उस में एक सहस्र ब्राह्मण रहते हैं। वहाँ कश्यपगोत्र लक्ष्मण नाम का एक ब्राह्मण था। उसने तीस ब्रह्मों से विष्णु की संतुष्टि की। वह वेद का जानने वाला था। उसने वेदभूषण नाम का वेदों का भाष्य किया।

यह लक्ष्मण शारदातनय का प्रपितामह था। पूर्व श्लोकों में इस बात का निर्देश नहीं है कि लक्ष्मण ने किस किस वेद का भाष्य किया। ऋग्वेद का भाष्य उस ने किया था नहीं, यह भी अभी अनिश्चित है। उस के ग्रन्थ का ग्रन्थों का सम्बन्ध हो, इसी प्रयोजन से हम ने उस का यहाँ उल्लेख कर दिया है।

शारदातनय का काल सं० १२३२-१३०७ है। अतः उस के प्रपितामह ने इस से लगभग ७५ वर्ष पहले ही अपने वेदभाष्य लिखे होंगे।

७—धानुष्कयज्वा (सं० १३वीं शताब्दी)

त्रिवेदीभाष्यकारेण धानुष्कयज्वना तु चरणशब्दस्तुदर्शनाभिधायीति देवताविशेषस्तुदर्शनमिति स्पष्टं व्याख्यातम्।

यज्ञा—महस्यत् अरघत्। एवं धन्वयज्वना व्याख्यातम्।

अग्नीनिष्ठवृद्धेन धानुष्कयज्वना त्रिष्वपि वेदभाष्येषु सप्रमाणमुपन्यस्तः।

ये तीनों लेख वेदाचार्य की सुदर्शनमीमांसा के पृ० ५, ७ और ५६ पर हैं। इन से प्रतीत होता है कि धानुष्कयज्वा अथवा धन्वयज्वा नाम के किसी व्यक्ति ने तीनों ऋग्वेद, यजुः और साम वेदों पर भाष्य किया था। यह धानुष्कयज्वा वैष्णवसम्प्रदाय का आचार्य प्रतीत होता है। इस के भाष्यों का अभी तक हमें कुछ ज्ञान नहीं है।

८—आनन्दतीर्थ (सं० १२५५-१३३५)

द्वैत सिद्धान्त के सुप्रसिद्ध समर्थक भगवत्पादाचार्य आनन्दतीर्थ ने भी ऋग्वेद पर अपनी लेखनी उठाई है। यही आनन्दतीर्थ पूर्वप्रज्ञ, मन्त्र आदि नामों से भी प्रसिद्ध है।

काल

आनन्दतीर्थ का काल संवत् १२५५ से १३३५ तक है। अपने महा-भारततात्पर्यनिर्णय में वह स्वयं अपनी जन्मतिथि लिखता है—

चतुःसहस्रे त्रिशतोत्तरे गते संवत्सराणां तु कलौ पृथिव्याम् ।

जातः पुनर्विप्रतनुः स भीमो दैत्यैर्निगूढं हरितस्वमाह ॥

अध्याय ३२। श्लो० ३१॥

अर्थात्—कलि के ४३०० वर्ष बीतने पर मध्व ने जन्म लिया । मध्व ८० वर्ष जीवित रहा, ऐसा मध्वसंप्रदाय में अब तक प्रसिद्ध है । अतः सं० १२५५-१३३५ तक आनन्दतीर्थ का काल निश्चित होता है ।

मध्व के वेदभाष्य का परिमाण

आनन्दतीर्थ का श्लोकमय भाष्य ऋग्वेद के प्रथम चालीस सूक्तों पर ही है । इस प्रकार दो अध्याय सम्पूर्ण और तीसरे के कुछ अंश पर ही मध्व ने अपना भाष्य किया था । रामवेन्द्र यति इस संप्रदाय का एक प्रतिष्ठित आचार्य है । वह अपनी मन्तार्षमञ्जरी की भूमिका में लिखता है—

ऋक्शाखागतैकोत्तरसहस्रसूक्तमध्ये कानिचिच्चत्वारिंशत् सूक्तानि भगवत्पादैः.....व्याख्यातानि ।

किं भगवत्पाद ने चालीस सूक्त ही व्याख्या किए हैं । मध्वभाष्य के जो हस्तलेख मिलते हैं, उन में भी चालीस सूक्तों की व्याख्या की समाप्ति पर लिखा है कि—

ऋग्भाष्यं सम्पूर्णम्

अर्थात्—ऋग्भाष्य समाप्त हुआ ।

शैली

आनन्दतीर्थ नारायणभक्त था । उसके मत में नारायण में ही अखिल वेद का अर्थ है । वह अपने भाष्यारम्भ में लिखता है—

स पूर्णत्वात् पुमाक्षाम पौरुषे सूक्तं ईरितः ।

स एवाखिलवेदार्थः सर्वशास्त्रार्थ एव च ॥

वही नारायण सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष नाम से पुरुषसूक्त में कहा गया है । वही सार वेद का अर्थ है और सार शास्त्र का भी ।

आनन्दतीर्थ के भाष्य का विवरणकार जयतीर्थ भी वही लिखता है कि आनन्दतीर्थ का अभिप्राय वेद का परमात्मपरक अर्थ दिखाने का है । अपने

विवरण के आरम्भ में यह लिखता है—

अतस्तेषां भगवत्परत्वप्रकारप्रदर्शनार्थं कासांचिदृचां भाष्यं करिष्यन् ... प्रयोजनं च दर्शयति ।

अर्थात्—वेदों का भगवत्परक अर्थ करने के लिए कुछ अन्वयों का भाष्य करते हुए, ग्रन्थ का प्रयोजन दिखाता है :

इस अभिप्राय को लेकर आनन्दतीर्थ श्रुत्येवगत प्रथममन्त्रस्थ अग्नि शब्द का अर्थ प्रभु करता है—

आह तं स्तौम्यशेषस्य पूर्वमेव हि तं प्रभुम् ।

जयतीर्थ के अनुसार आनन्दतीर्थ वेद का तीन प्रकार का अर्थ मानता है—

श्रुगर्थश्च त्रिविधो भवति । एकस्तावत् प्रसिद्धाग्न्यादिरूपः ।

अपरस्तदन्तर्गतेश्वरलक्षणः । अन्योऽप्यात्मरूपः । तत्त्रितयपरं चेदं भाष्यम् ।

अर्थात्—श्रुगर्थ तीन प्रकार का है । एक प्रसिद्ध अग्नि आदि का, दूसरा उस के अन्तर्गत ईश्वरलक्षण वाला और तीसरा आप्यात्मिक । यह आनन्दतीर्थ का भाष्य तीनों प्रकार का अर्थ बताता है ।

परन्तु आनन्दतीर्थ का प्रधान अर्थ ईश्वरसम्बन्धी ही है ।

मध्य-भाष्य की विशेषताएं

(१) अग्नि शब्द के अर्थ में आनन्दतीर्थ बदरायण का निर्वचन उपस्थित करता है—

अप्रणीतत्वं यदग्नित्वमित्यग्रे नाम तद्भवेत् ।

एवमेवाह भगवान् निरुक्तिं बदरायणः ॥

अर्थात्—सब का अप्रणी होने से अग्नि ऐसा कहा जाता है । यह निर्वचन भगवान् बदरायण ने किया है ।

आगे चल कर यह स्पष्ट लिखता भी है कि व्यास का बनाया हुआ कोई निरुक्त ग्रन्थ था—

श्रुत्संहितायां स्वाध्याये निरुक्ते व्यासनिर्मिते ।

पत्र ३ ख ।

इस से प्रतीत होता है कि आनन्दतीर्थ को किसी व्यासविरचित निरुक्त का पता था ।

(२) पत्र ३ ख और ४ क, ख पर आनन्दतीर्थ वैज्ञि भुति, बर्क भुति, तुर भुति, आनन्द भुति, सौपणी भुति और मान्य भुति को उद्धृत करता है । ये सब भुतियों या तो अत्यन्त नवीन खिलों का अंश हैं अथवा कल्पित हैं । आनन्दतीर्थ अपने गीताभाष्य में भी कोई बीस प्रकार की ऐसी ही भुतियाँ उद्धृत करता है ।

(३) वेदों के विभाग के विषय में पुराणों के प्रमाण से व्यास का इतिहास लिख कर आनन्दतीर्थ लिखता है—

ऋचः शाखात्वमापन्नाः शिष्यतच्छिष्यकैरिमाः ।

मानस्तेनेति पूर्वान् शुनता दृश्यतेऽर्थतः ॥

शुनःशेषोदिताभ्यश्च पञ्चान्तेऽन्यत्र काश्चन ।

अत्राप्यक्रमतो दृष्टिरिति नैकक्रमो भवेत् ॥

अनन्तत्वात्तु वेदानां प्रायः कर्मानुसारतः ।

संक्षेपं कृतवान् देवः शिष्याश्च तदनुस्रया ॥

अष्टकाध्यायवर्गादिसेदं च कृतवान् प्रभुः ।

स्वाध्यायविधिमार्थाय तस्मात् क्रमविपर्ययः ॥

अर्थात्—यही ऋचाएं व्यास के शिष्य और प्रशिष्यों द्वारा शाखा बनीं । ऋ० २।२३।१६॥ की मा नः ऋचा का पूर्वार्ध अर्थ की दृष्टि से अपूर्ण है । शुनः-शेष की ऋचाएं सारी वहां नहीं, अन्यत्र भी पड़ी गई हैं । वहां भी क्रम नहीं है । सर्वत्र एक क्रम नहीं है । वेदों के अनन्त होने से (यज्ञों के) कर्मानुसार भगवान् व्यास और उन की आज्ञा से उन के शिष्यों ने वेदों का संक्षेप किया । अष्टक, अध्याय और वर्ग का भेद भी व्यास ने किया । यह विभाग स्वाध्यायकाल में विभ्राम के लिए है, इसी लिए शाखाओं में क्रम का विपर्यय है ।

इन्हीं श्लोकों के ऊपर जयतीर्थ की टीका का भाव निम्नलिखित है ।

“आदि में एक मूल वेद था । उस से उद्धृत कर के ऋचा, निगद आदि उपवेद बने । उन्हीं से ये ऋग्वेदादि शाखाएं बनीं । उन उपवेदों की अपेक्षा

इस ऋग्वेद में कई ज्वाएं कम और कई अधिक हैं । ऋ० २।२३:१६॥ में पूर्वार्ध किसी और ऋचा का है और उत्तरार्ध और ऋचा का । इस से प्रतीत होता है कि कुछ मन्त्र यहाँ से कम हैं । यह सब पुराण के आशय से कहा गया है ।”

आनन्दतीर्थ के पूर्वोक्त श्लोकों में वेदुटमाधव के लेख की छाया प्रतीत होती है । वेदुटमाधव ऋ० ५।५॥ की कारिकाओं में लिखता है—

अष्टकाध्यायविच्छेदः पुराणैर्ऋषिभिः कृतः ।

उद्ग्राहार्थं प्रदेशानामिति मन्यामहे ययम् ॥१॥

वर्गाणामपि विच्छेद आर्य एवेति निश्चयः ॥२॥

अध्ययनाय शिष्याणां विभागो वर्गशः कृतः ॥३॥

यदि हमारा अनुमान ठीक है तो वेदुटमाधव का काल जानने में यह भी एक सहायक प्रमाण है ।

आनन्दतीर्थ का भाष्य सब प्रकार से सांप्रदायिक ही है ।

मध्यभाष्य पर जयतीर्थ की टीका

जयतीर्थ मध्य के बीच, पचीस वष पश्चात् हुआ है । अर्थात् जयतीर्थ ने संवत् १३६० से अपने प्रन्थ लिखने आरम्भ कर दिए होंगे । उस ने आनन्द-तीर्थ के भाष्य पर अपनी टीका लिखी है ।

पूर्व पृ० १७ टिप्पणी २ में जहां जयतीर्थ इन्द्रस्वामी की ओर संकेत करता है, वह हम लिख चुके हैं ।

ऋग्वेद १।३।१०॥ में आए हुए वाजिनीयती पद पर जयतीर्थ लिखता है—

अविभक्तिको निर्देशः ।

इस पंक्ति पर नरसिंह (सं० १७१=) अपनी विवृति में लिखता है—

एतेनाश्रमश्रवत् क्रिया वा वाजिनीयति माधवव्याख्या प्रत्युक्ता ।

इस से प्रतीत होता है कि नरसिंह के अनुसार जयतीर्थ यहाँ किसी माधव की व्याख्या का खण्डन कर रहा है ।

इसी पद पर माधव सायण की व्याख्या ऐसी है—

याजिनीयतीति अन्नवत्क्रियायती

वेदुत्तमाधव के प्रथमभाष्य में इस पद का व्याख्यान—अन्नवती, इतना ही है। द्वितीय भाष्य में उस का व्याख्यान कैसा है, यह हम नहीं कह सकते। अतः यदि जयतीर्थ का अभिप्राय सायण माधव के खण्डन करने ही का था, तो उस का काल कुछ और नीचे करना पड़ेगा।

जयतीर्थ का विवरण उस की योग्यता का अच्छा प्रमाण है।

जयतीर्थ की टीका पर नरसिंह की विवृति

नरसिंह अपनी विवृति के अन्त में लिखता है कि उस ने शक १४८३ अर्थात् संवत् १७१८ में अपनी विवृति लिखी।

नरसिंह वैदिक साहित्य का अच्छा परिचित प्रतीत होता है। उसने काशिका, निरुक्त, एकाक्षरमाला, धातुशक्ति, जैमिनीय मीमांसा, निषण्ड, अनुक्रमणी, अनुक्रमणिका भाष्य, उष्णादि, उष्णादिवृत्ति (पञ्चपादी), अमरकोश, धनञ्जय, विश्व, वररुचि, ब्राह्मण, कैयट, अभिधान, भगवद्गीता, छान्दोग्यभाष्य, न्यायसुधा, उज्ज्वलदत्त (वरापादी वृत्ति) और महाभाष्य का उल्लेख किया है। इनमें से निषण्ड और उष्णादि को वह बहुत उद्धृत करता है। पत्र ४६ पर आपस्तम्ब ब्राह्मण और पत्र १४८ पर आपस्तम्ब शास्त्र से प्रमाण दिए गए हैं। ये कमशः तैत्तिरीय ब्राह्मण और संहिता के पाठ हैं।

पत्र २०१ क पर याशी शब्द का अर्थ किया गया है—

काष्ठतक्षणसाधनम्

अर्थात्—सकड़ी छीलने का साधन।

तदनन्तर नरसिंह लिखता है—

कर्नाटकभाषया वाङ्मयीति तथा महाराष्ट्रभाषया चासलेति उच्यते।

इससे प्रतीत होता है कि वह कर्नाटक और महाराष्ट्र के समीप ही का रहनेवाला था।

राघवेन्द्र यति की मन्त्रार्थमञ्जरी

राघवेन्द्रयति मध्वसंप्रदाय का प्रसिद्ध ग्रन्थकार है। उपनिषदों के

भाष्य के सम्बन्ध में इसका नाम सुविख्यात है। उस ने आनन्दतीर्थ के भाष्य का स्वतन्त्र व्याख्यान किया है। वह अपने दूसरे मन्त्रश्लोक में लिखता है—

संग्रहीष्यामि ऋग्भाष्यप्रोक्तानर्थानृचां स्फुटम् ॥

अपनी व्याख्या में वह शाबरभाष्य, चंद्रिका, ऐतरेयभाष्य, अनुष्माख्यान, सूत्रकार कण्ठरव, गीता, कण्ठधृति आदि को उद्धृत करता है।

श्रु० १।३।१४॥ में एक पद नृपाहाय है। उसका शाकल्यकृत पदपाठ—नृऽसहाय है। राघवेन्द्र उसका पदपाठ नृऽसाहाय देता है। फिर नृऽसहाय पदपाठ देकर वह लिखता है—

नृऽसहाय इति स्वध्यापकपदपाठः ॥

यह अध्यापक कौन था, यह जानना चाहिए।

यह मन्त्रार्पणशरी राघवेन्द्रयति की योग्यता का अच्छा परिचय देती है।

नारायण की भाष्यटीकाविवृति

नरसिंह के समान नारायण ने भी जयतीर्थ की टीका पर एक विवृति लिखी थी। उसे वह भावरत्नप्रकाशिका कहता है। इस का एक कोरा बड़ोदा में है। देखो संख्या ६४२६। बड़ोदा के सूचीपत्र में इसे राघवेन्द्र का शिष्य लिखा है।

६—आत्मानन्द (लगभग संवत् १२००-१३००)

ऋग्वेदान्तर्गत अस्य चामीय सूक्त के भाष्यकार आत्मानन्द का परिचय लग्ने पहले मैक्समूलर ने अपने प्राचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास पृष्ठ १२३ पर दिया था। वह परिचय नाममात्र का था। मैक्समूलर का मत है कि क्योंकि आत्मानन्द स्कन्द, भास्करादि को उद्धृत करता है, और सायण को उद्धृत नहीं करता, अतः वह सायण से कुछ पहले हुआ होगा।

इस प्रश्न पर पूरा विचार करने के लिए आत्मानन्दोद्धृत सब ग्रन्थकारों का ज्ञान हमें आवश्यक है, अतः उन की सूची आगे दी जाती है।

आत्मानन्दोद्धृत ग्रंथ वा ग्रंथकार

स्कन्दभाष्य, उद्गीथ, भास्कर, शौनक, वेदमित्र, बृहदेवतार, अनुक्रम-

शिकार, विष्णुधर्मोत्तर, निष्क, पुष्करोक्तकल्प, भगवद्गीता, महाभारत, पुराण, स्मृति, पदकार, केशवाचार्य (वेदान्तग्रन्थकार), शङ्कराचार्य, वेदान्ती, उपनिषद्, विष्णुपुराण, निषयद्, संप्रदायश, योगशास्त्रकल्प, श्वेताश्वतथ, योगग्रन्थ, शाकपूणि (दो बार), पञ्चरात्र, प्रशंसा (वेदप्रशंसा ?), दृढमनु, ग्रन्थकार का उल्लेख आता लक्ष्मीधराचार्य, शंख, चन्द्रिकाकार (आह्निक ग्रन्थ), विज्ञानेश्वर, आत्मज्ञान (आत्मबोध), यमस्मृति, हरिवंश, सर्वज्ञ, गदाधर, भट्टाचार्य (कुमारिल ?), नृसिंह-मन्त्रकल्प, महाभागवत, श्वेताश्वतथ, शिवधर्मोत्तर, याज्ञवल्क्य (स्मृति), ब्रह्मोपनिषत्परिशिष्ट, वासिष्ठ रामायण, स्कन्दपुराण कालिकाखण्ड, विष्णुरहस्य, तैत्तिरीय, ब्रह्मगीता, टिप्पणकार, पैत्रिरहस्य, एकाक्षरनिषयद्, भारद्वाजसूत्र, भोज, वार्तिककार, शङ्कराचार्य शिष्य द्रविडस्वामी, विवरण, वाचस्पति, महायोगशास्त्र, योगमित्र, बामन [वेदान्तग्रन्थकार], गृहोपनिषद्, वृत्तिकार, सांख्य [कारिका], योगशास्त्र, बहुव्याख्यान, वासिष्ठ वेदान्तकारिका, रत्नशास्त्र, भोजनिषयद्, नारदीय पुराण, इतने ग्रन्थ वा ग्रन्थकार इती छोटे से भाष्य में उद्धृत हैं।

काल

पूर्वोक्त नामों में से भोज, विज्ञानेश्वर और चन्द्रिकाकार ध्यान देने योग्य हैं। चन्द्रिकाकार देवराज है। उसी ने आह्निककाण्ड भी रचा था। पण्डित पाण्डुरंग बामन काशी के अनुसार विज्ञानेश्वर का काल सन् १०७०-११०० तक है। स्मृतिचन्द्रिका का काल तेरहवीं शताब्दी ईसा का प्रथम चरण है।

आत्मानन्द का उल्लेख आता लक्ष्मीधराचार्य कौन है, यह नहीं कहा जा सकता। यह कलरतह [संवत् १२००] का कर्ता लक्ष्मीधर नहीं है। उस लक्ष्मीधर के पिता का नाम भट्टहृदयधर था, और आत्मानन्द के पिता का नाम विष्णुप्रकाशक है।

पूर्वोक्त लेख से इतना तो निश्चित हो जाता है कि आत्मानन्द संवत् १२०५ के अनन्तर हुआ होगा। वेदभाष्यकारों में से आत्मानन्द स्कन्द, उद्गीथ, आस्कर आदि को उद्धृत करता है। सामण का उल्लेख उस ने नहीं किया। इस से

अनुमान हो सकता है कि वह सायण से कुछ पहले हुआ होगा। अतः अधिक प्रमाणों की अनुपस्थिति में अभी तक १४वीं शताब्दी विरक्त आत्मानन्द का काल माना जा सकता है।

भाष्य के हस्तलेख

इस समय तक इस भाष्य के तीन ही हस्तलेख हमारी दृष्टि में आए हैं। एक बड़ोदा में, दूसरा पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में और तीसरा इण्डिया आफिस में। बड़ोदा के कोश के अन्त में उस प्रति के लिखे जाने की कोई तिथि नहीं है। लाहौर के कोश के अन्त में लिखा है—

शके १७२४ तुंदुभीना[म] संवत्सरे माहे धावण शुष्य ८ भृगुवासरे ॥

यह हस्तलेख केवल १२६ वर्ष पुराना है।

इण्डिया आफिस के हस्तलेख के अन्त में भी तिथि नहीं दी गई। परन्तु इण्डिया आफिस के प्रन्थों के सूची बनाने वाले एंगलिश महाशय के विचारानुसार यह कोश लगभग १६५० सन् ईसा का है।

शैली

अपने भाष्यारम्भ में आत्मानन्द लिखता है कि स्कन्द, उद्गीथ और भास्करादि के भाष्य अधियज्ञ विषय के हैं। कहीं कहीं निरुक्त के आश्रय से अधिदेवत विषय के हैं, परन्तु उस का भाष्य विष्णुधर्मोत्तर और शौनकादि के अनुसार अष्टमविषय का है। अपने भाष्य की समाप्ति पर वह स्पष्ट शब्दों में पुनः यही लिखता है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम् । निरुक्तमधिदेवतविषयम् ।
इदं तु भाष्यमष्टमविषयमिति । न च भिन्नविषयाणां विरोधः ।
अस्य भाष्यस्य मूलं विष्णुधर्मोत्तरम् ।

इस से कुछ पंक्ति पहले यह लिखता है—

यस्तु शाकपूण्यास्कादिनिरुक्तेष्वपि व्याख्याभेद एव ।

अर्थात्—शाकपूणि और यास्कादि के निरुक्तों में भी व्याख्याभेद है।

अत्मानन्द साहचर्यमातुर्वाह्य अद्वैतवादी है । उस के भाष्य में स्थान स्थान पर अद्वैतमत का भाव प्रकट होता है । ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध मन्त्र का आत्मानन्दकृत भाष्य नीचे उद्धृत किया जाता है । इस से उसके भाष्य का प्रकारादि सुविज्ञात हो जायगा ।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥४६॥

ननु चत्वारि वाक् [ऋ० १। १६४। ४५॥]

इति वेदार्थानां^१ नानात्वमुक्तम् । तर्हि द्वैतापत्तिरित्याशङ्क्याह^२—एकैव देवता परमात्मा । सर्वदेवता^३ एकस्यैव^४ नाना नाम । प्रहृणीत्युच्यते^५ यद्वा त्रयः केशिनः [ऋ० १। १६४। ४४॥] इत्यत्र देवतात्रित्वमुक्तम् । तर्हिन्द्रादयो न काश्चिदेवता^६ इत्याशङ्क्याह^७ एकैव देवता परमात्मा । सर्वदेवता एकस्यैव^८ नाम^९ । नामप्रहृणी त्रित्वोक्तिस्तु नानादेवतानां त्रित्वसंख्यावरोधार्थं^{१०} यज्ञादिप्रत्यर्थम् । तदुच्यते । इन्द्रं परेशमाहुः । अहञ्छहि पर्वते^{११} शिथिषाणं^{१२} [ऋ० १। १२। १२॥] इत्यादी । मित्रं परेशमाहुः । मित्रो जनान्यातय त ध्रुवाणः^{१३} [ऋ० १। ४६। १५॥] इत्यादी । वरुणं परेशमाहुः । शतं ते राजन्भिषजः [ऋ० १। २४। १६॥] इत्यादी । अग्निं परेशमाहुः । त्वमग्ने रुद्रः [ऋ० २। १। ६॥] इत्यादी । अथो^{१४} तथा । दिव्यः सूर्यः । तं^{१५} परेशमाहुः । त्रिभं देवानाम् [ऋ० १। ११। ११॥] इत्यादी । सः परेशो^{१६} गरुत्मान् सुपर्णो^{१७} इत्याहुः ।

१—लाहौर, नास्ति ।

२—लाहौर, वेदार्थानां ।

३—लाहौर, ०शङ्क्य ।

४—बकोदा, ०देवा ।

५—लाहौर, स्येन ।

६—बकोदा, प्रहृणं अग्रहणमित्युच्यते ।

७—बकोदा, कि देवता । लाहौर, किञ्चिद्देवता

८—लाहौर, ०शङ्क्य ।

९—लाहौर, स्वैव । बकोदा, नास्ति ।

१०—बकोदा, नास्ति ।

११—बकोदा, ०संख्यायामवरोधार्थं ।

१२—बकोदा, लाहौर, परिरायानं ।

१३—लाहौर, नास्ति ।

१४—लाहौर, अथोदकं ।

१५—बकोदा, तमु ।

१६—बकोदा, परेशाः सुपर्ण ।

सौपर्यपक्षममित्युतिमप्रमेयं छुद्दोमयं विविधयस्तनुं वरेण्यम्
[१] इत्यादौ । पक्षौ बृहन् भवतो रयवश्च यस्य तं नैनतेयमजरं प्रणमामि
नित्यम् [१] इत्यादौ ।^१ इदानीमग्निं परेशमाहुः । अग्निशब्दोऽत्र^२
नेत्राग्निमतो रुद्रस्य वाचकः । स्थिरेभिरङ्गैः [ऋ० १।३३।६॥] अहन् विभर्षि
(१) इत्यादौ । यमं परेशमाहुः । त्रिकद्रुकेभिः पतति [ऋ०
१०।१४।२६॥] इत्यादौ । मातरिश्वानं परेशमाहुः । आत्मा देवानां भुवनस्य
गर्भः [ऋ० १०।१६।५॥] इत्यादौ । इन्दतीति इन्द्रः । इदि परमैश्वर्ये ।
मितो हिंसातस्तावत् इति मित्रः । एवं वृणुत इति वरुणः । अत्रं नयतीत्यग्निः ।
अग्रतीत्यग्निः ।^४ अग्निं गतौ णीम् प्रापण इति गत्यर्था शानार्थाः । दिवि महापुरुष-
बुद्धौ द्योतनवत्त्वा भवो दिव्यः । शोभनो मोक्षवृक्षः^५ सुपर्णः । संतारमोक्षाभ्यां^६
गह्वरमाह । रोदयतीति रुद्रः । स एवाप्रणांत्वादग्निः । यमयतीति यमः । येन
तुष्टेन^७ मातरि मायायां क्षितो जीवः श्वेष भवति स मातरिश्वा । एतं सद्ब्रह्म । सग-
ब्रह्म ।^८ विप्रा ब्राह्मणत्वाद्यभिमानिनो^९ यज्ञादिसिद्धये बहुधाभिधानेनेन्द्रादिरूपेणाहुः ।
योजनान्तरे तु विप्रा मेधाविनः तत्त्वविदस्तु इन्द्रादिरूपेण बहुधा सद्ब्रह्म एकमाहुः ।
कल्पस्तु—

‘इन्द्रादिशब्दा गुणयोगतो वा व्युत्पत्तितो वापि परेशमाहुः’^{१०} ।

विप्रास्तदेकं बहुधा चक्ष्मि प्राज्ञास्तु नानापि सदेकमाहुः ॥

यहां कल्प से पुष्करोक्तकल्प लेना चाहिए ।

इस मन्त्र का भाष्य हम ने इसी दृष्टि से दिया है कि इस में यह प्रति-
पादित किया गया है कि सारे ही वेद का अर्थ परमात्मा में है । मन्त्रस्थ अग्नि
आदि प्रत्येक पद पर आत्मानन्द वेद के ऐसे मन्त्र देता है, जिन में उस के अनु-

१ — लाहौर, नास्ति ।

२ — बड़ोदा, ऽत्रनारित ।

३ — लाहौर, हिंसावास्तावत् ।

४ — लाहौर, नास्ति ।

५ — लाहौर, मोक्षः ।

६ — बड़ोदा, मोक्षपराभ्यां ।

७ — बड़ोदा, रुष्टेन, पुनः प्राप्ते, खृष्टेन ।

८ — लाहौर, नास्ति ।

९ — लाहौर, मन्त्रत्वात् ।

१० — बड़ोदा, वा परमेशमाहुः ।

सार अग्नि आदि शब्दों से स्पष्ट परमात्मा का ग्रहण होता है। यही नहीं, जो कल्प आत्मानन्द प्रत्येक मन्त्रभाष्य के अन्त में उद्धृत करता है, वह भी स्पष्ट इसी आध्यात्मिक अर्थ को बताता है। वह कल्प आत्मानन्द से कई शताब्दी पहले का है। मुद्रित विष्णुधर्मोत्तर में यह हमें नहीं मिला। परन्तु है वह विष्णुधर्मोत्तर का ही भाग। इस से प्रतीत होता है कि आत्मानन्द का भाष्य निराधार नहीं है। उस से बहुत पहले वेद का ऐसा आध्यात्मिक अर्थ विद्यमान था।

शाकपूणि से प्रमाण

आत्मानन्द ने जो प्रमाण शाकपूणि से दिए हैं, वे देखने योग्य हैं, अतः वे आगे दिए जाते हैं। अ० १।१५४।१५॥ के भाष्य में यह लिखता है—

चक्रं जगच्चक्रं भ्रमतीति वा चरतीति वा करोतीति वा चक्राम् इति शाकपूणिः १

पुनः मन्त्र ४० के भाष्य में यह लिखता है—

उदकम्—इति सुखनामेति शाकपूणिः २

इन में से प्रथम प्रमाण शाकपूणि के निरुक्त से है और दूसरा निषण्ड से। इस से प्रतीत होता है कि आत्मानन्द ने शाकपूणि का निरुक्त पढ़ा था। भाष्य के अन्त में उस के इस लेख से कि शाकपूणि और यास्क के निरुक्तों में व्याख्या-भेद है, "यही बात ज्ञात होता है।

आत्मानन्द का पारिडल उस के भाष्य से सुविदित है।

मेरी प्रेरणा से आत्मानन्द के भाष्य का सम्पादन हमारे अनुसन्धान विभाग के शास्त्री पं० प्रेमनिधि कर रहे हैं।

१—यह पाठ हम ने लाहौर और बड़ोदा के कोशों से शोध कर दिया है।

लाहौर के कोश में यह पाठ २० क पर और बड़ोदा के कोश में रोडो-प्रति के २२ पत्र पर है।

२—बड़ोदा, उदकं कमिति सुख०। शाकपूणि का वास्तविक पाठ क्या था, इस में अभी सन्देह है।

सायण (संवत् १३७२-१४४४)

वैदिक भाष्यकारों में सायण स्थानविशेष होता है। उस की वैदिक वाङ्मय से प्रियता, उस का विस्तृत अध्ययन, उस का विजयनगर के राज्य को सुरक्षित करना, ये सब बातें उस की असाधारण योग्यता की द्योतक हैं।

काल

बबोदा, केन्द्रीय पुस्तकालय के संस्कृत-हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में सायण के ऋग्वेदभाष्य का एक कोश है। संख्या उस की १२२११ है। यह चतुर्थाष्टक का भाष्य है। इस का प्रतिलिपि-काल संवत् १४५२ है। इस से यह निश्चित हो जाता है कि सायण संवत् १४५२ से पहले ऋग्वेदभाष्य रच चुका था।

शुक्र प्रथम, कम्पण, सङ्गम द्वितीय, और हरिहर द्वितीय, विजयनगर और उस के उपराज्यों के इन चार राजाओं का मन्त्री सायण रहा है। सायण ऋग्वेदभाष्य के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति पर लिखता है—

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक श्रीवीर-
बुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेश सायणाचार्येण विरचिते माधवीये
वेदार्थप्रकाशे ऋक्संहिताभाष्ये प्रथमाष्टके प्रथमोऽध्यायः समाप्तः।

अर्थात्—वैदिकमार्गप्रवर्तक श्री बुक्क महाराज के काल में ऋग्वेदभाष्य रचा गया था।

अपनी मुभायितमुधानिधि के आरम्भ में सायण लिखता है कि वह कम्पण राज का मन्त्री था। धातुवृत्ति, प्रार्थयित्तमुधानिधि, यज्ञतन्त्रमुधानिधि, और अलङ्कारमुधानिधि में वह लिखता है कि वह सङ्गम द्वितीय का मन्त्री था। और शतपथ आदि ब्राह्मणों के भाष्य में वह लिखता है कि वह हरिहर द्वितीय का मन्त्री था।

इन में से शुक्र प्रथम का सबसे पुराना शिलालेख शक १२७६ (संवत् १४११) का है।^१

१—देविमाफिका इतिहास भाग ३, पृ० ११५ पर जर्नल, दाम्बे भास्वरायल एशियाटिक सोसायटी भाग १२, पृ० ३८८ के प्रमाण से।

महाराज हरिहर द्वितीय शुक्ल प्रथम का पुत्र था। हरिहर द्वितीय संवत् १४३६ में राज सिंहासन पर बैठा हुआ था। वह संवत् १४३४ में भी राज कर रहा था। मैसूर पुरातत्व विभाग सन् १८१२ की रिपोर्ट में इसी संवत् के उस के एक शिलालेख मिलने की बात लिखी है। हरिहर द्वितीय की मृत्यु-तिथि अभी तक अज्ञात है। परन्तु संवत् १४५६ तक वह राज करता था, ऐसा उसके एक शिलालेख से प्रमाणित होता है।^१ आग्निहोत्र के मतानुसार सायण का देहान्त संवत् १४४४ में हो गया था।^२ हमने भी इसी तिथि को अभी तक सायण की मृत्युतिथि मान लिया है। सायण ७२ वर्ष जीवित रहा, अतः संवत् १३७२ अनुमानतः उसकी जन्मतिथि होगी।

सायण का कुल आवि

ऐपिग्रफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ११८ पर एक भग्न-शिलालेख का कुछ अंश दिया है। वह शिलालेख काशीवरम के एक मन्दिर में अन्धाधुरों में है। वह लेख आगे दिया जाता है—

स्वस्ति श्री श्रीमायी जननी पिता तव मुनिर्योधाय[नो]
माययो...ह्यो... भूष्णुरनुजः श्रीभोगन[र]थः कविः स्वा-
[मी] [संग[म]भूष[तिः]... पूथी[क]ण्ठनाथो गुरुभारद्वाज-
[कु]लेश सा[य]ण गुणैस्वत्त

इस लेख में सायण को सम्बोधन करके कहा गया है कि तुम्हारा गोत्र भारद्वाज है, सूत्र बोधायन है, माता श्रीमायी है, पिता मायण है, कनिष्ठ भ्राता कवि भोगनाथ है, स्वामी संगन है, और गुरु श्रीकण्ठनाथ है।

यही बात सायण के बड़े भ्राता माधव के लेख से स्पष्ट होती है। पराशर-स्मृति की टीका में माधव लिखता है—

श्रीमती जननी यस्य सुकीर्तिर्मायणः पिता।

सायणो भोगनाथश्च मनोबुद्धी सहोदरी ॥

१—ऐपिग्रफिया इण्डिका, भाग १, पृ० ११७ ॥

२—ब्रह्मसूत्र, पृ० ७११॥

यस्य बोधायनं सूत्रं शाखा यस्य च याजुरी ।

भारद्वाजकुलं यस्य सर्वज्ञः स हि माधवः ॥

अर्थात्—माता श्रीमती, पिता मायण, सायण भोगनाथ दो छोटे भाई,
सूत्र बोधायन, याजुष शाखा, भारद्वाज गोत्र जितका, ऐसा सर्वज्ञ माधव है ।

अलङ्कारसुधानिधि के लेख से भी यही बात ज्ञात होती है—

महेन्द्रवर्माननीयो मंत्री मायणसायणः ।

मण्डलेषु कृतचारमण्डलः सायणो जयति मायणात्मजः ।

मंत्री मायणसायणस्त्रिजगतीमान्यापदानोदयः ।

इति श्रीमत्पूर्वपाश्चिमदक्षिणोत्तरसमुद्राधिपति बुकराजप्रथम-
देशिकमाधवाचार्यानुजग्मनः श्रीमत्संगमराजसकलराज्यधुरंधरस्य
सकल-विधानिधानभूतस्य भोगनाथाग्रजग्मनः श्रीमत्सायणाचार्यस्य
कृतावलङ्कारसुधानिधौ

इन पंक्तियों से भी पूर्वोक्त अभिप्राय ही निकलता है ।

गत पृष्ठ पर जो शिलालेख उद्धृत किया गया है, उससे पता चलता है कि
श्रीकण्ठनाथ सायण का गुरु था । ऋग्वेदादिभाष्यों के आरम्भ में सायण विद्या-
तीर्थ को अपना गुरु कहता है । अतः सायण के दो या इस से अधिक गुरु होंगे ।

अलङ्कारसुधानिधि से यह भी ज्ञात होता है कि कम्पण, मायण और
शिङ्गण नाम के सायण के तीन पुत्र थे । महाराज सन्नम को उस के बाल्यकाल
से सायण ने स्वयं पकाया था । सायण भगवान् व्यास का अवतार था । सायण
बोधा भी था । किती चम्पराज पर उस ने विजय प्राप्त की थी—

दिष्ट्या दैष्टिकभायसंभूतमहासंपद्दिशेषोदयं

जित्वा चम्पनरेन्द्रमूर्जितयशाः प्रत्यागतः सायणः ॥

उस विजय का समाचार अलङ्कारसुधानिधि के इस श्लोक में है ।

जनसाधारण में एक भ्रम है कि विद्यारण्यस्वामी या तो सायण था, या
माधव । यह नाम संन्यासी होते समय दोनों में से किसी एक ने धारण किया ।
यह बात सर्वथा भ्रमजन्य है । विद्यारण्य इन दोनों से पृथक् एक तीसरा
व्यक्ति था ।

इस बात की विस्तृत विवेचना २० राम राव के इण्डियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली दिसम्बर १९३०, पृ० ७०१-७१७ तथा मार्च सन् १९३१, पृ० ७८-८२ के लेखों में की गई है। सायण सम्बन्धी जो लेख हम ने अब तक किया है, उस का आधार एपिग्राफिया इण्डिका भाग ३, पृ० १३८, ११८ और इण्डियन एरडीफरी सन् १९९९, पृ० ३-६ और १७-२४ है।

सायण का ऋग्वेदभाष्य

सायण बड़ा विद्वान् था, इस में किसी को सन्देह नहीं। परन्तु यह राज-मन्त्री भी था। विजयनगर राज्य के मन्त्री के कार्य को करते हुए वह इतनी विपुल-ग्रन्थ-राशि को लिखने के लिए कितना समय निकाल सकता था, यह विचारणीय है। हमारा विचार है कि ऋग्वेद का भाष्य करते समय सायण का सहायक भाष्यकार कोई बड़-भारी ऋग्वेदीय ब्राह्मण था।

मैक्समूलर अपने 'उपोद्घात' में लिखता है कि ऋ० १।३६४।३१॥ के भाष्य में सायण अस्मद्ब्राह्मण कह कर ऐतरेय-ब्रा० का प्रमाण देता है। यदि यह बात सच होती तो और भी निश्चित हो जाता कि सायण का सहायक कोई ऋग्वेदीय ब्राह्मण था। तैत्तिरीयशाखाभेदा सायण ऐतरेय ब्राह्मण को अस्मद् ब्राह्मण नहीं कह सकता था। परन्तु अस्मद् ब्राह्मण वाला प्रमाण ऐ० ब्रा० या तै० ब्रा० दोनों में नहीं है।

संवत् १४४३ का एक लाघपत्र है। यद्यपि मूल में उस के कई पत्र रहे होंगे, परन्तु अभी तक उन में से मिला एक ही है। उस में लिखा है कि "वैदिक-मार्गप्रतिष्ठापक" महाराज हरिहर द्वितीय ने तीन ब्राह्मणों को विद्यारण्यश्रीपाद की उपस्थिति में कुछ ग्राम दान किए। ये ब्राह्मण "धर्मब्राह्मण्य" अर्थात्—धर्म और वेद के मार्ग पर चलने वाले थे। ये चारवेदों के भाष्यों के "प्रवर्तक" भी थे। उन के नाम हैं—(१) नारायण वाजपेययाजी, (२) नरहरिसोमयाजी और (३) पण्डरी दीक्षित। सम्भाव है इन्हीं ब्राह्मणों की तीन कुलें हों जिन की अब तक भी ग्रेजरी मठ में प्रतिष्ठाविशेष होती है। संवत् १४३७ का एक और लेख है जिस के अनुसार नारायण वाजपेययाजी को कुछ और दान मिला था।

इन लेखों का उल्लेख मैसूर पुरातत्त्वविभाग की रिपोर्ट सन् १९०८ और एपिग्राफिका कार्णाटिका भाग ९ में है। यही के प्रमाण से इण्डियन एण्टीकरी सन् १९१९ के पृ० १८ पर इन का कुछ वर्णन है। हमारे लेख का आधार इण्डियन एण्टीकरी है।

ताम्रपत्रों की पूर्वोक्त घटना से यह अनुमान होता है कि ये तीनों ब्याक्ति वेदभाष्यों के करने में सायण के सहायक रहे होंगे।

श्रुग्वेदभाष्य की रचना में सायण के अनेक सहायक थे, ऐसा विचार परलोकगत डा० मुखे का भी है। देखो सर आशुतोष मुखर्जी सिल्वर जुम्बी काल्यूम्स, थोरिएण्टेलिया, भाग ३, पृ० ४६७—४७६।

सायण का ऋग्वेदभाष्य बालिकपद्धति का एक उज्ज्वल उदाहरण है। इस के करने में उस ने स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के भाष्यों से यही सहायता ली है। दशम मण्डल के उद्गीथभाष्य के कोई तीस सूक्तों के साथ हम ने सायणभाष्य की तुलना की है। उस से सहसा यह बात सिद्ध होती है कि कई स्थानों पर तो सायण उद्गीथ की नकल ही कर रहा है। दो बार शब्द बदल कर वह उद्गीथ का ही भाष्य लिख देता है।

इसी ग्रन्थ के पृ० २३, २४ पर सायणभाष्य के पाठों के विषय में हम जो कुछ लिख चुके हैं, वह भी ध्यान रखने योग्य है। सायणभाष्य का मैक्समूलर का संस्करण यद्यपि बहुत अच्छा है, परन्तु फिर भी उसे अधिक अच्छा करने का स्थान है। इस काम में बड़ोदा के संवत् १४५२ के हस्तलेख की सहायता अवश्य लेनी चाहिए।

कामज और वीथज सात मर्यादा हैं। इन के तमन्व्य में श्रु० १०।५।६॥ पर मैक्समूलर सम्पादित सायणभाष्य में लिखा है—

पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डः पारुष्यमन्यदूपणमिति ।

इस पंक्ति पर पाठान्तरों की टिप्पणी में मैक्समूलर लिखता है कि मनु ७।५०, ५१॥ के प्रमाण से अर्थदूपणम् पाठ अधिक युक्त है, परन्तु सारे हस्तलेख अन्यदूपणम् की ओर ही संकेत करते हैं। वस्तुतः पाठ अर्थदूपणम् ही चाहिए। कौटल्य अर्थशास्त्र ८।३॥ के अनुसार भी यही पाठ उचित है। इस से प्रतीत

होता है कि सायण के ऋग्वेदभाष्य का पुनः अग्रपूर्वक सम्पादन होना चाहिए । इस समय शाव्यायन ब्राह्मण आदि के अनेक ग्रन्थ भी मिल चुके हैं, जो मैक्समूलर को नहीं मिल सके और जिन के प्रमाण सायण ने अपने ऋग्भाष्य में दिए हैं । उन का भी नूतन संस्करण में उपयोग करना चाहिए ।

सायणकृत-ऋग्भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार

मैक्समूलर ने स्वसम्पादित सायण-ऋग्भाष्य के उपोद्घात में सायणोद्धृत ग्रन्थों वा ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है । वही से लेकर हम इस विषय का आगे निदर्शन करते हैं ।

ब्राह्मण ग्रन्थों में से शाव्यायन, कौषीतकि, ऐतरेय, तैत्तिरीय, तात्पर्य और शतपथ बहुत उद्धृत हैं । सायण चरकब्राह्मण भी उद्धृत करता है । इस का मैक्समूलर ने लेख नहीं किया ।

अपनी धातुवृत्ति के सम्बन्ध में ऋ० १।५।१८॥ पर सायण लिखता है—

इत्यस्माभिर्धातुवृत्तायुक्तम् ।

अन्यत्र भी सायण धातुवृत्ति को उद्धृत करता है । देखो ऋ० १।४२.७॥ भाष्यप्रस्तावना में वह जैमिनीय न्यायमालाविस्तर को सङ्ग्रहसूक्तों के नाम से उद्धृत करता है । न्यायमालाविस्तर उस का अपना रचा हुआ ग्रन्थ नहीं है । यह उस के प्राचा माधव की कृति है । इस के सम्बन्ध में सायण के शब्द देखने योग्य हैं । सायण लिखता है—आरचयति । यह पद सायण अपने लिए नहीं लिख रहा ।

ऋग्वेदभाष्य लिखने से पहले सायण तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक का भाष्य लिख चुका था ।

वेदभाष्यकारों में से भट्टभास्करमिश्र ऋ० १।६३।४॥ पर उद्धृत है । ऋ० ६।१।१३॥ में वह भरतस्वामी का नाम लेता है । ऋ० १।५८।५॥ और ५।१२।३॥ पर स्कन्दस्वामी के भाष्य से प्रमाण मिलते हैं । उद्गीथ का वचन ऋ० १०।४६।५॥ पर मिलता है । माधवभट्ट की पंक्ति ऋ० १०।८६।१॥ पर लिखी गई है ।

कपर्दी स्वामी का उल्लेख ऋ० १।६०।१॥ पर मिलता है। ऋ० १।१७॥ की भूमिका में श्रौतसूत्रकर्ता भारद्वाज वर्णित है। आपस्तम्ब सूत्र भी बहुधा उद्धृत है। ऋ० ५।४०।१॥ पर हारिद्रविक ब्राह्मण का नाम मिलता है। तैत्तिरीय प्रतिशास्त्र को भी सायण उद्धृत करता है। याज्ञकीय निरुक्त और निषण्ड के प्रमाणों से तो यह भाष्य भरा पड़ा है। डा० स्वरूप ने सायणोद्धृत निरुक्त के चारे पाठ एक स्थान में एकत्र कर दिए हैं।^१

अपने से पूर्व के भाष्यकारों को सायण—केचन, अन्य आह, अपर आह, कश्चिदाह, संप्रदायविदः आदि ही कर कर संतुष्ट रहता है। वह उन के नामादि नहीं बताता।

इन के अतिरिक्त और भी अनेक ग्रन्थकार हैं जिन के प्रमाणों से सायण का भाष्य अलङ्कृत है। उन के नाम भाष्य के पाठ से ही जानने चाहिए।

पूना में इस भाष्य का नया संस्करण

गतवर्ष पूना से मुझे एक महाशय का पत्र आया था कि वह मायण के अष्टभाष्य का नया संस्करण तैयार कर रहे हैं। उस में उन्होंने ने लिखा था कि वाजसनेयकम् के नाम से जो प्रमाण सायण ने दिए हैं, वे काण्व और माध्यन्दिन दोनों शतपथों में ठीक उन्हीं शब्दों में नहीं मिलते। मेरा भी इस से पहले यही विचार था। वाजसनेयकों के सम्भवतः १५ ब्राह्मण ग्रन्थ थे। सायण उन में से किस का उपयोग करता है, यह हम नहीं कह सकते। आशा है, पूना का नया संस्करण अधिक उपयोगी होगा।

सायण के अन्य ग्रन्थ

सायण रचित जितने ग्रन्थों का अब तक पता लग चुका है, उन का नाम यहां दे देना उचित ही है। इसी लिए अब उन की सूची दी जाती है।^२

(१) धातुवृत्ति।

(२) वैदिकभाष्य, अर्थात्—तैत्तिरीय, ऋक्, काण्व यजुः, साम, अथर्व संहिताओं के भाष्य। तैत्तिरीय, ऐतरेय, साम अष्टब्राह्मणों के भाष्य, तै० आरण्यक,

१—निरुक्त की सूचियां। पृ० २६३—३५२।

२—देखो, दृष्टिगन्धर्व विद्यापिठक काँटगरी दिसम्बर १९३०, पृ० ७०६, ७०७।

ऐ० आरस्यक भाष्य । ऐ० उपनिषद् दीपिका ।

(३) शुभाशितशुभानिधि ।

(४) प्रायश्चित्त शुभानिधि अथवा कर्मविपाक ।

(५) अलङ्कार शुभानिधि ।

(६) पुरुषार्थ शुभानिधि ।

(७) मन्त्रयन्त्र शुभानिधि ।

सायण के राज्य-प्रतिष्ठा-सम्बन्ध होने से ही सायण के वैदिक भाष्यों का बहुत प्रचार हो गया, और इसी कारण से उस के पहले के वेदभाष्य मिलने भी कठिन हो गये । इसे ईश्वर-रूपा ही समझना चाहिए कि सायण का इतना प्रभाव बढ़ जाने पर भी प्राचीन भाष्यों के कुछ हस्तलेख अब मिल गए हैं ।

रावण (सोलहवीं शताब्दी निकम से पूर्व)

प्रथम सूचना ।

जनवरी १४ सन् १८५५ के एक पत्र में फिट्ज़ एडवर्ड हाल बनारस से मैक्समूलर को लिखते हैं—

“क्या आपने रावण का ऋगभाष्य कभी सुना है । सूर्यपरिब्रत अपनी परमार्थप्रभा में, जो भगवद्गीता पर एक टीका है, लिखता है कि उसने इसे देखा है । मुझे यह भी कहा गया है कि किसी याज्ञव्य शास्त्र पर भी रावण का भाष्य अभी तक विद्यमान है ।”

पुनः एशियाटिक सोसायटी बंगाल के जर्नल^१ के सन् १८६२ के दूसरे अंक में फिट्ज़ एडवर्ड हाल का मुम्बई एप्रिल ११, सन् १८६२ का एक और पत्र छपा है । उस में लिखा है—

किसी रावण ने वेदों के कुछ भाग पर भाष्य किया, ऐसा संकेत मल्लारि

१ — ऋग्वेदभाष्य, प्रथम संस्करण के तीसरे भाग का अपोद्धात । दूसरा संस्करण पृ० ४८ । हम ने मूल में बंगरेजी पत्र का अनुवाद दिया है ।

२ — पृ० १२६ ।

करता है। देखो, महाताप, कलकला संस्करण, पृ० ५। अजमेर, ग्वालियर और अन्यत्र भी पण्डितों ने मुझे बार बार निश्चय कराया है कि उन्होंने रावण भाष्य देखा ही नहीं, प्रत्युत ऋग्वेद और यजुर्वेद पर उन के पास भी सारा रावणभाष्य रहा है। इस विषय में बह मुझे धोका नहीं दे रहे थे।

तदनन्तर हाल महाशय ने रावणभाष्य का उपलब्धता प्रकाशित किया है।

रावण को स्मरण करने वाले सूर्यपण्डित का परिचय

फिट्ज़ एडवर्ड हाल लिखता है, कि भगवद्गीता पर परमार्थप्रपा नाम की टीका लिखने वाले दैवज्ञ सूर्यपण्डित ने सीतावती पर अपनी टीका सन् १५३८ में लिखी थी। अर्थात् इस बात को अब सात कम ४०० वर्ष हुए हैं। सीतावती की टीका के अन्त में सूर्यपण्डित ने स्वयं यह लिखा है।

सन् १६१२ में मुम्बई के गुजराती प्रेस से अष्टाद्विधोपेत एक गीता छपी है। उस के सम्पादक का नाम है शास्त्री जीवार्त्त लक्ष्मुराम। उस में सूर्यपण्डित की परमार्थप्रपा भी छपी है। उस के अन्त में लिखा है—

गोक्षोदकतटपूर्णतीर्थनिकट पार्थाभिधानं पुरं

तत्र ज्योतिष्कान्वये समभवच्छ्रीज्ञानराजाभिधः।

तत्सन्नुनिगमागमार्थनिपुणः सूर्याभिधानः कविः

कृष्णप्रेरणा तदर्पणधिया गीतार्थभाष्यं व्यधात् ॥

अर्थात्—गोदावरी के तट पर पूर्णतीर्थ के निकट पार्थ नाम का नगर है। वहां ज्योतिषियों के कुल में श्री ज्ञानराज नाम का प्राकृत था। उसका पुत्र सूर्य नाम का कवि वेद शास्त्र के अर्थ में निपुण था। उसी ने श्री कृष्ण की प्रेरणा से गीताभाष्य रचा।

सूर्यपण्डित की गीताटीका की भूमिका से निम्नलिखित बातें श्राव्य होती हैं। सूर्यपण्डित का गुरु सम्भवतः चतुर्वेदार्थ्य अथवा चतुर्वेदस्वामी था। चतुर्वेदस्वामी ने एक ऋग्वेदभाष्य रचा था। उसका परम गुरु श्री बशोदा-किशोर था।

सूर्यपण्डित-रचित-ग्रन्थ

सूर्यपण्डित ने एक सामभाष्य भी रचा था। गीता ११।३॥ की टीका में

वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य सासः प्रवृत्तिरापस्तम्बशाखायाम्—
विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि..... इति । अत्र सामगायने स्तोभस्तो-
मादिलक्षणमस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम् ।

गीता ११।५५॥ पर वह लिखता है कि उसने भक्तिश्रुत ग्रन्थ रचा था ।
गीता १।४३॥ ८।१९॥ और १०।३४॥ आदि पर वह अपने रचे शतश्लोकभाष्य
का नाम लेता है । इस में श्रुतियों की व्याख्या होगी ।

सूर्यपंडित की लीलावती टीका का उल्लेख पहले हो चुका है ।

सूर्योद्भूत ग्रन्थविशेष ।

गीता ६।३२॥ पर वह सामदर्पण का नाम लेता है । १०।३५॥ पर
गायत्री मन्त्र की व्याख्या के सम्बन्ध में वह किसी कण्वसंहिताभाष्यकार
को स्मरण करता है । १७।२३॥ पर वह सर्वानुक्रमकार शाकल का नाम
लेता है ।

रावण का श्रुतभाष्य ।

कई विद्वान् सन्देह किया करते हैं कि लेखक प्रमाद से सायण का भ्रंश
ही रावण हो गया है । वह बात ठीक नहीं । एक तो रावणभाष्य सायणभाष्य
से सर्वथा भिन्न है और दूसरे सूर्यपंडित का निम्नलिखित लेख इस सन्देह
को सदा के लिए दूर कर देता है । गीता ११।३३॥ पर वह लिखता है—

सायनभाष्यकारैराधिदैविकाभिप्रायेण बाह्यसंग्रामविषयो
दर्शितः । रावणभाष्ये तु अर्थात्मरीत्याभ्यन्तरसंग्रामविषयो
दर्शितः । घोटभाष्ये (!) तृमयमपि ।

सूर्यपंडित का यह लेख ऋ० ९।४९।१॥ पर प्रतीत है । इस का
अभिप्राय यह है कि सायण का अर्थ आधिदैविक है । रावण का आध्यात्मिक
है । घोट पद उचट का नम्र प्रतीत होता है । यह मन्त्र यजुर्वेद २७।३७॥ भी
है । इस लिए सम्भव है सूर्य के मन में उचट का ध्यान हो ।

१—२।५॥ और ८।१९॥ पर भी एक आपस्तम्बसंहिता का प्रमाण उद्भूत है ।

यहाँ रावण और सायण दो भिन्न २ भाष्यकार माने गए हैं ।

फिद्ज एडवर्ड हाल ने रावण का जो मन्त्रभाष्य एकत्र किया है, उस की तुलना मैंने अपने संग्रह से नीचे की है ।

हाल	मुद्रित-गीता-टीका	गीता-स्थान
अ० १।२२।२०॥	१।२२।२०॥	५।२८॥
१।२२।२१॥	१।२२।२१॥	"
१।१६४।२०॥	१।२६४।२०॥	८।४॥
३।८।४॥	नास्ति	
१०।७१।९॥	१०।७१।९॥	१०।११॥
१०।७१।८॥	१०।७१।८॥	३।१८॥
१०।७१।६॥	१०।७१।६॥	३।१८॥
२०।७१।१०॥	१०।७१।१०॥	६।३३॥
नास्ति	१०।८१।२॥	६।१०॥
१०।१०७।१॥	१०।१०७।१॥	१८।६८॥
१०।११४।३॥	१०।११४।३॥	७।१४॥
१०।११४।४॥	१०।११४।४॥	७।१४॥
नास्ति	१०।१२६।१॥	६।१०॥
"	२०।१२६।२॥	६।१०॥

इस प्रकार मुद्रितटीका में रावण के नाम से दिए हुए तीन ऐसे स्थान हैं, जो हाल के हस्तलेख में या तो निर्दिष्ट नहीं थे या उनकी दृष्टि से रह गए हैं । और एक स्थान वहाँ ऐसा था, जो मुद्रित टीका में निर्दिष्ट नहीं है ।

रावणभाष्य के इन अंशों के पाठ से प्रतीत होता है कि रावण शाङ्कर-मतानुयायी वेदान्ती था । उसका भाष्य सरल और योग्यता से लिखा हुआ है । वह आत्मानन्द के परचात्त हुआ होगा । आत्मानन्द का भाष्य उसी ढंग का है । अतः यदि आत्मानन्द को उस का पता होता तो अपने मत की पुष्टि के लिए वह उस का प्रमाण अवश्य देता ।

किसी वेदान्त ग्रन्थ से रावण ने एक श्लोक उद्धृत किया है । यदि उस श्लोक का मूल स्थान ज्ञात हो जाए तो रावण के काल का कुछ निश्चय हो

सकता है। वह श्लोक ऋ० १०।११।१॥ के भाष्य में है —

यथा स्वप्नमुद्धर्ते स्यात् संवत्सरशतभ्रमः ।

तथा मायाविलासोऽयं जायते जाग्रति भ्रमः ॥

रावण-कृत ऋग्वेद का पदपाठ ।

ऋग्वेद का प्राचीन पदपाठ शाकल्यकृत है। रावण ने ऋग्वेद का भाष्य ही नहीं रखा, प्रत्युत उसने ऋग्वेद का पदपाठ भी किया था। उस के पदपाठ के सप्तमाहक का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है। उस के अन्त में निम्न-लिखित लेख है—

॥ इति सप्तमाहके ऽष्टमोऽध्यायः ॥ इति रावणकृत पदसप्तमाहकः समाप्तिमगात् ॥ सप्तमाहकस्य वर्गा अष्टचत्वारिंशदुत्तरे शतद्वयं २४८ परिधायकं १७२६ दुर्मनौ शके १५६४ वर्षर्ता आपादे मासि कृष्णपक्षे त्रयोदश्यां भृगुवासरे आर्द्राशुक्ले हर्षणयोगे शर्वर्या महाजनी भास्करज्येष्ठात्मजहरिणा लिखितं कर्कस्थयो रयिबुधयोः सिंहस्थे गुरौ केतौ च मिथुनस्थे शुके मीनस्थे मंदे कुंभस्थयो राहुमंगलयोर्मिथुनस्थे चंद्रमसि ॥

वह हस्तलेख २५६ वर्ष पुराना है। इस से भी निश्चित होता है कि रावण ने वेदविषय में पर्याप्त परिश्रम किया था।

रावणकृत पदपाठ शाकल्य के पदपाठ से कुछ भिन्न है। ऋ० १०।२७।२४० में—मा स्मैतादृक् का पदपाठ रावण ने मा । अस्मै । तादृक् । पढ़ा है। यही पदपाठ उद्गीथ ने स्वीकार किया है, और यही दुर्ग ने निदहं ५।१९॥ के व्याख्यान में। देखो, इस ग्रन्थ का पृ० २३ । रावण के पदपाठ को किसी शोधक ने पीछे से शाकल्यानुसारी बनाने की चेष्टा की है।

ऋ० १०।१२६।१॥ में शाकल्य दो पद पढ़ता है—कुह कस्य । इस के स्थान में रावण अपने भाष्य में लिखता है—

कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य

अर्थात्—रावण कुहकस्य एक पद मानता है। वर्तमान ऋग्वेदसंहिता के अनुसार स्वर की दृष्टि से शाकल्य का पदपाठ ही ठीक है, परन्तु सम्भव हो सकता

है कि रावण की दृष्टि में कोई दूसरी शाखा रही हो। यह बात-ध्यान से देखने योग्य है कि भिन्न २ शाखाओं में स्वर कितना बदला है।

हमारे मित्र श्री राम अनन्तरूप शास्त्री अपने २६ सितम्बर १९३१ के पत्र में लिखते हैं कि उनकी तीस वर्ष की पुरानी दायरी में यह लिखा है कि रावणभाष्य चतुर्थ संतान्दी हला का प्रन्वकार है।

इस के लिए उनके पास क्या प्रमाण हैं, यह हम नहीं कह सकते। रावणभाष्य इन्हें के लिए पूर्ण यत्न होना चाहिए।

मुद्रगल (संवत् १४७०-१४७६)

फिज़ एडवर्ड हाल के जिस पत्र का उल्लेख पृ० ६२ पर किया गया है, उसी पत्र में हाल महाशय ने मैक्समूलर को मुद्रगल के ग्रन्थ का पता दिया था। मुद्रगल के भाष्य के जिस कोश का वर्णन डा० हाल ने किया है, वह अब इण्डिया आफिस में है। एक प्रति मैसूर के राजकीय ग्रन्थ भण्डार में है। देखो संख्या ४६५०। यह प्रथमाष्टक तक ही है। तीसरी प्रति चतुर्थाष्टक के लगभग पाँचवें अध्याय तक की हमारे पुस्तकालय में है। देखो संख्या ५५५७। इण्डिया आफिस की प्रति ॥ संवत् १४७—॥ की है। ७ के अगले अङ्क के न होने से इस का ठीक काल नहीं जाना जा सकता। अतः हम ने संवत् १४७०—१४७६ ही इस के लिखे जाने का काल मान कर वही काल मुद्रगल का मान लिया है।

मुद्रगल सायणभाष्य का संक्षेप करता है

हाल और मैक्समूलर का कथन है कि मुद्रगल सायणभाष्य का संक्षेप करता है। मुद्रगलभाष्य में व्याकरण सम्बन्धी सारा व्याख्यान छोड़ दिया गया है। यह बात सर्वथा सत्य है। मुद्रगल अपने भाष्यारम्भ में स्वयं इस बात को मानता है—

आलोच्य पूर्वभाष्यं च बहुवृत्तस्य समन्ततः।

गहनं मन्यमानेन सुयोधेन समुद्धृतम् ॥

नवमीतं यथा क्षीरात् सिकतायाश्च काञ्चनम्।

तथा समुद्धृतं सारं प्राणिनां बोधसिद्धये ॥

मौद्गल्यगोत्रेण च मुद्गलेन छात्मानुभूतेन सुसंस्कृतेन ।

यथार्धभूतेन सुसाधकेन समुद्धृतं सारमिमं वरिष्ठम् ॥

अर्थात्—ऋग्वेद के भाष्य को अच्छे प्रकार देखकर, और उसे कठिन समझ कर मौद्गल्य गोत्र वाले मुद्गल ने यह सुन्दर सार निष्कृता है । जैसे दूध से मक्खन निष्कृता जाता है, वैसे ही यह है, इत्यादि । यह भाष्य सायण का ही संक्षेप है, अतः इस के विषय में अधिक नहीं लिखा जाता ।

सायणभाष्य के सम्पादन में मैक्समूलर ने इस से बड़ी सहायता ली थी । सायणभाष्य के भाषी सम्पादकों को भी यह बात ध्यान में रखनी चाहिए ।

चतुर्वेदस्वामी (सोलहवीं शताब्दी विक्रम का पूर्वार्ध) ।

जैसा पृ० ६१ पर लिखा गया है, चतुर्वेदस्वामी सूर्यपरिचित का गुरु था । सूर्यपरिचित का संक्षिप्त वर्णन पृ० ६१-६४ तक कर दिया गया है । सूर्यपरिचित के गीताभाष्य के आरम्भ के पाठ से अनुमान होता है कि चतुर्वेदस्वामी ने भी ऋग्वेद पर या कुछ आर्यभृतियों पर भाष्य किया था । उसका भाष्य साम्प्रदायिक शैली का कैसा ज्वलन्त प्रमाण है, यह अगली पंक्तियों से दृष्टिगत होगा ।

जज्ञान एव व्यबाधत स्पृधः प्रापश्यद्दीरो अभिपौंस्यं रणम् ।

अवृश्चदद्रिमिव सस्पदः सृजदस्तभ्रात्राकं स्वपस्यया पृथुम् ॥

ऋ० १०।११३।४॥

अत्र चतुर्वेदस्वामिकृतभाष्यम् । यः परमेस्वरो जज्ञानः प्रादुर्भूत-
मात्रो मायया बालदशां स्वीकृत्वाऽपि सन् स्पृधः स्पर्धा कृतवतः शत्रून्
पुतनादीन् कंसान्तान् व्यबाधत बाधितवान् । न केवलं दैत्यान् अपितु सका-
दीनां गर्वमपीत्याह । यो अद्रिं पर्वतं गोवर्धनम् अवृश्चत् उदधार ।
किमुद्विश्य । सस्यदो धान्यदातृन् मेघाननवरतं वर्षमाणान् अवसृजत
विसृजितवान् । तेन पृथुं सामर्थ्यवन्तं नाकम् इन्द्रलोकम् स्वपस्यया मायया
अस्तभ्रात् स्तम्भितवान् स्तम्भितशक्तिमकरोत् । अथ यौवनदशायामपि अभि-

पौरुषं सर्वपुरुषार्थसाधकं रणं कुरुपाण्डवसंग्रामं वीरोऽपि सन् अपश्यत्
तटस्थेन दृष्टवान् न तु स्वयं युयुधे ।^१

अर्थात्—उत्पन्न होते हुए ही बालक कृष्ण ने युद्ध में पूतनादि से
कंस तक शत्रुओं को मारा, और गोवर्धन पर्वत को उठाया। धान्यदेने वाले
भेषों की निरन्तर वर्षा को बन्द किया। उसने सामर्थ्यवान् इन्द्रलोक को अपनी
माया से स्तम्भित कर दिया। और युवावस्था में भी सब पुरुषार्थों के सिद्ध
करने वाले कौरवपाण्डवों के युद्ध को वीर होते हुए भी तटस्थ भाव से देखता
रहा। स्वयं युद्ध नहीं किया।

क्या विविध अर्थ है, परन्तु श्रीकृष्ण की अद्भुत श्रद्धा में निमग्न
आचार्य को ऐसा अर्थ करके असीम प्रसन्नता हुई होगी। वह चित्त में
विचारता होगा कि देखो हमने इस श्रद्धा का कैसा सुन्दर अर्थ लगाया।
आज तक किसी दूसरे आचार्य को यह नहीं सूझा। अस्तु, हम ने तो
साम्प्रदायिक भाव दिलाने के लिए ही इस मन्त्र का भाष्य यहां उद्धृत
किया है।



देवस्वामी। भट्टभास्कर। उवट

देवस्वामी, भट्टभास्कर और उवट ने भी ऋग्वेद पर अपने भाष्य रचे
थे। इन भाष्यों का भी बाकी अनुसन्धान करने वालों को पता लगाना
चाहिए।

देवस्वामी—हमारे मित्र श्री रामअनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुझ से स्वयं
कहा था कि उन्होंने एक स्थान पर देवस्वामी के ऋग्वेदभाष्य का कोई अंश
देखा है। अपने पत्रों में भी उन्होंने यही बात मुझे लिखी थी। उनके कथन
से मुझे कुछ २ विचार होता था कि ऐसा सम्भव हो सकता है। देवस्वामी ने
ऋग्वेद पर भाष्य किया, इस अनुमान को निम्नलिखित बातें पुष्ट करती हैं।

१—देवस्वामी ने आश्वलायन श्रौत और गृह्य पर अपने भाष्य रचे
थे। वे दोनों भाष्य अब भी अनेक पुस्तकालयों में मिलते हैं। इस से

१—सूर्यपण्डित के गीताभाष्य का आरम्भ।

सम्भव प्रतीत होता है कि ऋग्वेदीय श्रौत आदि पर भाष्य करने वाले आचार्य ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो ।:

२—महाभारत के दुष्कर श्लोकों पर विमलबोध ने टीका लिखी है । यह महाभारतस्थ अखिलसम्बन्धी श्लोकों की टीका में लिखता है—

मया भोजजन्मेजयाचार्यदेवस्वामिवेदनिघण्टुविभाडनुवा-
कार्यपर्यालोचनेनायमर्थः कृतः ।

अर्थात्—मैंने भोज, जन्मेजय, देवस्वामी, वेदनिघण्टु और श्रु० १०। १०१॥ का अर्थ देखने के यह अर्थ किया है ।

देवस्वामी ने महाभारत पर टीका लिखी हो, ऐसा कोई साक्ष्य अभी तक हमारे देखने में नहीं आया । इस से प्रतीत होता है कि विमलबोध का अभिप्राय देवस्वामी के ऋग्वेदभाष्य से हो सकता है ।

देवस्वामी का काल ।

प्रपञ्चहृदय के दर्शनप्रकरण में लिखा है कि आचार्य देवस्वामी ने सम्पूर्णमीमांसा पर उपवर्षभाष्य के संक्षेपरूप में अपना भाष्य रचा था । यह भाष्य शबरस्वामी के भाष्य का आधार बना । यह देवस्वामी ही यदि ऋग्वेद भाष्यकार देवस्वामी है, तो इसका काल विक्रम से कुछ पूर्व च ही होगा ।

भट्टभास्कर—आपर्ट अपने सूचीपत्र भाग २ पृ० ५११ पर भट्टभास्कर के ऋग्वेदभाष्य का पता देता है । भट्टभास्करकृत ऐतरेयब्रा० भाष्य का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है, अतः सम्भव हो सकता है कि ऐतरेय ब्रा० पर भाष्य करने वाले भट्टभास्कर ने ऋग्वेद पर भी अपना भाष्य किया हो ।

उपट—डा० राज पाण्डी बोरिएण्टल कान्फ्रेंस के लेख में पृ० २६१ पर लिखते हैं, कि “निघण्टु १।४।११॥ पर देवराज उपट से एक पंक्ति उद्धृत करता है । वह पंक्ति अमात्य पद सम्बन्धी है । अमात्य शब्द यजुर्वेद भाष्यन्दिन संहिता में एक बार ही आया है । वहाँ उपट के भाष्य में देवराजोद्धृत पंक्ति का कोई चिन्ह नहीं है । अमात्य शब्द श्रु० ७।१५।१॥ में भी है । अतः सम्भव हो सकता है कि देवराजोद्धृत पंक्ति उपट के ऋग्वेदभाष्य में हो ।”

उपट का ऋग्वेद पर कोई भाष्य था, उसे सिद्ध करने के लिए डा० राज

का यह लेख अपूर्वा है। देवराजोद्भूत उषट की पंक्ति उस के याज्ञुषभाष्य ३।१२॥ में मिलती है। अतः उषट ने ऋग्वेदभाष्य किया, इस के लिए कोई अन्य प्रमाण खोजना चाहिए।

आश्वलायनकृत ऋग्वेद सर्वानुक्रमणी पर किसी उषट का एक भाष्य हमारे पुस्तकालय में है। वह भाष्य बड़ी योग्यता से लिखा गया है। उषट ने ऋग्वेद प्रातिराक्य पर भी भाष्य लिखा था। अतः सम्भव हो सकता है कि उस ने ऋग्वेद पर भी भाष्य किया हो।

हरदत्त

हरदत्ताचार्य ने आश्वलायन मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य रचा था। उस के कोश मैसूर, मद्रास और त्रिवेन्द्रम में मिलते हैं। देवराजवज्जा उसे निघण्टु-भाष्य में कई स्थानों पर उद्धृत करता है। इसी हरदत्त ने—

- (१) एकामिकाएव व्याख्या
- (२) आपस्तम्बगृह्यसूत्र व्याख्या, अनाकुला
- (३) आपस्तम्बधर्मसूत्र व्याख्या, उज्ज्वला
- (४) आश्वलायनगृह्यसूत्र व्याख्या, प्रनाविला
- (५) गौतमधर्मसूत्रव्याख्या, मिताक्षरा भी रची थी।

हरदत्त के भाष्य का एक नमूना उस के आश्वलायनगृह्य सूत्र १।१।२॥ की व्याख्या में से नीचे दिया जाता है।

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः ।

धृतात्स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥

ऋ० ८।१४।२०॥

स्तुतिलक्षणं गां वाचं यो न निरुणद्धि तस्मै अगोरुधाय । गविषे गानिच्छते द्युक्षाय द्युःस्थानाय दस्म्यम् अनुसृपं स्तुतिलक्षणं वचः । धृतात् मधुनश्च स्वादीयः स्वादुतर्कं दर्शनीयं वोचत ब्रूत हे मदीया ऋत्विजः पुत्रपीत्रा वा ।

अर्थात्—स्तुतिरूपी वाणी को न रोकने वाले के लिए, गौ को चाहने वाले के लिए, ब्रह्मरूपी के लिए, हे मेरे श्रावजो अथवा पुत्रपौत्रो, धृतर और मधु से भी अधिक मीठी स्तुति रूप वाणी को बोलो ।

हरदत्त का आशुसादन-मन्त्र-भाष्य ग्रीष्म मुद्रित होना चाहिए ।

सुदर्शन सूरि से उद्धृत बह्वृचसंहिताभाष्य

सुदर्शनसूरि अपरनाम वेदव्यास ने सन्ध्यायन्दनमन्त्रभाष्य नाम का एक ग्रन्थ लिखा है । उस में सन्ध्यामन्त्रों की सुन्दर व्याख्या है । उस के पृ० ६ पर यह लिखा है—

यथा—काममृता इति बह्वृचसंहितायाम् । तत्र या कामेन मूर्द्धिता सा काममृता । इति भाष्यम् ।

काममृता पद श्रु० १०।१०।११॥ में आता है । इस पर उद्गीथ, वेङ्कटमाधव और सायण के भाष्य निम्नलिखित हैं—

उद्गीथ—काममोहिता सती । कामेन यद्वा गृहीता यशी-
कृता सती ।

वे० माधव—साहङ्कारमूर्द्धिता ।

सायण—साहं काममृता कामेन मूर्द्धिता ।

इन में से सायण की पंक्तियाँ सुदर्शन के उद्धृत भाष्य से मिलती हैं । परन्तु जहाँ तक हमें पता है, आचार्य सुदर्शन सायण से पहले हो चुका था । सुदर्शन ने ही रामानुज के वेदान्तसूत्रभाष्य पर श्रुतप्रकाशिका नाम की विद्वज्जन-विस्मयोत्पादक टीका लिखी है । भावी विचारकों को अधिक सामग्री के मिलने पर यह ग्रन्थी सुलभकारी चाहिए ।

व्यानन्द सरस्वती (संवत् १८८१-१९४०)

व्यानन्द सरस्वती के साथ हम वैदिक भाष्यकारों के इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं । वैदिक विद्या के लिए यह समय नितान्त अनुपयोगी था । इस युग में वैदिक ग्रन्थों का हाथ हो रहा था । वेदाङ्गसिद्धों की गणना

अङ्गुलियों पर हो सकती थी। कारी सहरा विद्याक्षेत्र में वेदार्थ जानने वाला कठिनाई से मिलता था। वेदों की अनेक शाखाएं लुप्त हो चुकी थीं। जो विद्वान् भी मुलभ न थीं। राजकीय आश्रय का कोई अवसर न था। वह राज्य-सहायता जो सामण और हरिस्वामी आदि को प्राप्त थी, अब प्राचीन काल का स्वप्न हो चुकी थी। वे विद्वान् सहायक जो स्कन्दस्वामी और सामण आदि को अनन्तमिल मिल सकते थे, अब खोजने पर भी दृष्टिगत नहीं होते थे। ऐसी अवस्था में दयानन्द सरस्वती ने जन्म लिया।

दयानन्दसरस्वती का जन्म संवत् १८८१ में हुआ।^१ उन की जन्मतिथि के विषय में उन के शिष्य कवि ज्वालादत्त का निम्नलिखित कवच है—

सोलीभाहीन्दुभिरभियुते वैक्रमे वरसरे यः

प्रादुर्भूतो द्विजवरकुले दक्षिणे देशवर्गे ।

मूलेनासौ जननविषये शङ्करेणापरेणा-

ख्यातिं प्रापत् प्रथमवयसि प्रीतिदः सज्जनानाम् ॥१॥^२

अर्थात्—संवत् १८८१ में अष्ट दक्षिण देश के एक ब्राह्मणकुल में दयानन्द सरस्वती का जन्म हुआ, उन का पहिली आबु का नाम मूलशंकर था।^३

अध्ययन ।

दयानन्द सरस्वती बौदीच्य ब्राह्मण था। सामवेदी होने पर भी उसने रुद्राध्याय का पाठ करके यजुर्वेद पढ़ा था। मथुरा में एक संन्यासी सत्पुरुष तिरजानन्द स्वामी रहते थे। वे व्याकरण के अद्वितीय विद्वान् थे। उन से संवत् १८९७-

१-संवत् १८८१ की दयानन्दसरस्वती-जन्म-सन्ताप्ती उत्सव के अवसर पर एक महाराज ने हमसे कहा था कि दयानन्द सरस्वती की जन्मतिथि आरिषणवदी ७ थी। यह तिथि मेरठनिवासी बाबू कैरीरामको स्वामी दयानन्दसरस्वती ने स्वयं बताया थी।

२-परमेश्वर निवासी पं० गणेशदासकृत श्रद्धित स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज की कुछ दिनचर्या के जन्म में दूसरी बार की छपी, सन् १८८७।

३-बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का मत है कि उनका जन्म नाम मूलजी था।

१६१६ तक दयानन्द सरस्वती ने व्याकरण आदि शास्त्र पढ़े । उनके मृत्यु-पर्यन्त दयानन्द सरस्वती उन से अपनी शंकाओं का समाधान कर लेते थे । उनका देहान्त संवत् १६२२ में हुआ । उनके योग्य शिष्य पं० उदयप्रकाश के पुत्र पं० मुकुन्ददेव ने विरजानन्द स्वामी के मृत्यु-दिन निम्नलिखित श्लोक कहा था । यह श्लोक २८ दिसम्बर सन् १६१६ को मथुरा में उन्होंने स्वयं मुझे लिखा था—

इपुनयननवदमाहायने वैक्रमार्के

सुरनुतपितृपक्षे कामतिथ्यां मृगांके ।

सकलनिगमवेत्ता दण्डयुपाख्यः सुधीन्द्रः

समगत सुरलोके देवराजेन साकम् ॥

अर्थात्—विक्रम संवत् १६२५ भास आश्विन वदी ११ सोमवार को विरजानन्द उपनाम दण्डी स्वामी का देहान्त हुआ ।

दयानन्द सरस्वती के विषय में रुडल्फ हार्नेले का लेख ।

सन् १८७० मास मार्च के फिस्टिचयन इण्टेलीजेन्सर में प्रो० रुडल्फ हार्नेले ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में एक लेख लिखा था । उस के कतिपय वाक्य नीचे लिखे जाते हैं—

He is well versed in the Vedas, excepting the fourth or Atharva Veda, which he had read only in fragments, and which he saw for the first time in full when I lent him my own complete Ms. copy.....he is an independent student of the Vedas, and free from the trammels of traditional interpretation. The standard commentary of the famous Sayanacharya is held of little account by him.

अर्थात्—दयानन्द सरस्वती का अथर्ववेद को छोड़ कर शेष वेदों में अच्छा अभ्यास है । उसने अथर्ववेद के कुछ भाग ही पढ़े हुए थे । सम्पूर्ण अथर्ववेद उसने पहली बार तभी देखा, जब मैंने अपना हस्तलेख उसे दिया । वह वेदों

को स्वतन्त्ररूप से पढ़ता है और परम्परागत (मध्यम-कालीन) पद्धति की परवा नहीं करता । प्रसिद्ध साम्बाराय्य का भाष्य उस की दृष्टि में किसी काम का नहीं है ।

संवत् १६३३ में दयानन्दसरस्वती ने ऋग्वेद का भाष्य करना आरम्भ किया । वेदभाष्यप्रकारार्थ विज्ञापनपत्र में यह स्वयं लिखते हैं—

इदं वेदभाष्यं संस्कृतार्थभाषाभ्यां भूषितं क्रियते ।

कालरामाङ्गचन्द्रेऽष्टे भाद्रमासे सिते दले ।

प्रतिपद्यादित्यवारे भाष्यारम्भः कृतो मया ॥

तद्विदमिदानीं पर्यन्तं दशसहस्रश्लोकप्रमितं तु सिद्धं जातम् ।
तच्छेदं प्रत्यहमग्रेऽग्रे न्यूनान्यूनं पञ्चाशच्छ्लोकप्रमितं नवीनं रच्यत
पयमधिकादधिकं शतश्लोकप्रमाणं च ।^१

अर्थात्—यह भाष्य संस्कृत और आर्यभाषा जो कि कारी प्रयाग आदि मध्यदेश की है, इन दोनों भाषाओं में बनाया जाता है । इस में संस्कृत भाषा भी सुगम रीति की लिखी जाती है और वैसी आर्यभाषा भी सुगम लिखी जाती है । संस्कृत ऐसा सरल है कि जिसको साधारण संस्कृत को पढ़ने वाला भी वेदों का अर्थ समझ ले । तथा भाषा का पढ़ने वाला भी सहज में समझ लेगा ।
संवत् १६३३ भाद्रमास के शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के दिन इस भाष्य का आरम्भ किया है सो संवत् १६३३ मार्गशिर शुक्ल पौर्णमासी पर्यन्त दश हजार श्लोकों के प्रमाण भाष्य बन गया है । और कम से कम ५० श्लोक और अधिक से अधिक १०० श्लोक पर्यन्त प्रति दिन भाष्य को रचते आते हैं ।^२

पुनः उसी विज्ञापन में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के सम्बन्ध में लिखा है—

भूमिका के श्लोक न्यून से न्यून संस्कृत और आर्यभाषा के मिल के आठ हजार हुए हैं । इस में सब विषय विस्तार पूर्णक लिखे हैं ।

ऋग्वेदभाष्य का नमूना संवत् १६३३ में छप गया था ।

१—भगवत् सत्यादित, अथि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन, द्वितीय भाग,

पृ० ५६ ।

२—सधेव पृ० ५८ ।

भूमिका संवत् १९३४ में मुद्रित होनी आरम्भ हुई थी और संवत् १९३५ में मुद्रित हो गई थी। वेदभाष्य की रचना संवत् १९३३ में आरम्भ हो गई थी। उस के विषय में ऋग्वेदभाष्य के आरम्भ में लिखा है—

विद्यानन्दं समवति चतुर्वेदसंस्तापना या

संपूर्णं निगमनितं संप्रणम्याथ कुर्वे ।

वेदभ्यां विभुयुनसरे मार्गशुक्लेऽङ्गभीमे

ऋग्वेदस्याखिलगुणगुणिज्ञानदातुर्हि भाष्यम् ॥

अर्थात्—जो चारों वेदों की प्रस्तावना विद्यानन्द को देती है, उसे समाप्त कर के वेद के नित्य परमेश्वर को नमस्कार कर के संवत् १९३४ मार्गशुक्ल ६ मंगलवार के दिन संपूर्ण गुणगुणी के ज्ञान को देने वाले ऋग्वेद भाष्य का आरम्भ करता हूँ।

यह वेदभाष्य मुद्रित होकर मासिक अङ्कों में निकला करता था। इसका प्रथमाह संवत् १९३५ में छप गया था। दयानन्द सरस्वती का देहावसान संवत् १९४० की दीपमासा के दिन हुआ था। उस के पश्चात् भी यह वेदभाष्य मुद्रित होता रहा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने ऋ० ७।६१।२॥ तक यह भाष्य किया है।

दयानन्द सरस्वती का ऋग्भाष्य।

दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उन की असाधारण योग्यता का जीवित प्रमाण है। वेद का अभ्यास करने वाले दयानन्द सरस्वती के विचार से कितने ही अप्रामाण्य हों, परन्तु भूमिका का पाठ कर के यह एक बार मुहूर्त से उसकी प्रशंसा करने लग पड़ते हैं। मैक्समूलर लिखता है—

"We may divide the whole of Sanskrit literature, beginning with the Rig-Ved and ending with Dayanada's Introduction to his edition of the Rig-veda, his by no means uninteresting Rig-veda-bhumika, into two great periods:"¹

अर्थात्—संस्कृत वाक्य का आरम्भ ऋग्वेद से है और अन्त दयानन्द सरस्वती की ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पर। यह भूमिका कितनी प्रकार की-अरुचिकर नहीं।

वेदभाष्यभूमिका और वेदभाष्य में दयानन्द सरस्वती का मुख्य बत इस बात पर है कि वेदों में एकेस्वर उपासना है। नैष्ठिकों के तीन देवताओं की पूजा का,^१ यज्ञिकों के तैत्तिरीय देवताओं की स्तुति का^२ और पाश्चात्य लोगों की अग्नि आदि जड़ पदार्थों की आराधना का वेद में विधान नहीं है। वेद में अग्नि आदि नामों से शुद्ध रूप से परमात्मा का वर्णन है। वेदमन्त्रों की औपनिषदी व्याख्या दयानन्द सरस्वती के पक्ष की परम सहायक है।

इस विषय में अनुभवी योगी, वीतराग श्री अरविन्द घोष का लेख पढ़ने योग्य है। वह नीचे दिया जाता है—

It is objected to the sense Dayananda gave to the Veda that it is no true sense but an arbitrary fabrication of imaginative learning and ingenuity, to his method that it is fantastic and unacceptable to the critical reason, to his teaching of a revealed Scripture that the very idea is a rejected superstition impossible for any enlightened mind to admit or to announce sincerely.

I shall only state the broad principles underlying his thought about the Veda as they present themselves to me.

To start with the negation of his work by his critics, in whose mouth does it lie to accuse Dayananda's dealing with the Veda of a fantastic or arbitrary ingenuity? Not in the mouth of those who accept Sayana's traditional interpretation. For if ever there was a monument of arbitrarily erudite ingenuity, of great learning divorced, as great learning too often is, from sound judgment and sure taste and a faithful

१—नैष्ठिक और माकली के प्रवक्ता ब्रह्म के उपासक थे, परन्तु उन मन्त्रों का जो संकुचित अर्थ अब समझ जाता है, हमारा संकेत उस की ओर है।

critical and comparative observation, from direct seeing and often even from plainest common sense or of a constant fitting of the text into the Procrushean bed of preconceived theory, it is surely this commentary, otherwise so imposing, so useful as first crude material, so erudite and laborious, left to us by the Aobarya Sayana. Nor does the reproach lie in the mouth of those who take as final the recent labours of European scholarship. For if ever there was a toil of interpretation in which the loosest vein has been given to an ingenious speculation, in which doubtful indications have been snatched at as certain proofs, in which the boldest conclusions have been insisted upon with the scantiest justification, the most enormous difficulties ignored and preconceived prejudice maintained in face of the clear and often admitted suggestions of the text, it is surely this labour, so eminently respectable otherwise for its industry, good will and power of research, performed through a long century by European Vedio scholarship.

What is the main positive issue in this matter? An interpretation of Veda must stand or fall by its central conception of the Vedic religion and the amount of support given to it by the intrinsic evidence of the Veda itself. Here Dayananda's view is quite clear, its foundation inexpugnable. The Vedio hymns are chanted to the One deity under many names, names which are used and even designed to express His qualities and powers. Was this conception of Dayananda's arbitrary conceit fetched out of his own too ingenious imagination? Not at all; it is the explicit statement of the Veda itself; "One existent, sages" not the ignorant, mind you, but seers, the men of knowledge,—“speak of in many ways, as Indra, as Yama, as Matarisvan, as Agni,” The

Vedic Rishis ought surely to have known something about their own religion, more, let us hope than Roth or Max Muller, and this is what they knew.

We are aware how modern scholars twist away from the evidence. This hymn, they say, was a late production, this loftier idea which it expresses with so clear a force rose up somehow in the later Aryan mind or was borrowed by those ignorant fire-worshippers, sun-worshippers, sky-worshippers from their cultured and philosophic Dravidian enemies. But throughout the Veda we have confirmatory hymns and expressions: Agni or Indra or another is expressly hymned as one with all the other gods. Agni contains all other divine powers within himself, the Maruts are described as all the gods, one deity is addressed by the names of others as well as his own, or, most commonly, he is given as Lord and King of the universe, attributes only appropriate to the Supreme Deity. Ah, but that cannot mean, ought not to mean, must not mean the worship of One; let us invent a new word, call it henothism and suppose that the Rishis did not really believe Indra or Agni to be the Supreme Deity but treated any god or every god as such for the nonce, perhaps that he might feel the more flattered and lend a more gracious ear for so hyperbolic a compliment! But why should not the foundation of Vedic thought be natural monotheism rather than this now fangled monstrosity of henothism? Well, because primitive barbarians could not possibly have risen to such high conceptions and if you allow them to have so risen you imperil our theory of evolutionary stages of the human development and you destroy our whole idea about the sense of the Vedic hymns and their place in the history of mankind. Truth must hide herself,

common sense disappear from the field so that a theory may flourish ! I ask, in this point, and it is the fundamental point, who deals most straightforwardly with the text, Dayananda or the Western scholars ?

But if this fundamental point of Dayananda's is granted, if the character given by the Vedio Rishis themselves to their gods is admitted, we are bound, whenever the hymns speak of Agni or another, to see behind that name present always to the thought of Rishis the one Supreme Deity or else one of His powers with its attendant qualities or workings. Immediately the whole character of the Veda is fixed in the sense Dayananda gave to it ; the merely ritual, mythological, polytheistic interpretation of Sayana collapses, the merely meteorological and naturalistic European interpretation collapses. We have instead a real scripture, one of the world's sacred books and the divine word of a lofty and noble religion.

अर्थात्^१—दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में अनेक शंकाएं की जाती हैं। मैं दयानन्द के वेदभाष्य के आधाररूप उन प्रसिद्ध नियमों का उल्लेख करूंगा, जो मुझे समझ आए हैं।

सायणभाष्य को ठीक समझने वाले लोग दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। महा विद्वान् सायण का भाष्य ऊपर से महत्व वाला दिखाई देता हुआ भी वेद का वचार्थ और सीधा अर्थ नहीं है। पाश्चात्य विद्वान् भी दयानन्द सरस्वती के भाष्य के विषय में कुछ नहीं कह सकते। उन का परिश्रम, शुभेच्छा, अनुसन्धान शक्ति से एक शताब्दी में किया गया अर्थ भी ठीक अर्थ नहीं, क्योंकि इस में पूर्वापर सम्बन्ध का अभाव है, और सन्दिग्ध विषयों को प्रमाणभूत मान कर अर्थ किया गया है।

वेदार्थ तो वेद से ही होना चाहिए। इस विषय में दयानन्द सरस्वती

१—इम ने श्री अरविन्द के लेख का भावमान दिया है। वैदिक मेगजीन, १६१६।

का विचार सुस्पष्ट है, उसकी आधारशिला अग्नेय है। वेद के सूक्त भिन्न भिन्न नामों से एक ईश्वर को ही सम्बोधन कर के गाए गए हैं। विप्र, अर्थात् ऋषि एक परमात्मा को ही अग्नि, इन्द्र, यम, नातरिखा और वायु आदि नामों से बहुत प्रकार से कहते हैं। वैदिक ऋषि अपने धर्म के विषय में मैत्रसमूलर या राथ की अपेक्षा अधिक जानते थे। अतः वेद स्पष्ट कहता है कि एक ईश्वर के ही अनेक नाम हैं।

हम जानते हैं, आधुनिक विद्वान् किस प्रकार इस बात को खींचतान करके उलटते हैं। वे कहते हैं, यह सूक्त नए काल का है। ऐसा ऊँचा विचार बहुत प्राचीन आर्य लोगों के मन में नहीं आ सकता था। इस के विपरीत हम देखते हैं कि वेद में सूक्तों पर सूक्त इसी भाव को बताते हैं। अग्नि में ही सब दूसरी देवी शक्तियाँ हैं, इत्यादि। देवताओं के ऐसे विशेषण हैं जो सिवाय ईश्वर के और किसी के हो नहीं सकते। पाश्चात्य इस बात से घबराते हैं। अहो वेद का ऐसा अर्थ नहीं होना चाहिए, निरसंदेह ऐसे अर्थ से उन का विरकात् से प्राप्त विचार हटता है। अतः सत्य को छिपाना चाहिए। मैं पूछता हूँ, इस बात में, इस मौलिक बात में दयानन्द सरस्वती वेद का सीधा अर्थ करता है या पाश्चात्य विद्वान्।

इस एक के समझने से, दयानन्द के इस मौलिक सिद्धान्त के मानने से, नहीं, वैदिक ऋषियों के इस विरवास के जानने से कि सब देवता एक महान् आत्मा के नाम हैं, हम वेद का वास्तविक भाव जान लेते हैं। बस वेद का वही तात्पर्य निकलता है, जो दयानन्द सरस्वती ने इस से निकाला। केवल याज्ञिक अर्थ, या सायण का बहुदेवतावाद आदि का अर्थ भस्मीभूत हो जाता है। पाश्चात्यों का केवल अन्तरिक्ष आदि लोकों के देवताओं के सम्बन्ध में किया हुआ अर्थ मलियामिट हो जाता है। इन के रयान में वेद एक वास्तविक धर्मग्रन्थ, संसार का एक पवित्र पुस्तक और एक धेष्ट और उच्च धर्म का देवी शब्द हो जाता है।

अनेक वेदभाष्य के विषय में दयानन्दसरस्वती का निम्नलिखित लेख भी देखने योग्य है—

परस्वेतैर्येदमन्त्रैर्यन्त्राग्निहोत्राद्यद्वयमेधान्ते यद्यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरतो न वर्णयिष्यते । कुतः कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेय-
शतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाधौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात् ।
..... तथैवोपासनाकाण्डस्यापि प्रकरणशब्दानुसरितो हि
प्रकाशः करिष्यते । एवमेव ज्ञानकाण्डस्यापि ॥^१

अर्थात्—दयानन्द सरस्वती की प्रतिज्ञा है कि उन के भाष्य में कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डों का विस्तार से वर्णन नहीं होगा । ये विषय ब्राह्मणों, उपनिषदों और दर्शनों आदि में विस्तार से कहे गए हैं । उन का पुनः कहना निष्ठपेय है । अतः इस भाष्य में वैदिक मन्त्रों का प्रायः मूलार्थ ही होगा ।

सायणादि के सम्बन्ध में दयानन्द सरस्वती की सम्मति ।

सायण और योष के अनुवादकों के विषय में दयानन्द सरस्वती ने लिखा है—

पूर्वेषां भाष्यकृतां सायणाचार्यदीनां ये गुणाः सन्ति ते त्वस्मा-
गिरपि स्वीक्रियन्ते, गुणानां सर्वेः शिष्टैः स्वीकार्यत्वात् । तेषां ये
दोषाः सन्ति ते ऽत्र त्रिगुणैर्दर्शनेन खण्ड्यन्ते ।^२

अर्थात्—पूर्वभाष्यकार सायण आदिकों के गुणों को मैं स्वीकार करता हूँ । परन्तु उन के दोषों का खण्डन करता हूँ ।

इस से आगे रावण, उषट, सायणमाधव, और महीधर का नाम लेकर लिखा है, कि इन के अनेक समान दोष हैं । अतः एक का खण्डन होने से सब को खण्डन जानना चाहिए । और इन से भी अधिक दोष पाश्चात्य अनुवादकों के हैं ।

संवत् १८३३ में जब वेदभाष्य का नमूना छप गया, तो पंजाब यूनिवर्सिटी के परामर्श पर प्रो० प्रिफिथ, प्रो० टानि, पं० गुरुप्रसाद प्रधान पंडित ओरि-
एण्टल कालेज लाहौर, और पंडित भगवान दास अप्पापक गवर्नमेण्ट कालेज
लाहौर ने उस पर सनालोचनाएं लिखीं । कलकत्ता के पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न

१—आवेदादिभाष्यभूमिक, प्रतिज्ञाविषय ।

२—वेदभाष्य का नमूना, पृ० ७

ने भी एक विस्तृत समालोचना मुद्रित कराई । उन सब का उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने दिया । इन सब में से पं० महेशचन्द्र के आक्षेप कुछ अधिक बलवान् थे । उनका उत्तर भ्रान्ति निवारण पुस्तिका में धार्मिक श्रुति २, संवत् १८३४ को दिया गया ।

यह उत्तर इतना सारगर्भित है कि पढ़ कर वेदविषय में बहुत ज्ञान होता है ।

पं० गुरुप्रसाद ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के विद्ध्यधीमहि और विद्यामहे प्रयोगों को अशुद्ध बताया था । इन के शुद्ध होने में दयानन्द सरस्वती ने पाणिनि, कैयट, नागेश, रामाश्रम और अनुभूतिस्वरूपाचार्य के कथन प्रस्तुत किए, और इन के अनुसार इन दोनों प्रयोगों को शुद्ध बताया ।

स्वा० दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर इण्डियन नेशनल कॉमेस के जन्मदाता मिस्टर ह्यूम ने भी एक लेख समाचार पत्रों में प्रकाशित किया था । उस का उत्तर भी स्वा० दयानन्द सरस्वती को और से छपा था ।^१ ऐसी ही और भी अनेक घटनाएँ इस भाष्य के सम्बन्ध में हैं, परन्तु विस्तरभय के कारण हम उन्हें यहाँ नहीं लिखते ।

भाष्य की विशेषताएँ ।

१—इस भाष्य में वेदों के अनादि होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन है । प्राकृतप्रश्नों और भीमांसा में जो विषय सूक्ष्मरूप से था, वह यहाँ सुस्पष्ट है ।

२—वेदों में लौकिक-इतिहास का अभाव है, यह भी दयानन्द सरस्वती ने अच्छे रूप से दिखाया है ।

३—वेदों के शब्द यौगिक और योगस्वर हैं, रुडि नहीं, यह इस भाष्य की आधारशिला है । अग्नि आदि शब्दों से किस प्रकार परमात्मा का ग्रहण होता है, उस की विवेचना प्रथम मन्त्र के भाष्य में की गई है । जो प्रमाण इस अर्थ के समर्थन में प्रस्तुत किए गए हैं, वे देखने योग्य हैं । मानो प्रमाणाँ की एक माला बना दी गई है । ऋग्वेद से लेकर अनुस्मृति और मेवायखी उपनिषद् तक के प्रमाण इस माला की मणियाँ हैं ।

१—देखो, अग्नि दयानन्द के पत्र और विद्यापन, भाग १ पृ० ४५, ४६ ।

४—मानसमुत्पत्तिप्रमाणों से अनेक मन्त्रों का भावार्थ खोला गया है।
अधार्त—उषा के समान स्त्री, मित्र के समान अप्यापक, वरुण समान उपदेशक, इत्यादि।

५—स्वा० दयानन्द सरस्वती का सिद्धान्त है, कि जहाँ जहाँ उषासना का विषय है, वहाँ वहाँ अग्नि आदि शब्दों से ईश्वर का अभिप्राय है। अन्यथा इन्हीं शब्दों से भौतिक पदार्थों का ग्रहण किया जा सकता है।

६—कहीं कहीं दयानन्द सरस्वती ने शाकल्य से भिन्न पदपाठ स्वीकार किया है।

७—देवता भी कहीं कहीं रत्नानुक्रमणी से भिन्न माने हैं।

८—शतपथादि ब्राह्मण और निरुक्त निषण्ड तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य के प्रमाणों से यह भाष्य भरा पड़ा है।

९—एक एक शब्द के अनेक अर्थ दिए गए हैं, जैसे इन्द्र के अर्थ परमात्मा, सूर्य, वायु, विद्वान् राजा, जीवात्मा आदि दिए गए हैं।

सामी दयानन्द सरस्वती की असाधारण विद्वत्ता, अलौकिक प्रतिभा, असीम ईश्वरप्रेम और परम वेद-भक्ति इस भाष्य के पाठ से एक विषयों के हृदय पर भी अंकित हो जाती हैं।

नवीन भाषा-भाष्यकार

इन भाष्यों के अतिरिक्त ऋग्वेद के बहुत से भागों पर परस्फुग्ग पं० शिवराइर काव्यतीर्थ, पं० आर्यमुनि, स्वर्गीय राय शिवनाथ अमिहोत्री आदि महानुभावों ने भी अपने भाष्य इस आधुनिक काल में लिखे हैं, परन्तु उन का महत्वविशेष न होने से उन का यहाँ वर्णन नहीं किया गया।

श्री अरविन्द घोष ने भी ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों की व्याख्या लिखी है। वह व्याख्या अत्रिजी भाषा में है, अतः उस का भी यहाँ उल्लेख नहीं किया। जब वेदार्थ के प्रकार की विस्तृत विचारणा होगी तो उस की और अन्य पाश्चात्य अनुवादों की विवेचना की जायगी।

ऋग्वेद सम्बन्धी इतने भाष्यकारों का इतिहास लिख कर अब याज्ञिक भाष्यकारों का इतिहास लिखा जाता है।

द्वितीय अध्याय

यजुर्वेद के भाष्यकार

(१) शौनक

यजुर्वेद भाष्यनिर्दिष्ट संहिता का ११वाँ अध्याय पुरुषसूक्त कहा जाता है। उवट ने इस सूक्त पर अपना भाष्य नहीं लिखा। उस के पास इस का कोई प्राचीन भाष्य था। उस के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अस्य भाष्यं शौनको नाम ऋषिरकरोत्

अर्थात्—इस सूक्त का भाष्य शौनक नाम ऋषि ने किया था। वह भाष्य किसी कम से था। उस-कम का उल्लेख भी उवट करता है—

प्रथमं विच्छेदः क्रियाकारकसम्बन्धः समासः प्रमेयार्थ-
व्याख्येति।

अर्थात्—इस भाष्य में पहले पदच्छेद, फिर अव्यय, फिर समास का खोलना और फिर प्रमेयार्थ व्याख्या है।

शौनक का पुरुषसूक्तभाष्य

उवट का विचार है कि शौनकानुसार इस सूक्त का मोक्ष में विनियोग है। शौनक का भाष्य बड़ा उत्कृष्ट है। इस में वैदान्त की मूलक है। इस भाष्य में बालिक और व्याख्यात्मक पद्धति का भेद है। केचित् और अपने कह कर दूसरों का मत भी दिया गया है। कहीं कहीं नेहरू पद्धति का अर्थ भी किया गया है। यथा १६वें मन्त्र के भाष्य में लिखा है -

एवं योगिनो ऽपि वीपनादेयाः

अर्थात्—इस प्रकार योगी भी वीतिमान होने से देवता कहते हैं।

पुरुषसूक्त का यह शौनकभाष्य उवट के कारी के हस्तलेखों में नहीं है। इस से इस के प्राचीन होने का भी कभी कभी सन्देह होता है।

उवट के लेख से प्रतीत होता है कि यह भाष्य पर्याप्त प्राचीन काल का है। इस भाष्य का कर्ता शौनक यदि ऋषि न भी हो, और साधारण व्यक्ति ही हो तब भी यह भाष्य पुराना है। इस भाष्य के पाठ से प्रतीत होता है कि जितना

हम पुराने काल में जाते हैं, उतना ही वेदों का गौरवयुक्त अर्थ हमारे सामने आता है।

शौनक का पदविच्छेद करना उस के काल में पदपाठों के अभाव का सन्देह उत्पन्न करता है। यदि ऐसा ही है, तो वह अवश्य कोई श्रुति होगा।

इस भाष्य में एक दो स्थलों पर वैष्णव संप्रदाय की छाया भी है। देखो मन्त्र १६ का भाष्य।

(२) हरिस्वामी (संवत् ६३८)

पृ. ९, १ पर आचार्य हरिस्वामी के काल के विषय में लिखा जा चुका है। इस के शतपथ भाष्य का वर्णन इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ. ३६, ४० पर हो चुका है। हरिस्वामी ने कात्यायनभूत पर भी अपना भाष्य लिखा था। उस का वर्णन आगे होगा।

क्या हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया

अभी तक हम यह नहीं कह सकते कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भाष्य किया था, या नहीं। हां, जम्बू के रघुनाथ-मन्दिर के पुस्तकालय के सूचीपत्र में एक ग्रन्थ का उल्लेख है। संख्या उस की ४५०६ है। वह द्वादश्याय का पदपाठ है। उस के सम्बन्ध में उक्त सूचीपत्र में लिखा है कि वह हरिस्वामि-मतानुसारी है। इस से अनुमान होता है कि हरिस्वामी ने यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा होगा।

(३) उवट (संवत् ११०० के समीप)

काल

शुक्र-याज्ञवल्क्य-सम्प्रदाय का प्रतिष्ठ भाष्यकार उवट-महाराज भोज के काल में हुआ है। अपने यजुर्वेदभाष्य के अन्त में वह स्वयं लिखता है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाव्यस्य सूनुना।

उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ॥

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवनत्यामुवटो वसन् ।

मन्त्राणां कृतवान् भाष्यं महीं भोजे प्रशासति ॥

अर्थात्—आनन्दपुर निवासी बज्रट के पुत्र उवट ने मुनिविरचित पद वाक्यों से भाष्य किया। ऋष्यादियों को नमस्कार कर के अवनती में रहते हुए उवट ने मन्त्रभाष्य किया, जब भोज राज्य कर रहा था।

यही श्लोक स्वल्प पाठान्तरों के साथ अन्य हस्तलेखों के भिन्न भिन्न अध्यायों के अन्त में भी आए हैं। वे नीचे दिये जाते हैं। बबोदा के हस्तलिख संख्या १०४४७ के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाव्यस्य सूनुना ।

मन्त्रभाष्यमिदं कृतं भोजे पृथ्वीं प्रशासति ॥^१

पूना के हस्तलेख संख्या २३२ के दशम अध्याय के अन्त में लिखा है—

ऋष्यादींश्च नमस्कृत्य अवनत्या उवटो वसन् ।

मन्त्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति ॥

कोशी-मुद्रित बाराणसीस्थ राजकीय संस्कृतपाठशालीय उवट भाष्यानुसारी पाठ में १३वें अध्याय के अन्त में लिखा है—

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटस्य च सूनुना ।

उवटेन कृतं भाष्यमुज्जयिन्यां स्थितेन तु ॥

इन श्लोकों के देखने से निश्चित होता है कि उवट ने महाराज भोज के राज्यकाल में यह भाष्य लिखा था। भोज का राज्यकाल संवत् १०७४-१११७ तक माना जाता है। अतः संवत् ११०० के समीप ही उवट ने यह भाष्य लिखा होगा।

उवट का कुल

उवट का नाम प्राचीन कोशों में उवट भी लिखा हुआ है।^२ उवट नाम

१—निरुक्त, डा. स्वरूप की खनियाँ, पृ. ७२।

हमारे पुस्तकालय के कोश संख्या-३६६२ के २०वें और ३०वें अध्याय की समाप्ति पर भी यही श्लोक है।

२—हमारे कोश के २५वें अध्याय का अन्त।

काशमीरी ब्राह्मणों का हो सकता है। जैसा पूर्वीक श्वेकों से ज्ञात हो गया होगा उवट के पिता का नाम वज्रट था। आनन्दाश्रम पूना में ईशावास्य उपनिषद् पर अनेक टीकाएं छपी हैं। उन में उवटभाष्य भी छपा है। उस के अन्त के लेख से प्रतीत होता है कि उवट का पिता वज्रट कोई उपाध्याय था—

इति श्रीमद्भट्टमहोपाध्यायारमजसकलनिगमयिञ्चूडामणि
श्रीमदुवटमहोपाध्यायिचित्ते अत्यारिशत्तमोऽध्यायः ॥४०॥

उवट भाष्य के सब से पुराने हस्तलेख

बनोदा का संख्या १०४४७ का कोरा संवत् १४६४ का है। पूना का संख्या २३८ का कोरा संवत् १४२१ का है।

उवटभाष्य के संस्करण

उवटभाष्य कलकत्ता, बनारस और मुम्बई में मुद्रित हो चुका है। इन में से एक को भी आदर्श संस्करण नहीं कहा जा सकता। मुम्बई संस्करण में अनेक मन्त्रों के महीधरभाष्य को ही उवटभाष्य मान कर छपा गया है। इस के सम्बन्ध में तृतीय दशक के सन् १८१२ के बौलम्बा संस्करण के पृ. १२१२ के दूसरे टिप्पण में मन्त्र २४॥३॥ पर लिखा है—

अत्र महीधरोक्तमर्थं विलिखामीति पाठ औवटभाष्ये फारिम-
श्विदादर्शं केनचिद्विप्लव्यां समुद्धृत इत्यनुमीयते परं तु मुम्बई-
मुद्रितपुस्तके शोधकेन मूलभाष्य एव इडात् सन्निवेशित इति।

मुम्बई संस्करण का सम्पादन गङ्गपूर्वक नहीं हुआ। अशीसंस्करण के सम्पादक पं० रामसकलमिश्र ने उवटभाष्य का दो प्रकार का पाठ देख कर उन्हें पृथक् १ छाप दिया है। इनारे कोरा का लेखन-काल यद्यपि मित गया है, परन्तु है वह भी बहुत पुराना। मेरे अनुमानानुसार वह कोरा ४५० वर्ष से अधिक पुराना है। उस में भी पर्याप्त पाठान्तर दृष्टिगत होता है। इन सब बातों से सिद्ध है कि उवटभाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

प्रतीत होता है उवटभाष्य का पाठ दो प्रकार का हो गया है। एक पाठ काशी का है और दूसरा महाराष्ट्र का। काशी के पाठ में पुरयसूक्त पर

उषट का अपना भाष्य है परन्तु महाराष्ट्र-पाठ में इस स्थान पर शौनक का भाष्य मिलता है। हम जानते हैं कि महीधर उषट की प्रायः नकल करता है। पुरुषसूक्त का महीधरभाष्य उषट के काशी-पाठ की छाया है। इस से प्रतीत होता है कि काशीवासी महीधर को महाराष्ट्र-पाठ का पता नहीं था।

भाष्य की विशेषताएं

(१) शास्त्रिकपद्धति का अनुकरण करते हुए भी उषट कहीं कहीं मन्त्रों का अन्वयार्थ देता है। देखो २०।२३॥

(२) उषट यास्कीय निरुक्त और नियष्ट को बहुत उद्धृत करता है, परन्तु उस के अनेक पाठ ग्रन्थ वा ग्रन्थकर्ता का नाम लिए बिना ही देता है। अपनी प्रस्तावना में यह बृहदेवता के कई वाक्य देता है।

(३) यजुर्वेद २५।७७॥ के भाष्य में वह निरुक्त १३।२२॥ को उद्धृत करता है। इस से सिद्ध होता है कि यह परिशिष्ट उस के समय में भी निरुक्त का भाग था।

(४) यजुर्वेद ७।२३॥ और २५।२७॥ में वह ऋकों के मन्त्र उद्धृत करता है।

(५) यजुर्वेद ५।२॥ में उर्वशी और पुरुषा का अपना अर्थ कर के फिर वह ब्राह्मणग्रन्थ का इतिहास-पञ्च देता है।

(६) ५।३॥ में रेप इति पापनाम लिखा है। यह किसी सुप्त नियष्ट का पाठ है। ५।२०॥ में वह अवतारों का वर्णन करता है।

(७) उषट याजुष सर्वानुक्रमणी को नहीं बर्तता, प्रत्युत भाष्यारम्भ में लिखता है कि—

गुरुतस्तर्कतश्चैव तथा शतपथश्रुतेः ।

अग्नीन् वक्ष्यामि मन्त्राणां देवताश्चन्द्रसं च यत् ॥

अर्थात्—गुरु से, तर्क से तथा शतपथ की श्रुतियों से मन्त्रों के ऋषि, देवता और छन्द कहूंगा।

इस से प्रतीत होता है कि याजुष-सर्वानुक्रमणी या तो अनार्य है अथवा प्रधानता से माध्यन्दिन शास्त्र की नहीं है।

(८) यजुः २२।१४॥ पर भाष्य करते हुए उवट लिखता है—

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहेति प्रकारदर्शनम् । त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहेति आ^१ एकशतात् ।

अर्थात्—एकस्मै स्वाहा इत्यादि मन्त्रों का प्रकारदर्शन ही है । इस पर कर्क कात्यायनश्रौत २०।११३॥ के भाष्य में लिखता है—

इह च—एकस्मै स्वाहा द्वाभ्यां स्वाहा—इत्येवमादौ—
त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा—इत्येवमादौ लुप्तः
स्वाध्यायो द्रष्टव्यः ।

अर्थात्—यहाँ पर लुप्तस्वाध्याय देखना चाहिए ।^१

यहाँ पर स्मरण रखना चाहिए कि काठक संहिता ४।२।१॥ और तैत्तिरीय संहिता ७।२।१।१॥ में इन मन्त्रों का अधिक पाठ है ।

उवट के अन्य ग्रन्थ

१ मन्त्रभाष्य के अतिरिक्त उवट ने निम्नलिखित ग्रन्थ रचे थे—

- (१) ऋक् प्रातिशिक्ष्य भाष्य ।
- (२) यजुः प्रातिशिक्ष्य भाष्य ।
- (३) ऋक् सर्वानुक्रमणी भाष्य ।

तीसरे ग्रन्थ का लेखक यही उवट है, इस बात का अभी निर्णय करना है ।

उवट के मन्त्रभाष्य से शत्रुघ्न, महीधर आदि ग्रन्थकारों ने बड़ा लाभ उठाया है ।



(४) गौरधर (संवत् १३४० के समीप)

जगद्धर भट्ट कश्मीर का एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार है । इस ने मासिती-

१—यह पर मुम्बई-संस्करण में नहीं है । हमारे कोष्ठ में यहाँ का पत्र छूटा है । बीन्स कलेज के हललेख का यह पाठ काशी-संस्करण से लिया गया है ।

२—इस बात की जोर नासिककेवासी श्री अण्णाशास्त्री बारे ने हमारा ध्यान दिलाया था ।

माधव आदि अनेक नाटकों पर अपनी टीकाएं रची हैं । इन टीकाओं के अतिरिक्त उस ने भक्ति-भाव-पूर्ण स्तुतिकुसुमाञ्जली नाम का भी एक ग्रन्थ निर्माणा किया था । उस ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का वर्णन करते हुए वह लिखता है—

पुरा पुरादेः पदधूलिधूसरः सरस्वतीस्वैरविहारभूरभूत् ।

विशालवंशधुतबुभिविधुतो विपश्चितां गौरधरः किलाग्रणीः ॥१॥

अनन्तसिद्धांतपधान्तगामिनः समस्तशास्त्रार्णवपारदर्शनः ।

ऋजुर्यजुर्वेदपदार्थवर्णना व्यनक्ति यस्याद्भुतविधुतं धुतम् ॥२॥

अर्थात्—पहले भीरुभु के पांव की धूलि से धूतर, बिना से स्वेच्छा से विहार करने वाला, विशाल वंश, शास्त्र और ज्ञान से प्रसिद्ध विद्वानों में अग्रणी गौरधर था ।

वह गौरधर अनेक सिद्धान्तों के मामों को जानने वाला, सारे शास्त्ररूपी समुद्र का पारदर्शी था । उस के अद्भुत ज्ञान को यजुर्वेद के पद और अर्थों का वर्णन करने वाला ऋजु [भाष्य] प्रकट करता है ।

अन्तिम पंक्ति पर टीकाकार रत्नकराज ने लिखा है—

तादृशस्य गौरधरस्य ऋजुनिर्मला निर्दोषा च यजुर्वेदपदानामर्थ-
वर्णना भाष्यपद्धतिर्वेदविलासनाम्नी यस्याद्भुतं च विधुतं प्रसिद्धं
च धुतं व्यनक्ति प्रकटयति ।

अर्थात्—उस गौरधर ने यजुर्वेद पर वेदविलास नाम वाली एक निर्दोष भाष्यपद्धति रची ।

इस से ज्ञात होता है कि गौरधर ने यजुर्वेद पर ऋजुभाष्य रचा था । उस भाष्य का नाम वेदविलास भी था ।

बड़ोदा में एक ऋजुव्याख्या की विद्यमानता

बड़ोदा में बाजसनेयिसंहिताभाष्य का एक कोश है । संख्या उस की १०६०० है । यह नाथ्यदिन-संहिता का भाष्य है । इस में २६-२१ और ३५-४० अध्यायों का ही भाष्य है । उस के अन्त में लिखा है—

इति ऋजुव्याख्याने संहितायां अत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥

संवत् १५६३ फाल्गुन शुक्ल १४ भीमे लिखितम् ।

बहुत सम्भव है कि गौरधर-प्रणीत ऋजुभाष्य यही हो ।

काल

गौरधर स्तुतिकुण्डमांजलि के कर्ता जगद्गुरु का पितामह था । स्तुतिकुण्डमांजलि के सम्पादन हैं पं० दुर्गाप्रसाद और पं० कारीनाथ पाण्डुरंग परब । अपनी भूमिका में वे लिखते हैं कि सन् ११५२ के समीप जगद्गुरु का काल था । गौरधर उस से ५० वर्ष पहले ही हुआ होगा । अतः संवत् ११५० के समीप गौरधर का काल मानना चाहिए ।

(५) रावण (सोलहवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

हम पहले पृ० ६२ पर लिख आए हैं कि रावण ने यजुर्वेद पर भी भाष्य किया था । इस का प्रमाण एक रुद्रप्रयोगदर्पण में भी है । इस दर्पण का कर्ता पद्मनाभ था । उस के ग्रन्थ का शक १७०५ का एक हस्तलेख में ने नासिक-क्षेत्रवास्तव्य श्री अण्णशास्त्री धारे के घर देखा था । उस के आरम्भ में पद्मनाभ ने लिखा है कि रुद्रभाष्य के करने में उसने रावणभाष्य का आश्रय भी लिया है ।

(६) महीधर (संवत् १६४५ के समीप)

महीधर कारी में रहता था । उसी ने मन्त्रमहोदधि नामक एक तन्त्र और उस की टीका लिखी हैं । इस से प्रतीत होता है कि वह तान्त्रिक था । उस का वेददीप नामी यजुर्वेदभाष्य उबट भाष्य की श्रवामात्र है । नेद केवल इतना है कि उबट ने कार्यायनश्रीत की प्रतीकें अपने भाष्य में नहीं धरी, परन्तु महीधरने सायण के काण्वसंहिता भाष्य के आश्रय से वे सब यथास्थान जोड़ दी हैं ।

काल

डा० स्वरूप का मत है कि महीधर का काल ईसा की १२वीं शताब्दी का

आरम्भ है।^१ यह बात ठीक नहीं है। महीधर सायणभाष्य का स्मरण करता है और उस का प्रमाण भी अपने भाष्य में देता है। यह दोनों स्थल आगे दिए जाते हैं—

प्रणम्य लक्ष्मीं नृहरिं गणेशं भाष्यं विलोकयौचटमाधवीयम् ।

यजुर्मनूनां विलिखामि चार्थं परोपकाराय निजेक्षणाय ॥१॥^२

अर्थात्—उचट और माधव के भाष्य को देख कर मैं यजुर्वेद का अर्थ करता हूँ। पुनः १३।४५॥ के भाष्य में यह लिखता है—

माधवस्तु—पृथिव्या उपरिस्थादुत वा.....

इस से आगे वह कई पंक्तियों में माधव का सारा भाष्य उद्धृत करता है।

डा० स्वरूप का मत है कि महीधर अपने भाष्य के मङ्गलश्लोक में जिस माधव का नाम देता है, वह सम्भवतः वेङ्कटमाधव है। इस सम्बन्ध में डा० स्वरूप का लेख आगे दिया जाता है—

This view is further confirmed as Mahidhara, the commentator of the Sukla Yajurveda, who belonged to c. 1100 A. D. mentions a predecessor Madhava by name. This predecessor of Mahidhara is probably to be identified with Madhava, son of Venkata.

वस्तुतः यह बात ठीक नहीं है। अपने मङ्गलश्लोक में महीधर सायण-भाष्य का ही स्मरण करता है। और १३।४५॥ के भाष्य में उसने काण्व-संहिता के सायणभाष्य का ही प्रमाण दिया है। माधव की जितनी पंक्तियाँ महीधर ने उद्धृत की हैं वे सब स्वरूपपाठान्तरों के साथ काण्वसंहिता अध्याय १४ अनुवाक ४ के सायणभाष्य में मिल जाती हैं। यदि सुद्धित काण्वीय-सायणभाष्य का सुतम्पादन होता, तो ये पाठान्तर भी बहुत ही कम रह जाते। अस्तु, इस से निश्चित होता है कि महीधर सायणभाष्य को ही उद्धृत करता है।

१—निरुक्त की नृत्तियां, पृ० ७८।

२—भाष्य का मङ्गल-श्लोक।

मन्त्रमहोदधि का कर्ता महीधर ।

आफरेख्ट के वृहत्सूत्री के अनुसार याजुषभाष्यकार महीधर ही मन्त्र-महोदधि का भी कर्ता है । यदि महीधर के यजुर्वेदभाष्य के मन्त्र-श्लोक की मन्त्रमहोदधि के मन्त्र-श्लोक से तुलना की जाए, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है । वेददीप का मन्त्रश्लोक पहले लिखा जा चुका है । अब मन्त्रमहोदधि का मन्त्रश्लोक लिखा जाता है—

प्रणम्य लवर्मा नृहरि महागणपतिं गुरुम् ।

तन्त्राण्यनेकान्यालोक्य धन्ये मन्त्रमहोदधिम् ॥१॥

इस श्लोक में ठीक उन्हीं देवताओं को नमस्कार किया गया है, कि जिन्हें वेददीप के आरम्भ में नमस्कार किया गया है । इस बात के ध्यान में रखने से दोनों मन्त्र एक ही महीधर के प्रतीत होते हैं ।

मन्त्रमहोदधि का लेखन-काल

मन्त्रमहोदधि के अन्त में महीधर ने उस ग्रन्थ के लिखने की तिथि निम्नलिखित प्रकार से दी है—

अध्वे विक्रमतो जाते याज्ञवेदनुपेर्मिते ।

ज्येष्ठाष्टम्यां शिवस्याग्रे पूर्णो मन्त्रमहोदधिः ॥१३२॥

अर्से इस श्लोक का अर्थ महीधर अपनी नौका टीका में स्वयं इस प्रकार करता है—

पञ्चवत्स्यारिशदुत्तरयोडशशततमे विक्रमनृपाद्रते सति

अर्थात्—विक्रम संवत् १६४५ ज्येष्ठाष्टमी को मन्त्रमहोदधि पूर्ण हुआ ।

इस से दो चार वर्ष पहले या पीछे ही यजुर्वेदभाष्य समाप्त हुआ होगा ।

कलकत्ता एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के सूची भाग २ में नवीन संख्या ५१६ के अन्तर्गत वेददीप का एक कोश है । वह शक १६२३ में लिखा गया था, परन्तु जिस मूल से वह लिखा गया था, वह मूल शक १५२३ अथवा संवत् १६१५ का है । वेददीप के इस से पुराने हस्तलेख का संकेत हमारी दृष्टि में अभी तक नहीं आया । इस से ज्ञात होता है कि कलकत्ता के कोश का मूल

मन्त्रमहोदधि के लिखे जाने के १३ वर्ष पश्चात् लिखा गया होगा। इस के कुछ ही पश्चात् का अर्थात् संवत् १६७१ का एक कोरा पृष्ठा में है।

महीधर के भाष्य में किसी प्रकार की भी कोई मौलिकता नहीं है।

(७) दयानन्दसरस्वती (संवत् १८८१-१९४०)

स्वामी दयानन्दसरस्वती ने ऋग्वेद के समान यजुर्वेद पर भी अपना भाष्य लिखा है। उस भाष्य का आरम्भ कब हुआ, इस सम्बन्ध में भाष्यारम्भ में निम्नलिखित श्लोक है—

चतुस्त्र्यङ्गैरङ्गैरचनिसहितैर्विक्रमसरे

शुभे पाँच मासे सितदत्तमविश्वोन्मिततिथौ।

गुरोर्पारे प्रातः प्रतिपदमतीष्ठं सुविदुषां

प्रमाणीनियजं शतपथनिरुक्तादिभिरपि ॥२॥

अर्थात्—विक्रम के संवत् १९३४ पाँच सुदि १३ गुरुवार के दिन यजुर्वेद के भाष्य बनाने का आरम्भ किया जाता है।

यह भाष्य कब समाप्त हुआ, इस विषय में भाष्य की समाप्ति पर निम्नलिखित श्लोक है—

मार्गशीर्ष कृष्ण १ शनौ संवत् १९३६ में समाप्त किया।

वैशाख शुक्ल ११ शनौ संवत् १९४६ में छप कर समाप्त हुआ।

दयानन्द सरस्वती के ऋग्भाष्य की जो विशेषताएँ पहले दी जा चुकी हैं, वैसे ही इस यजुर्वेद भाष्य में भी समझनी चाहिए। दयानन्दसरस्वती ने यज्ञ शब्द से धात्वर्थानुसार बड़ा विस्तृतार्थ ग्रहण किया है, अतः इस भाष्य में यज्ञ का अग्निहोत्र से अश्वमेध पर्यन्त ही अर्थ ग्रहण नहीं किया गया। विद्वानों की पूजा, स्तुति, सांसारिक पदार्थों से उपयोग लेना, यह भी यज्ञ का अर्थ समझा गया है।

काण्वसंहिता के भाष्यकार

(१) सायण (संवत् १३७२-१४४४)

महाराज युक्त प्रथम के काल में ही सायण ने काण्वसंहिता पर भाष्य लिखा था। यह भाष्य अब बीस अध्याय तक ही मिलता है। शेष अध्याय या तो लुप्त हो गए हैं, या सायण ने लिखे ही नहीं। काण्वसंहिता भाष्यकार अनन्त का मत है कि सायण ने उत्तरार्ध पर भाष्य नहीं किया था। उसका लेख नीचे दिया जाता है—

व्याख्याता काण्वशास्त्रीयसंहिता पूर्वविशतिः।

भाष्याचार्य चर्येण स्वर्णीकृत्य न चोत्तरा ॥

अर्थात्—भाष्याचार्य ने काण्वसंहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है, उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं।

यदि अनन्त की बात ठीक है, तो आश्चर्य की बात है कि सायण ने उत्तरार्ध का भाष्य क्यों नहीं किया। हमारा अनुमान है कि या तो सायण का भाष्य लुप्त हो गया था, या इस भाष्य में उसके सहायक भाष्यकार का देहांत हो गया होगा। भाष्य के लुप्त होने का अनुमान इस बात से भी होता है कि शतपथ के प्रथम काण्ड के अन्तिम भागों पर भी सायण भाष्य लुप्त हो चुका है। परन्तु यह सब अनुमान मात्र ही है।

काण्वसंहिता भाष्य में उद्धृत ग्रन्थ का ग्रन्थकार

मनु, प्रकाशात्माचार्य और उनका विवरणग्रन्थ, वेदान्त दर्शन, जैमिनि, भट्ट [कुमारिल], गुरु [भास्कर], कात्यायनोक्त सर्वाङ्गकमण्डू, कात्यायन श्रौत, काण्व शतपथ ब्राह्मण, आपस्तम्ब, तैत्तिरीय और वातिष्ठरामावण आदि ग्रन्थ इस सायण भाष्य में उद्धृत हैं।

भाष्य की विशेषताएं

(१) इस भाष्य की भूमिका में सायण शुक्ल-यजु के पन्द्रह भेद बताता है। परन्तु मुद्रित पुस्तक और हमारे हस्तलेख संख्या ४६५१ के पाठ में बत्तीस भेद हैं। हमारा पाठ महाश के सन् १६१६—१६१६ तक के संग्रह के अङ्क २३६६ के कोश से सर्वथा मिलता है। मुद्रित पुस्तक का इन दोनों कोशों से भेद नीचे दिखाया जाता है—

मुद्रित—काण्याः । माध्यन्दिनाः । राधेयाः । स्तापनीयाः । कापालाः ।

लाहौर—जाबालाः । राधेयाः । काण्याः । माध्यन्दिनाः । श्यामाः ।

मद्रास— ” ” ” ” ”

मुद्रित—प्राण्डिकः । आषट्टिकाः । परमावटिकाः । पाराशर्याः ।

लाहौर—श्यामायनीयाः । मालवाः । विंगलाः । धरमाः ।

मद्रास— ” ” ” ” ”

मुद्रित—वैधेयाः । वैनेयाः । औधेयाः । मालवाः । वैजयाः ।

लाहौर—आषट्टिकाः । परमावटिकाः । पाराशर्याः । धेयेयाः । वैधेयाः ।

मद्रास— ” ” ” ” ”

मुद्रित—कात्यायनीयाः ।

लाहौर—मालवाः ।

मद्रास— ”

हमारा कोश भी कार्यों में प्राप्त किया गया था । मुद्रित पुस्तक में और इन कोशों के पाठ में इतना भेद पाया जाता है कि मुद्रित पुस्तक का पाठ कल्पित प्रतीत होता है ।

(२) ऋग्वेद के सर्गादि के विभागविषय में षेड्डमाभवा और आनन्दतीर्थाभिमत जो बात हम ने पहले पृ० ४१ और ४६ पर लिखी है, वही सायण को भी मान्य है । सायण प्रथमाध्याय के दूसरे मन्त्र के माध्य में लिखता है—

माख्यकानामायर्तनसौकर्याय खण्डिकाविच्छेदस्य मुद्रिम-
द्विरध्यापकैः कल्पितत्वात् । यथा बहुवृत्तानां तत्र तत्र सूत्रमध्येऽपि
वर्गविच्छेदः कल्पितः । यथा या तैत्तिरीयकाणां वाक्यमध्येऽपि
पञ्चाशत्पदसंख्याया विच्छेदः आवृत्तिः सौकर्याय कल्प्यते ।
तद्वदप्राप्यवगन्तव्यम् ।

अर्थात्—अध्येता मालकों के मुख पूर्वक रमरण करने के लिए ही खण्ड
आदि विच्छेद ग्रन्थों में व्यापकों ने बनाए हैं । ऋग्वेद में भी वर्ग विभाग इसी
लिए है । इसी प्रकार यद्यपि तैत्तिरीय पाठ में मन्त्र की समाप्ति नहीं होती तो

भी हर पन्नास पदों के पश्चात् विभाग किया गया है, इसी प्रकार काण्व-संहिता का हाल जानना चाहिए।

काण्वसंहिता में भी बिना मन्त्र समाप्ति के विभाग किया गया है।

(१) सायण का मत है कि ब्राह्मण मन्त्र का व्याख्यान है। यह हम भाष्य के उपोद्घात में लिखता है—

शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वात्

अर्थात्—शतपथ ब्राह्मण मन्त्रों का व्याख्यानरूप है।

इसी अभिप्राय से भाष्य के मध्य में यह प्रत्ययः काण्व ब्राह्मण का पाठ उद्धृत करता है।

सायण के काण्वसंहिता भाष्य के सुसम्पादन की बड़ी आवश्यकता है।

(२) आनन्दबोध (सं० १५००-१६००)

आनन्दबोधभट्टोपाध्याय ने सम्पूर्ण काण्वसंहिता पर अपना भाष्य रचा है। इसके प्रथम बीस अध्यायों का एक कोश पूना में है।^१ पञ्जाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में अध्याय १६-३८ तक का एक और कोश है। हमारे पुस्तकालय में संख्या ५६५२ के अन्तर्गत दो ग्रन्थ हैं। इन में से एक आनन्दबोध भाष्य है। यह बीसवें अध्याय से ३६वें तक है। हमारे पास इसी भाष्य के कुछ और भी पत्र हैं। उनकी संख्या २३ है। वे संख्या ४२५५ में प्रविष्ट हैं। इस भाष्य का उपनिषद्भक्त कालीसर्वा अध्याय आनन्दाधम के ईशावास्योपनिषद् भाष्य में सम्मिलित है। उस का सम्पादन महामहोपाध्याय आचार्य उपनाम बालशास्त्री ने किया था। इस इतान्त से ज्ञात हो जाता है कि इस समय भी इस भाष्य का समग्र भाग अभी तक मिल सकता है।

भाष्य का नाम

अध्यायों की परिसमाप्ति पर इस भाष्य का नाम काण्ववेदमन्त्रभाष्य संग्रह लिखा है। आनन्दाधम के संस्करण में उपनिषद् की समाप्ति पर निम्न-लिखित लेख है—

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यधीवासुदेवपुरीपूज्य-
पादपरमकारुण्यासादितभीकृष्णभक्तिसाम्राज्यस्य श्रीमज्जातवेद-
भट्टोपाध्यायस्य सूनुना चतुर्वेदिश्रीमदानन्दभट्टोपाध्यायेन विरचिते
कारणवेदमन्त्रभाष्यसंग्रहे चरधारिशोऽध्यायः ॥४०॥

इस से ज्ञात होता है कि आनन्दबोधभट्टोपाध्याय के पिता का नाम
जातवेदभट्टोपाध्याय था । क्या महाभारत के टीकाकार विमलबोध का इस
आनन्दबोध से कोई सम्बन्ध था ?

काल

आनन्दबोध के काल के सम्बन्ध में अभी तक कुछ नहीं कहा जा
सकता । पूना के कोश में पृष्ठमात्राएं हैं । इस से यह प्रतीत होता है कि
आनन्दबोध १०० वर्ष से कुछ पहले ही हुआ होगा । देवयाज्ञिक ४२४ वर्ष
से पूर्व का ग्रन्थकार है क्योंकि संवत् १५६४ का उस के इष्टकारुणभाष्य
का एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है । यह
देवयाज्ञिक याज्ञप्य सर्वानुकमणी के भाष्य में किसी कारणसंहिताभाष्य को
उद्धृत करता है ।^१ उस का उद्धृत पाठ निम्नलिखित है—

उर्ध्वन्तरिक्षमित्यस्य रक्षोघ्नं ब्रह्मदेवतेति एवं कारणसंहिताभाष्ये
व्याख्यातमस्ति ।

अर्थात्—उर्ध्वन्तरिक्षम् मन्त्र का रक्षोघ्न ब्रह्मदेवता है । ऐसा कारण-
संहिताभाष्य में व्याख्यान किया गया है ।

पुनः देवयाज्ञिक लिखता है—

अग्निदेवतेति माधवाचार्याः ।^२

अर्थात्—एष्टारायः इस पंचमाध्याय के मन्त्र का अग्नि देवता है ।

यह दोनों पाठ सायणभाष्य के कारणसंहिताभाष्य में हमें नहीं मिले ।
सायण अपने भाष्य में इस प्रकार से देवता नहीं देता । इन में से यदि पहला

१—प्रथमाध्याय, १०-१७ कारी संस्करण ।

२— ” ” ७२ ” ”

पाठ आनन्दबोध के भाष्य में मिल जाय, तो आनन्दबोध के काल का कुछ सुनिश्चित पता लग जायगा ।

आनन्दबोध के सम्बन्ध में हम इस से अधिक अभी तक और कुछ नहीं लिख सकते ।

(३) अनन्ताचार्य (सं० १७०० के समीप)

अनन्ताचार्य के भाष्य के कोरा तीन स्थानों में हैं । अलवर संख्या ११३ का कोरा ३२-४० अध्याय तक है । पूना नवीन संख्या २४५ का कोरा भी ३२-४० अध्याय तक का है । इस का लिपिकाल शक १७२२ ई । तीसरा कोरा मद्रास में है ।^१ वह अध्याय २१-३० तक है । इस के आलीखड़े अध्याय का भाष्य ईशावास्योपनिषद् के बालशास्त्री के संस्करण में आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है ।

काल

अनन्त २४५ वर्ष से पुराना है । अनन्त के प्रातिशारूपभाष्य का इतने वर्ष पुराना लख कलकत्ता में विद्यमान है ।^२ अपने कण्वकण्ठभरण में अनन्त होलीरभाष्य को उद्धृत करता है । याज्ञुषसर्वानुक्रमणी का होलीरभाष्य बहुत पुराना ग्रन्थ नहीं है । यह गायत्र्यभाष्य के परचाही ही होगा, अतः अनन्त ३०० या ४०० वर्ष पुराना ही है । अनन्त गायत्र्यभाष्य को भी उद्धृत करता है । इस प्रकार भी पूर्वोक्त बात ही ठीक प्रतीत होती है ।

कुल

मद्रास के कोरा के आरम्भ में लिखा है—

घन्दे श्रीपितृचरणान् भट्टनागेशसंज्ञकान् ।

यत्प्रसादादहं प्राज्ञः सञ्जातो जडधीरपि ॥

घन्दे भांगीरथीमन्यां.....गुणशालिनीम् ।

१—A Triennial Catalogue of Mss. Vol. III. part I, Sanskrit B, No. 2452.

२—परिषद्दिक लोकाद्वी बंगाल, कलकत्ता, नवीन सूची-पत्र, संख्या ६०० ।

पूना के कोश के अन्त में लिखा है—

अथा भागीरथी यस्य नागदेवः पिता सुधीः ।

काश्यां वासः सदासस्य चित्तं यस्य रमाप्रिये ॥८॥

अर्थात्—पिता का नाम नागदेव या नागेश भट्ट था । माता भागीरथी थी, आर काशी में वह रहता था । वह अपने को प्रथम शास्त्रीय अर्थात् कश्यपशास्त्रीय लिखता है ।

भाष्य

प्रतीत होता है अनन्त ने उत्तरार्ध पर ही अपना भाष्य रचा है । मद्रास के कोश से यह बात स्पष्ट होती है—

व्याख्याता कश्यपशास्त्रीयसंहिता पूर्वविंशतिः ।

माधवाचार्यवर्येण स्पष्टीकृत्य न चोत्तरा ॥

अतस्तां व्याकरिष्ये ऽहमनन्ताचार्यनामकः ।

अर्थात्—माधवाचार्य ने कश्यपसंहिता के पहले बीस अध्यायों का ही व्याख्यान किया है, उत्तरार्ध के बीस अध्यायों का नहीं, अतः मैं अनन्ताचार्य नाम वाला उस बी व्याख्या करूँगा ।

पूना कोश के अन्त में लिखा है—

कात्यायनकृतं सूत्रं ब्राह्मणं शतपथामिधं ।

पुरातनानि भाष्याणि निरुक्ताचंगमेष च ॥४॥

ब्रालोक्य सम्यग्बहुधा कृतं भाष्यमनुत्तमं ।

सन्ति भाष्याण्यनेकानि प्रणीतानि हि सूरिभिः ।

मद्रास कोश के आरम्भ में लिखा है—

अनेकग्रन्थमालोक्य दीपिका क्रियते मया ।

बहूनि सन्ति भाष्याणि प्रणीतानि हि सूरिभिः ।

न पारिडत्याग्निमानेन न च वित्तस्य लिप्सया ।

दीपिका रच्यते किन्तु लक्ष्मीकान्तस्य तुष्टये ॥

अर्थात्—कात्यायनकृत सूत्र, शतपथब्राह्मण, पुराने भाष्य और निरुक्तादि ज्यों की भले प्रकार देख कर यह अनन्त उत्तम भाष्य किया गया है । इसका

नाम भावार्थदीपिका है। न तो अपने पाण्डित्य के अभिमान से, न ही धन के लोभ से, परन्तु लक्ष्मीकान्त अर्थात् विष्णु की प्रसन्नता के लिए किया गया है। अनन्त अपने भाष्य को कभी कभी वेददीप भी कहता है—

अमुना वेददीपेन मया नीराजितो हरिः ।

अर्थात्—इस वेददीप से मैं ने विष्णु की पूजा की है।

काशीवासी महीधर भी अपने भाष्य को वेददीप कहता है। सम्भव है, अनन्त और महीधर समकालीन ही हों।

अनन्त के अन्य ग्रन्थ

(१) शतपथ ब्राह्मण भाष्य । इस के १३वें अर्थात् अष्टाध्यायी काण्ड पर भाष्य का एक हस्तलेख मद्रास में है ।^१

(२) कण्वकण्डाभरण । इस के हस्तलेख भी मद्रास में है ।^२

(३) याजुष्य प्रातिशाख्यभाष्य, पदार्थप्रकाश । इस के चार कोश कलकत्ता में है ।^३

(४) भाषिकसूत्रभाष्य । इस का कोश एशिया० सो० नवीनसंख्या १४६४ है।

कालनाथ (संवत् १२५० के समीप)

कालनाथ के ग्रन्थ का नाम यजुर्मञ्जरी है । यह यजुर्मञ्जरी यजुर्विधानान्तर्गत लगभग २५० मन्त्रों का भाष्य है । कालनाथ अपने प्रारम्भिक रत्नों में लिखता है—

विविच्य भाष्यं विविधांश्च कल्पान् एतस्य तोषाय मुदा व्यतानीत् ।

भट्टस्वयम्भूतनयोऽत्र विद्वान् श्रीकालनाथः सहकारिभाषयम् ॥२५॥

अर्थात्—भाष्य को और अनेक कल्पों को देख कर इस राजा

१—A Triennial Catalogue of Mss. Vol. III. Part I. Sanskrit B. p. 3309-3312.

२—तथैव, पृ० २१४१ और २४२०।

३—एशिया० सो० बङ्गाल कलकत्ता नवीन सूचीपत्र, भाग १ पृ०

७४०-७४१।

(महाराजदेव) की प्रसन्नता के लिए स्वभूमि के पुत्र कालनाथ ने इत प्रन्थ को रचा ।

काल

कालनाथ जिस राजा महाराजदेव का राजपण्डित था, उस के सम्बंध में उस ने निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं—

अस्ति प्रशस्तं दिशि पश्चिमायामुच्चाभिधानं नगरं गरीयः ॥३॥

उच्चैस्तनारब्धरगाथगाहं तीर्थं परं पञ्चनदं पवित्रम् ॥४॥

क्षितीश्वराः क्षत्रपदावतंताः तत्राविरासंस्तद्व्यप्रतापाः ।

येषामभूत् वाघरनामधेयः प्ररुढशक्तिः प्रथमो नरेन्द्रः ॥५॥

अर्थात्—पश्चिम दिशा में उच्च या (उध ?) नाम का एक प्रशस्त और बड़ा नगर है । वहाँ क्षत्रपदावतंग अनेक प्रतापी राजा हुए हैं । उन में वाघर नाम का एक कुल का प्रथम राजा हुआ है ।

अगले श्लोकों में उस राजा के वंश का निम्नलिखित वर्णन है—

वाघर—तोलोक—राम—हरिश्चन्द्र—सहदेव—हंसपाल—मंगल—

वीरपाल—जयपाल और महाराजदेव । इती अंतिम राजा महाराजदेव के काल में यह प्रन्थ रचा गया था ।

पञ्चनद नाम के भारत में दो तीर्थ स्थान हैं । परन्तु कालनाथ का पञ्चनद आधुनिक रियासत महाबलपुर वाला ही प्रतीत होता है । वहीं पुर एक उच्च नगर भी है । सम्भवतः वहीं के राजाओं का वर्णन कालनाथ ने किया है । यह स्थान कभी राजस्थान का भाग था ।

एशियाटिक सोसाइटी बंगाल, कलकत्ता का एक हस्तलेख संवत् १५८१ का है । अतः कालनाथ इस से तो पहले हुआ ही होगा । उच्च में मुसलमान राजाओं का आधिपत्य संवत् १२३२ से आरम्भ हो गया था । कालनाथ ने सब आर्य राजाओं का उल्लेख किया है । अतः वह संवत् १२३२ से पहले ही हुआ होगा ।

सब से अंतिम प्रन्थ जिस में कालनाथोद्धृत एक प्रमाण मिला है, पार्थसारिणिध की शास्त्रवैपिका है । परन्तु पार्थसारिध का काल भी अनिश्चित

ही है, अतः इस प्रमाण से पूर्वांक परिणाम से अधिक और उच्च बात नहीं निकाली जा सकती ।

भाष्य

यजुर्मञ्जरी उवटभाष्य की छायाभाष्य प्रतीत होती है । चाहे उस ने उवट से उपयोगी सामग्री ली हो, या किसी ऐसे ग्रन्थकार से, जो उवट का भी आधार था ।

यजुर्मञ्जरी का संस्करण हमारे मित्र वाचस्पति एम० ए० कर रहे हैं । उन्हीं के अनुसन्धान के आधार पर पूर्वांक पंक्तियाँ लिखी गई हैं ।

मुरारिमिथ (संवत् १४०० के समीप)

मुरारिमिथ ने पारस्करमन्त्रभाष्य नाम का एक ग्रन्थ रचा है । जैसा इस के नाम से स्पष्ट है, इस में पारस्करगृह्यान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य है । यह भाष्य मुरारिमिथ ने अपने पिता वेदमिथकृत गृह्यभाष्य से सामग्री पृथक् कर के बनाया है । मुरारिमिथ भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

प्रणम्य पूर्वं पुरुषं पुराणं तथैव कात्यायनपादपञ्चम् ।

तनोति पारस्करमन्त्रभाष्यं मुरारिमिथः पितृगृह्यभाष्यात् ॥

गृह्यप्रकाशाभिधभाष्यगर्भाच्छ्रीवेदमिथैर्विधिबन्धुं प्रणीतात् ।

आहूय्य बन्धुं विदधाति मन्त्रे मुरारिमिथः श्रुतितो विविच्य ॥

अर्थात्—परमात्मा को और कात्यायन को नमस्कार कर के पिता के गृह्यभाष्य से मुरारिमिथ पारस्करमन्त्रभाष्य का विस्तार करता है । वेदमिथ ने जो गृह्यप्रकाश नाम वाला भाष्य किया है, उस से लेकर और श्रुति से विवेचना कर के मुरारिमिथ मन्त्रभाष्य को करता है ।

काल

एशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र भाग २ में संख्या ८४४ पर इस मन्त्रभाष्य का एक कोश है । वह संवत् १४३८ का लिखा हुआ है । इसी मन्त्रभाष्य का एक और हस्तलेख जम्पू के रघुनाथ-मंदिर के पुस्तकालय में है । वह संवत् १४३० का लिखा हुआ है इस से ।

प्रतीत होता है कि संवत् १४१० के पश्चात् यह ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

हलायुध (संवत् १२३२-१२५७)

हलायुध ने काव्यसंहिता के मन्त्रों पर भाष्य किया है। उस के ग्रन्थ का नाम ब्राह्मणसर्वस्व है। ब्राह्मणसर्वस्व संवत् १२१५ में बनारस में रचा था। इस ग्रन्थ के हस्तलेख पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। उन के देखने से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का अष्टला संस्करण निकलना चाहिए।

काल

हलायुध के सम्बन्ध में रायबहादुर मनमोहनचक्रवर्ती ने एशियाटिक सोसाइटी बंगाल के जर्नल, सन् १८१५ में पृ० १२७-१२९ तक एक लेख लिखा है। काणे महाशय ने भी अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में पृ० २१६-१०१ तक इसी सम्बन्ध में विचार किया है। इन दोनों महाशयों का मत है कि हलायुध संवत् १२१२-१२५७ तक ग्रन्थ लिखता रहा होगा। उन के इस विचार का आधार ब्राह्मणसर्वस्व के आरम्भ का निम्नलिखित श्लोक है—

बाल्ये क्यापितराजपरिडटपदं श्वेताग्निबिम्बोऽग्नयः।

ऋद्धयोरित्सूक्तमहामहस्तनुपदं दत्त्वा नवे यौवने।।

यस्मै यौवनशेषयोग्यमखिलदमापालनारायणः

धीमांस्तदमणसेनदेवनृपतिर्धर्माधिकारं ददौ ॥

अर्थात्—बाल्य में जिसे राजपंडित का पद मिला। यौवनारम्भ में श्वेतछत्राधिकारी जो महामह बनाया गया। राजा लक्ष्मणसेनदेव ने जो राजाओं में नारायण था, उसे उत्तर यौवन में धर्माधिकारी बनाया।

यह राजा लक्ष्मणसेनदेव संवत् १२१७ से लगभग संवत् १२५७ तक राज करता रहा, अतः हलायुध का ग्रन्थ-निर्माण-काल संवत् १२१२-१२५७ तक ही समझना चाहिए।

मनमोहनचक्रवर्ती के अनुसार शुद्धिदीपिका का लेखक श्रीनिवास संवत् १२१७ में जीता था। उस के ग्रन्थ का एक प्रमाण हलायुध देता है, अतः हलायुध उस के पश्चात् ही हुआ होगा।

हलायुधोद्धृत ग्रन्थ वा ग्रन्थकार

हलायुध अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अतिरिक्त पारस्करगृह्य-कर्मभाष्य, मुमुक्षुभार्यकृत वेदभाष्य, उषट, यज्ञपार्व, आदि ग्रन्थों को भी उद्धृत करता है।

हलायुध के ग्रन्थ

ब्राह्मणसर्वस्व के आरम्भ में हलायुध लिखता है —

मीमांसासर्वस्वं वैष्णवसर्वस्वं यत्कृतशैवसर्वस्वम्
पण्डितसर्वस्वमसौ सर्वस्वं सर्वधत्तमम् ॥१६॥

अर्थात्—मैंने मीमांसासर्वस्व, वैष्णवसर्वस्व, शैवसर्वस्व, पण्डितसर्वस्व, रचे हैं। यह सब ग्रन्थ अभी तक मिल नहीं सके।

हलायुध अपने ब्राह्मण सर्वस्व में उषटभाष्य की बहुत सहायता लेता है।

आदित्यदर्शन

आदित्यदर्शन ने कठमन्त्रपाठ पर या सम्भवतः वाराणसीय मन्त्रपाठ पर अपना भाष्य लिखा था। अपने कठगृह्यसूत्रविवरण के आरम्भ में यह स्वयं लिखता है—

प्रायेण मन्त्रविवृती विवृतं मयेदं

गृह्यं तथापि बहुभिः श्रवलीकृतत्वात्।

स्पष्टं सुयुक्तिं लघुवाक्यविदामभीष्ट-

मिष्टं चिकीर्षुरहमत्र पुनर्विचित्रम् ॥

अर्थात्—मन्त्रविवृति में मैंने प्रायः इस गृह्य का व्याख्यान कर दिया है, परन्तु अनेक व्याख्याकारों ने इसे दूषित कर दिया है, इस लिए इस अद्भुत, स्पष्ट और लघुवाक्य जानने वालों के अभीष्ट भाष्य को मैं पुनः करना चाहता हूँ।

काल

काठकगृह्यपञ्चिक्य का कर्ता ब्राह्मणबल आदित्यदर्शन को उद्धृत करता है।^१ काठकगृह्यसूत्र का भाष्यकार देवपाल भी आदित्यदर्शन को उद्धृत करता

है।^१ इस से प्रतीत होता है कि आदित्यदर्शन इन दोनों से पुराना था। परन्तु देवपाल और ब्राह्मणवत् का भी अभी तक कोई निश्चित काल ज्ञात नहीं हो सका, अतः आदित्यदर्शन के काल सम्बन्ध में भी और कुछ नहीं कहा जा सकता।

कुल

अपने कुल के सम्बन्ध में आदित्यदर्शन लिखता है—

यो वेददर्शन इति द्विजवर्गमुच्यः

सत्याजं वाशयविशुद्धगुणैः प्रसिद्धः ।

आस्तिक्यनिर्मलप्रतिविहितानि चक्रे

चारायणीयचरैकगुणैः प्रदाता ॥

तस्यात्मजो विगतमत्सरमानसानां

मन्त्रार्थतत्त्वविदुषां जयनिम्ब्रियाणि ।

श्लाघ्यः धृताभिजनमाधवरातशिष्य

आदित्यदर्शन इमां विवृतिं व्यधत् ॥^२

इस से ज्ञात होता है कि आदित्यदर्शन के पिता का नाम वेददर्शन था। वह चारायणीय शाखा का एकमात्र जानने वाला था। आदित्यदर्शन के गुरु का नाम माधवरात था।

आदित्यदर्शन की चारायणीय मन्त्रविधि वैदिक भाष्यों में एक अच्छा स्थान रखती होगी।

देवपाल

देवपाल का भाष्य भी कठमन्त्रपाठ पर है। इस भाष्य का कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है, प्रत्युत देवपाल के कठश्लोभाष्य के अन्तर्गत ही यह भाष्य भी है। देवपालभाष्य के पन्जाब यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय के कोश के अन्त में लिखा है—

१—कठकश्लोकावलि, लाहौर संस्करण पृ० २८४।

२—कठकश्लोकावलि, काश्मीर संस्करण, भूमिका, पृ० २।

इति श्रीचारायणीमन्त्रभाष्यं भट्टहरिपालकृतं समाप्तम् ।

कारमीर संस्करण में प्रदुक्त दो में से एक कोश के अन्त में लिखा है—

इति चारायणीयमन्त्रभाष्यं कृतिः श्रीमदाचार्यवर्यस्वामि-

भट्टारकहरिपालपूज्यपादानाम् ।

इन दोनों लेखों से यह बात सम्भव प्रतीत होती है कि मन्त्रभाष्य हरिपाल का ही हो और पुत्र देवपाल ने अपने पिता का भाष्य ही अपने गृह्यभाष्य में सम्मिलित कर लिया हो ।

देवपालभाष्य के अनेक अध्यायों के अन्त में लिखा है—

इति जलन्धरीय जयपुरवास्तव्य भट्टोपेन्द्रसुहृदिपालपुत्र-
देवपालविरचिते समन्त्रककाठकगृह्यभाष्ये ।

इस से ज्ञात होता है कि देवपाल के कुल का मूल स्थान कोई जलन्धर नगर या परन्तु उस का पास जयपुर में था । उस के पिता का नाम हरिपाल और पितामह का नाम भट्ट उपेन्द्र था ।

भाष्य

देवपाल या हरिपाल का भाष्य कर्ता की महती योग्यता का परिचय देता है । इस भाष्य में निषण्ड और निरुक्त का नाम यद्यपि कम स्मरण किया गया है, तथापि उस के भाव का स्थान स्थान पर आश्रय लिया गया है । भाष्य में कहीं कहीं आध्यात्मिक अर्थ की भी झलक पड़ती है । उस के मन्त्रभाष्य में से एक मन्त्र का भाष्य लिखा जाता है—

तस्मा अरंगमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।

आपो जनयथा च नः ॥

यस्येति आत्ययेन कर्मणि पठ्यते । हे आपः यं रसं प्राणिषु जिन्वथ । जिं जये । खट् । व्यत्ययेन रतुः । ततः सप् बाहुलकात् कविद्विपिकरणा-
दिता हुषनुवोः सार्वधातुके [१।१।१७] इति गणदेशः । अनेकार्था धातवः । तेनायमर्थः—जयद्योषविनुय ना । किमर्थम् । क्षयाय । क्षि निवासगत्योः । भूतानां निवासाय स्थितये गमनाय च । नानारूपकर्मोपभोगार्थेष्टायै ज्ञानाय च । तस्मै अरङ्गमाम वः । मत्वर्थकर्मणि [१।१।२।२] इति कर्मणि बहुव्रीहि । तं युष्माकं

सम्बन्धिनं रसं तूर्णमलं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जीवनाभ्यसादधानाशास्महे इति भोगसङ्केतद्वय आशास्यते ।

मुमुक्षुभिर्प्राप्य स्थित्वं योजना-हे आपः यस्य परमात्मनः क्षयाय नित्यानन्दद्वारेणानुष्ठानाय जिह्यथ यत्पञ्चम् । तं युष्माकमेव संबन्धिनं परं स्वभावं वयं युष्मत्प्रसादात्पूर्वं पर्याप्तं वा कृत्वा गच्छेम जानीयाम प्राप्नुयाम च, मोक्ष-प्राप्तिररमाकमस्तिवत्याशास्महे इत्यर्थः । आपो जनयथा च नः यस्माद्युष्मन्-प्रसादादेवमाशास्महे तस्मादस्मान् मोक्षप्राप्तिशेकान् जनयथं कुरुष्वम् । महानुभावत्वादेकैव च सर्वत्र देवता ब्रह्मरूपा आदित्यरूपा वा श्रूयते

यहाँ दो प्रकार का अर्थ किया गया है । एक याज्ञिक और दूसरा आध्यात्मिक । एक और मन्त्र है—

आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म ।

इस मन्त्र में आपः आदि चारों पद ब्रह्म के विशेषण माने गए हैं—

तत्र ब्रह्मेति विशेष्यपदम् । आप इत्यादीनि चत्वारि विशेष-ण्यदानि । ब्रह्म विशेष्य है । वही ब्रह्म व्यापक होने से आप, ज्ञान और प्रकाशयुक्त होने से ज्योति, सारवाला होने से रस और नित्यानन्द तथा परमा-विनाशी होने से अमृत कहा गया है । अन्यत्र भी वह चित्रं देवानाम्, हंसः शुचिपत्न्य, आदि मन्त्रों का ब्रह्मपरक अर्थ करता है ।

इस भाष्य में कठसंहितास्थ अनेक कठिनमन्त्रों का अर्थ मिल जाता है ।

सोमानन्दपुत्र

सोमानन्द का कोई पुत्र था । उस ने भी कठमन्त्रपाठ पर भाष्य किया है । उस के भाष्य का एक कोश जम्मू में है । उस का दूसरा मंगलरत्नक निम्नलिखित है—

त्रिज्येश्वरपास्तव्यसोमानन्दस्य सनुना ।

मन्त्रभाष्यमिदं कृतं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः ॥२॥

इस श्लोक का उत्तरार्ध उक्त भाष्य के एक श्लोकार्थ की नकल है । कोश में केवल १२ पद्ये हैं । ग्रन्थ अपूर्ण है ।

तैत्तिरीयसंहिता के भाष्यकार

(१) कुण्डिन (पाँचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

काण्डानुक्रमणी नाम का एक प्राचीन ग्रन्थ है। उस का सम्बन्ध तैत्तिरीय-संहिता से है। उस में लिखा है—

यस्याः पदरुदश्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ।

अर्थात्—जिस शास्त्र का पदकार आश्रेय है, और जिस का वृत्तिकार कुण्डिन है।

काण्डानुक्रमणी में जिस प्रकार यह लेख आया है, उस से प्रतीत होता है कि कुण्डिन बहुत प्राचीन काल का व्यक्ति है। काल की दृष्टि से उस का पदपाठकार से थोड़ा सा ही अन्तर होगा।

पदपाठकार का काल भी नया नहीं है। प्रायः सारे ही पदपाठकार महाभारत-काल के एक दो शताब्दी परचाव हो चुके थे। तभी यह वृत्तिकार कुण्डिन भी हुआ होगा। फिर भी सावधानता के तौर पर हम ने इस का काल कम से कम पाँचवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व का माना है।

बोधायनवृत्तसूत्र ३।१।१॥ में लिखा है—

कौण्डिन्याय वृत्तिकाराय

इस से ज्ञात होता है कि वृत्तिकार का नाम कौण्डिन्य था। कुण्डिन और कौण्डिन्य में बड़ा भेद है। वृत्तिकार के इस नामभेद का कारण हम अभी नहीं कह सकते।

(२) भवस्थामी (आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

हम ने इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० ४२ पर लिखा था—

त्रिकाण्डमण्डन १।१०।१॥ में केशवस्थामी का नाम मिलता है।

त्रिकाण्डमण्डन लगभग ११वीं शताब्दी का ग्रन्थ है।^१ केशवस्वामी इस से कुछ पूर्व हुआ होगा। यह केशवस्वामी अपने बौधायनप्रयोगसार के आरम्भ में लिखता है—

नारायणादिभिः प्रयोगकारैरेकं पञ्चमाधित्य दर्शपूर्णमासा-
दीनां प्रयोग उक्तः। आचार्यपादैः द्वैधे पञ्चान्तराण्युक्तानि। भवस्वा-
मिमतानुसारिणा मया तु उभयमप्यङ्गीकृत्य प्रयोगसारः कियते।

अर्थात्—नारायणादि प्रयोगकारों ने एक पञ्च का आश्रय लेकर प्रयोग कहा है। आचार्यपाद ने द्वैध में पञ्चान्तर भी कहे हैं। भवस्वामी मतानुसारी मैं दोनों को अङ्गीकार कर के प्रयोगसार लिखता हूँ।

जिस नारायण को केशवस्वामी उद्धृत करता है, वह बौधायनसूत्र का प्रयोगकार है। वह अपने प्रयोग में एक गोपाल को उद्धृत करता है—

पश्चार्धात् पूर्वार्धादवदायेति गोपालः।^२

सम्भवतः यही गोपाल है जो अपनी बौधायन-कारिकाओं में भवस्वामी का स्मरण इस प्रकार करता है—

इति द्वैधोदिताः पक्षा भवस्यामिमतानुगाः।

इस सारे विचार से निश्चित होता है कि भवस्वामी नवम शताब्दी के पहले का ग्रन्थकार है। भट्टभास्करादि भाष्यकार भी भवस्वामी का स्मरण करते हैं, यह हम दूसरे भाग में लिख चुके हैं। ये ग्रन्थकार जिस प्रकार से भवस्वामी का कथन करते हैं, उस से प्रतीत होता है कि भवस्वामी पर्याप्त प्राचीन ग्रन्थकार है। कम से कम वह आठवीं शताब्दी विक्रम से अथवा पहले हुआ होगा।

१—नाथदुर्ग वामन काणे का भी यही मत है। वह अपने धर्मशास्त्र के इतिहास पृ० २५१ पर लिखते हैं—

Trikanda Mandana (who flourished before 1100 A.D.)

२—यजीपत्र, रायल एशियाटिक सोसाइटी, मुम्बई शाखा भाग दो, सन् १८२८,

पृ० १८१, १८४।

भवंस्वामी का तैत्तिरीयसंहिताभाष्य अब भी प्राप्त हो जावगी, ऐसी मुझे दृढ़ आशा है।

(३) गृहदेव (आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

देवराजबज्ज्या अपने निघण्टुभाष्य की भूमिका में लिखता है कि गृहदेव का कोई वेदभाष्य था। यह भाष्य किस वेद पर था ? निघण्टु १।२।१४॥ पर भाष्य करते हुए वह पुनः लिखता है—

तथा च—रश्मयश्च देवा गरगिरः-इत्यत्र गृहदेवः—

गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः-इति भाष्यं कृतवान्।^१

रश्मयश्च देवा गरगिरः वह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में आता है।

इस से प्रतीत होता है कि गृहदेव का भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर था।

काल

आचार्य रामानुज अपने वेदार्थसंग्रह में लिखता है—

यथोदितकमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद्विधायन-उद्ग-
मिड-गृहदेव-कपार्दि-भारुचि-प्रभृत्यभिगीत-शिष्टपरिगृहीत-पुरातन-
वेद-वेदान्तव्याख्यान-सुख्यक्तार्थ-धृतिनिकरनिर्दिशितोऽयं पन्थाः।^२

इस वाक्य में रामानुज वेद और वेदान्त के पुरातन व्याख्यानों का वर्णन करता है। जिन ग्रन्थकारों को रामानुज पुरातन ग्रन्थकार कहता है, वे उस से ४०० वर्ष से भी कहीं पूर्व के होंगे। रामानुज के स्मरण किए हुए उन्हीं पुरातन ग्रन्थकारों में से गृहदेव भी एक है। रामानुज गृहदेव के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य से अवश्य परिचित था। उस के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि गृहदेव के भाष्य का मुक्तान्त्रिभाष्यपद्ध की की ओर था।

गृहदेव का भाष्य आठवीं शताब्दी विक्रम से कहीं पहले का होगा वह भवस्वामी से पहले था, या पीछे, इस विषय में हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा अनुमान है कि भट्टनास्करमिश्र अपने तैत्तिरीयसंहिता भाष्य

१—यह पाठ हम ने शोध कर लिया है।

२—अरीयसंस्कार, संवत् १८५२, पृ० १४८।

के आरम्भ में भवस्याग्यादिभाष्य पद से भवस्थामी के साथ गुहदेव आदि भाष्यकारों का भी स्मरण कर रहा है।

मेरा विरवास है कि यत्न करने पर गुहदेव का भाष्य अब भी मिल सकता है।

(४) कौशिक भट्टभास्करमिथ (११वीं शताब्दी विक्रम)

इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ४२-४७ तक भट्टभास्करमिथ के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उस लेख का सार यही है कि सायण और देवराजयज्वा भट्टभास्करमिथ के भाष्य से अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं। अब इस विषय में और अधिक लिखा जाता है।

काल

(१) संवत् १४२० के समीप का विश्वेश्वरभट्ट या मान्धाता अपने महाशेष में भट्टभास्कर को उद्धृत करता है—

इति तैत्तिरीयशास्त्रानुसारेण चमकानुवाकाः ॥ छ ॥ अथ नमकैरवांतरवाक्यानां प्रयोगः । भास्करादिविनिर्दिष्टभाष्यद्वयः ।

(२) सायण भट्टभास्करमिथ को उद्धृत करता है।

(३) देवराजयज्वा भट्टभास्करमिथ को उद्धृत करता है।

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक अपनी न्यायपरिशुद्धि द्वितीय आन्ध्रक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है। यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण सुदर्शनमीमांसा का कर्ता है। वेदाचार्य का काल संवत् १२०० से कुछ पहले का है। यह बल्लाल-नामक राजा का समकालीन था। वह सुदर्शन-मीमांसा के पृ० ४ और ८ पर क्रमशः लिखता है—

तथा भाष्यकृता भट्टभास्करमिथेण ज्ञानयज्ञाख्ये भाष्ये एतत्प्रमाणव्याख्यानसमये चरणमिति देयताधिशेष इति तदनुगुणमेव व्याख्यातम् ।

एवं यजुर्वेदभाष्येषु कदैवत्यत्वं प्रवर्ग्योत्तरशान्त्यनुवादकत्वं ज्ञानयज्ञादिषु होतुराख्ये विनिधोगादग्निदैवत्यत्वम् ।

भवस्वामी का तैत्तिरीयसंहिताभाष्य अब भी प्राप्त हो जायगी, ऐसी मुझे दृढ़ आशा है।

(३) गृहदेव (आठवीं शताब्दी विक्रम से पूर्व)

देवराजयजुषा अपने निषण्णुभाष्य की भूमिका में लिखता है कि गृहदेव का कोई वेदभाष्य था। यह भाष्य किस वेद पर था ? निषण्णु ११३।१४॥ पर भाष्य करते हुए वह पुनः लिखता है—

तथा च—रश्मयश्च देवा गरगिरः-इत्यत्र गृहदेवः—

गरमुदकं गिरन्ति पिबन्तीति गरगिरः-इति भाष्यं कृतवान्।^१

रश्मयश्च देवा गरगिरः यह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक में आता है।

इस से प्रतीत होता है कि गृहदेव का भाष्य तैत्तिरीय संहिता पर था।

काल

आचार्य रामानुज अपने वेदार्थसंग्रह में लिखता है—

यथोदितक्रमपरिणतभक्त्येकलभ्य एव भगवद्बोधायन-उद्ग-
ममिह-गृहदेव-कपार्दि-भाकचि-प्रभृत्ययिगीत-शिष्टपरिगृहीत-पुरातन-
वेद-वेदान्तव्याख्यान-सुख्यक्तार्थ-श्रुतिनिकरनिर्दिशितोऽयं पन्थाः।^२

इस वाक्य में रामानुज वेद और वेदान्त के पुरातन व्याख्यानो का वर्णन करता है। जिन ग्रन्थकारों को रामानुज पुरातन ग्रन्थकार कहता है, वे उस से ४०० वर्ष से भी कहीं पूर्व के होंगे। रामानुज के स्मरण किए हुए उन्हीं पुरातन ग्रन्थकारों में से गृहदेव भी एक है। रामानुज गृहदेव के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य से अवश्य परिचित था। उस के लेख से यह भी प्रतीत होता है कि गृहदेव के भाष्य का मुकाबल अथ्यात्मपत्र की की ओर था।

गृहदेव का भाष्य आठवीं शताब्दी विक्रम से कहीं पहले का होगा वह भवस्वामी से पहले था, या पीछे, इस विषय में हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा अनुमान है कि भट्टभास्करमिथ अपने तैत्तिरीयसंहिता भाष्य

१—यह पाठ हम ने शोध कर लिखा है।

२—आर्यसंस्करण, संवत् १९५२, पृ० १४८।

के आरम्भ में भयस्याग्यादिभाष्य पद से भवत्वानी के साथ गुहदेव आदि भाष्यकारों का भी स्मरण कर रहा है।

मेरा विश्वास है कि भूल करने पर गुहदेव का भाष्य अब भी मिल सकता है।

(४) कौशिक भट्टभास्करमिथ (११वीं शताब्दी विक्रम)

इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ४२-४४ तक भट्टभास्करमिथ के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। उस लेख का सार यही है कि सायण और देवराजयजुषा भट्टभास्करमिथ के भाष्य से अनेक प्रमाण उद्धृत करते हैं। अब इस विषय में और अधिक लिखा जाता है।

काल

(१) संवत् १४२० के समीप का विश्वेश्वरभट्ट या मान्धाता अपने महार्णव में भट्टभास्कर को उद्धृत करता है—

इति तैत्तिरीयशास्त्रानुसारेण चमकानुयाकाः ॥ छ ॥ अथ नमकैरवांतरथाकथानां प्रयोगः । भास्करादिविनिर्दिष्टभाष्यदृष्टः ।

(२) सायण भट्टभास्करमिथ को उद्धृत करता है।

(३) देवराजयजुषा भट्टभास्करमिथ को उद्धृत करता है।

(४) सायण का समकालीन वेदान्तदेशिक अपनी न्यायपरिशुक्ति द्वितीय आन्धिक पृ० ८७ पर वेदाचार्य को उद्धृत करता है। यह वेदाचार्य अपरनाम लक्ष्मण सुदर्शनमीमांसा का कर्ता है। वेदाचार्य का काल संवत् ११०० से कुछ पहले का है। यह बल्लाल-नामक राजा का समकालीन था। यह सुदर्शन-मीमांसा के पृ० ४ और ८ पर कमराः लिखता है—

तथा भाष्यकृता भट्टभास्करमिथेण ज्ञानयज्ञाक्ये भाष्ये पत-
त्प्रमाणव्याख्यानसमये चरणमिति देवताधिशेष इति तदनुगुणमेव व्याख्यातम् ।

एवं यजुर्वेदभाष्येषु कदैवत्यत्वं प्रवर्ग्योत्तरशास्त्रन्युवाङ्करवं ज्ञानयज्ञादिषु होतुराग्ये विनियोगादग्निदैवत्यत्वम् ।

इन दोनों प्रमाणों से पता लगता है कि वेदाचार्य भट्टभास्करमिश्र के ज्ञानयज्ञभाष्य से सुपरिचित था ।

(१) मद्रास विश्वविद्यालय के प्रोफेसर सूर्यनारायण शास्त्री का मत है कि वेदान्तसूत्र का शेष भाष्यकार श्रीकण्ठ सम्भवतः भट्टभास्कर के तैत्तिरीय आरण्यकभाष्य से परिचित था । तै० ब्रा० १.१४॥ के भाष्य में भट्टभास्कर लिखता है—

सैषा मुक्तानामीश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परया स्थन्येषाम् ।

वेदान्तसूत्र ४।४।१४॥ के भाष्य में श्रीकण्ठ लिखता है—

परशक्तिर्हि ब्रह्मणः स्वरूपतया परमाकाश उच्यते वा मुक्तानां परमेश्वरस्य च साक्षादर्थक्रियाहेतुः परम्परयाग्न्येषाम् ।

इस स्थान में और अन्य स्थानों में भी इन दोनों ग्रन्थकारों के वाक्यों में इतनी समानता है कि एक दूसरे से भाष्य ग्रहण करता हुआ प्रतीत होता है । इस से प्रो० सूर्यनारायण का अनुमान है कि श्रीकण्ठ जो रामानुज का समकालीन ज्ञात होता है, भट्टभास्कर को जानता है । परन्तु उक्त प्रोफेसर भी इस विषय में निश्चित नहीं है ।^१ अस्तु, इन दोनों ग्रन्थकारों की सदृशता ध्यान में रखने योग्य है ।

(१) भट्टभास्करमिश्र आर्यभटीय^२, अमरकोश^३ और काशिका^४ को उद्धृत करता है । इस से इतना निश्चित होता है कि वह सातवीं शताब्दी ईसा से परचात हुआ है ।

(७) भट्टभास्कर ने एकाग्निकाण्ड मन्त्रों पर अपना भाष्य लिखा था । त० सं० भाष्य की भूमिका में वह एकाग्निकाण्ड को तैत्तिरीयों के अन्तर्गत

१—श्रीकण्ठ का शिवाक्षेप । पृ० ७२, ७३ ।

२—तै० सं० भाष्य भाग ४ पृ० १८१ ।

३—रुद्रभाष्य पृ० ५४ ।

४—रुद्रभाष्य पृ० ७३ ।

मानता है। मेरा अनुमान है कि भट्टभास्कर के एकाग्निकाण्डभाष्य की ओर ही निम्नलिखित वाक्य में हरदत्त का संकेत है—

तत्र वैश्यदेवे सोमाय स्वाहेति द्वितीयाहुतिरिति मन्त्रव्याख्याकारेणोक्तम् । आपस्तम्बगृह्य भाष्य ३।७।२६ ॥

आपस्तम्बगृह्यभाष्यकार हरदत्त का काल १२वीं शताब्दी विक्रम के समीप ही है। और यदि उस का पूर्वोक्त संकेत भट्टभास्कर मिश्र की ओर है, तो भास्कर का काल जानने के लिए यह एक और निश्चित प्रमाण हो जायगा।

हरदत्त भाष्य सहित एकाग्निकाण्ड के सम्पादक श्रीनिवासाचार्य का भी यही मत है कि एकाग्निकाण्ड । भ. १२ करने में हरदत्त ने भट्टभास्कर के एकाग्निकाण्डभाष्य से बड़ी सहायता ली है। अपनी भूमिका के पृ० ३, ४ पर श्रीनिवासाचार्य ने इस विषय पर विस्तार से लिखा है।

इतना लिखने के अनन्तर हमारा अभी तक यही विचार है कि भट्टभास्कर का काल विक्रम की ११वीं शताब्दी ही मानना चाहिए। डाक्टर बर्नल ने भी प्राचीन मॅथिलि परंपरा के अनुसार ऐसा ही स्वीकार किया है, यह हम दूसरे भाग में लिख चुके हैं।

भाष्य

(१) भट्टभास्कर के भाष्य का नाम ज्ञानयज्ञ भाष्य है।

(२) भट्टभास्कर केचित् और अन्ये लिख कर प्राचीन भाष्यकारों के मत उपस्थित करता है। प्रतीत होता है आचार्य शब्द लिख कर भी यह कि जो बहुत प्राचीन भाष्यकार को उद्धृत करता है ।^१ कहीं २ आचार्य शब्द किसी और के लिए भी प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

(३) यास्कীয় निष्क, निषण्ड, शास्त्रान्तरपाठ, एक गणकार, भारद्वाज, आर्यभट्ट, सौगत आदि अनेक ग्रन्थ वा ग्रन्थकार इस भाष्य में उद्धृत हैं।

१—भाग प्रथम पृ० १०, ११, १७, १४, ७०, २२५।

भाग दूसरा पृ० २२ इत्यादि।

२—भाग प्रथम पृ० ११७, २१७, २२६।

३—भाग पंचम पृ० १, ४७, ४८, ५१।

गणकार कोई वैदिक पदों का ही एकत्र करने वाला प्रतीत होता है ।^१ भगवान् लिख कर वह आपस्तम्ब श्रौत के प्रमाण देता है—

(४) भट्मास्कर सुप्त निघण्टु ग्रन्थों से भी अनेक प्रमाण देता है—

विव इति धननाम ।^२

ओम्, स्वाहा, स्वधा, ययणम् इति पञ्चब्रह्मणो नामानि ।^३

मतिरिति स्तुतिनाम ।^४

गर्तमिति रथनाम ।^५

लेकतिर्दर्शनकर्मा ।^६

सम्भव है वह सामग्री उस ने प्राचीन भाष्यों से ली हो या उस के पास कई और वैदिक निघण्टु हों ।

(५) भट्मास्कर एक एक शब्द के अनेक अर्थ लिखता है । ये भिन्न भिन्न अर्थ वह प्राचीन भाष्यकारों से ले रहा है । एक ही मन्त्र के भी वह कई अर्थ करता है । इंसः शुचियत् मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अध्यात्ममधिदैवमधियज्ञं चाधिकृत्य त्रेधेमं मन्त्रं व्याचक्षते ।

तत्र प्रकरणानुरूपो ऽर्थविशेषो ग्रहीतव्यः । अध्यात्मे तावत्—इंसः आत्मा । । अध्याधिदैवे—इंस आदित्यः । । अध्याधियज्ञे—इंसो रथः । इति पृथिवीमिति ।

नमुचिः शब्द का वह निम्नलिखित अर्थ करता है—

न मुञ्चति पुरुषमिति नमुचिः अधर्मः ।

भाग दूसरा पृ० १८४ पर कलीचन्तं य औशेजम् का व्याख्यान भी देखने योग्य है ।

१—भाग दूसरा पृ० ६६, ६८४ ।

२—भाग दूसरा पृ० ६४ ।

३—रुद्र पृ० ५ ।

४—रुद्र पृ० ६२ ।

५—रुद्र पृ० १०१ । तुलना करो वारकीव-निरुक्त ६१५॥

६—भाग दूसरा पृ० १५५ ।

वरुण जिन तीन पाशों से बद्धता है, उन के सम्बन्ध में लिखा है—

अथ केचित्—उद्भूतादिभूतमध्यस्थ—शक्तितया धर्मपा-
शानां त्रैविध्यमाहुः । उत्तमाधममध्यमदेहप्रभवतया त्वन्ये । ऊर्ध्वाधो-
मध्यमगतिहेतुत्वेनापरे ।

यहाँ भी प्राचीन भाष्यकारों का तीन प्रकार का मत दिया गया है ।

चतुर्थ काण्ड का भाष्य

भट्टभास्करभाष्य का संस्करण मैसूर से ही निकला है । उस में चतुर्थ काण्ड नहीं छपा । रुद्राध्याय चतुर्थकाण्ड का एक अंश है । यह रुद्राध्याय भट्टभास्करभाष्य सहित आनन्दाश्रम में मुद्रित हो चुका है । इस रुद्रभाष्य के सम्बन्ध में श्रीराम अनन्तकृष्ण शास्त्री ने मुक्त से कहा था कि “यह भाष्य तैत्तिरीय संहिता भाष्यकार भट्टभास्करमिश्र का नहीं है । इस रुद्रभाष्य का आधार शिवरहस्य का द्वादशांश है । उस शिवरहस्य के स्थल के स्थल यह उद्धृत हैं । शिवरहस्य के उस अंश का नाम भी रुद्रभाष्य है । यह शिवरहस्य बहुत नवीन ग्रन्थ है और इस का स्कन्दपुराण के शिवरहस्य खण्ड से कोई सम्बन्ध नहीं है ।”

इस विषय में इतना तो खत्य हो सकता है कि भट्टभास्कर शिव-
रहस्य से अपने रुद्रभाष्य में बड़ी सहायता लेता है, परन्तु शिवरहस्य बड़ा नवीन
ग्रन्थ है, यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती । रुद्राध्याय का भट्टभास्करभाष्य उसी
भट्टभास्कर का है जिस ने तैत्तिरीयसंहिता आदि पर भाष्य किया है । इस का
प्रमाण मान्यता के महाणव में भी है । वहाँ लिखा है—

द्वितीयादिनयान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं
यजुरिति शाकपूषिः । नमस्काराद्येकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति
यास्कः । अष्टायनुवाकावष्टौ यजुर्वीति काशकृत्स्नः ।^१

इन तीन पक्षों का विस्तृत विचार कर के महार्णवकार विश्वेश्वरभास्कर आगे
लिखता है—

१.—यह पाठ हम ने सोध कर दिया है । हमारा कोश सं० ११२६, पृष्ठ ४४, ४५ ।

अन्याभ्यपि अवान्तरमहावाक्यानि वेदभाष्ये भट्टभास्करेण प्रदर्शितानि ।

महर्षिण की शाकपूणि आदि के मत की पंक्तियाँ इस प्रस्तुत रुद्रभाष्य में ठीक वैसी ही मिलती हैं । और आगे चलकर महर्षिण में लिखा ही है कि भट्टभास्कर ने ही यह रुद्रभाष्य में कही है । भट्टभास्कर का समय वेदभाष्य यही तैत्तिरीयसंहिता भाष्य है । अतः जिस भास्कर ने तै० सं० भाष्य किया था, उस का यह रुद्रभाष्य है, किसी अन्य का नहीं ।

इस विषय में यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि रुद्राध्याय के मुद्रित भास्करभाष्य का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

अतः परमश्रिकाण्डमेवाग्न्यार्पयम् ।

इस से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस पंक्ति का लिखने वाला इस से पहले भागों पर भाष्य कर चुका है ।

इस विषय में एक और भी प्रमाण है । तजोर पुस्तकालय में इस रुद्रभाष्य के कई हस्तलेख ऐसे हैं जिन के अन्त में इस भाष्य को ज्ञानयज्ञभाष्य लिखा है । तजोर^१ और दूसरे पुस्तकालयों^२ में रुद्राध्याय के सिवा शतुर्थ काण्ड के अन्य भागों पर भी भट्टभास्कर का भाष्य मिलता है । यदि यज्ञ किया जाए, तो शतुर्थ काण्ड पर भी समय भाष्य मिल सकता है ।

ज्ञानयज्ञभाष्य के नूतन संस्करण की आवश्यकता

अनेक वेदभाष्यों में से इस समय तक समय के ऋग्वेदभाष्य और अथर्ववेदभाष्य ही सुसम्पादित हुए हैं । भट्टभास्करमिश्र का यह भाष्य सायण के भाष्यों की अपेक्षा अत्यधिक उपयोगी है । इस का बहुत ही अच्छा संस्करण निकलना चाहिए । इसके लिए लाहौर में भी बहुत सी कोरा सामग्री है ।

भट्टभास्कर शैव सिद्धान्त का मानने वाला प्रतीत होता है । वह अपने मन्त्रालोक में शिव को नमस्कार करता है । उस का भाष्य मध्यम-कालीन भाष्यों में बहुत उच्च स्थान रखता है ।

१—तजोर नवीन सूचीपत्र, ख० १६२८, भाग १ पृ० ४७१-४७३ ।

२—A Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss. Vol. I. second part. 1904, P. 178.

(५) जुर (संवत् १३५० से पहले)

सायण अपनी धातुवृत्ति भ्वादिगण धातु १५ की वृत्ति में लिखता है—

अहोरात्राणि मरुतो विलिप्तं सूक्ष्यन्तु^१—इत्यत्राह भट्टभास्करः
.....। जुरेण तु तत्र विलिप्तं न्यूनं पूर्यन्तिवति ।

वही पुनः भ्वादिगण धातु १६५ की वृत्ति में लिखता है—

अथ एनां महिमानः सचन्ते^२—इत्यत्र जुरभट्टभास्करीययोः
सचन्ते सेवन्त इति ।

वही पुनरपि भ्वादिगण धातु १३५ की वृत्ति में लिखता है—

जेदतिर्गत्यर्थोऽपि—उक्तं च—अरेणुभिर्जेदमानं^३—इत्यत्र
जुरभट्टभास्करीययोः ।

वही फिर भ्वादिगण धातु २५६ की वृत्ति में लिखता है—

अपप्रोध दुन्दुभे दुच्छुनान्^४.....। जुरे तु अपप्रोधनं
हुंकरणमिति ।

वही पुनः जुरादिगण धातु १३६ की वृत्ति में लिखता है—

अत्र के.ि.त्—पितेव पुत्रं दसये वचोभिः^५—इत्यत्र जुरे—
पितेव पुत्रं दसये निरवसाययामि स्तुतिभिः इति ध्याख्यानात् ।

इन पाँच स्थलों पर तैत्तिरीयसंहिताएँ पाँच मन्त्रों के भट्टभास्कर और जुरभाष्य को सायण उद्धृत करता है । ये पाँचों मन्त्र तैत्तिरीय संहिता के चौथे और पाँचवें कण्ड में आते हैं । इस से प्रतीत होता है कि जुर ने समस्त तैत्तिरीय संहिता पर भाष्य किया होगा । यह जुर कौन था, अब्बा उस का भाष्य कैसा था, इस विषय में और कुछ नहीं जाना जा सका ।

१—तै० सं० ५।२।१२॥

२—तै० सं० ५।२।११॥

३—तै० सं० ५।६।७॥

४—तै० सं० ५।६।६॥

५—तै० सं० ५।२।२॥

सायण—(संवत् १३७२-१४४४)

ऐसा प्रतीत होता है कि सायण का तैत्तिरीय-संहिता भाष्य उस के वैदिक भाष्यों में सब से पहले लिखा गया था । इस का लेखन-काल महाराज युक्क प्रथम का राज्य-काल है ।

कारवसंहिता भाष्य के समान इस में भी सूत्र का अतिप्राम्य साथ साथ जोड़ा गया है । पहले कल्प से सारा विनियोग स्पष्ट कर के पुनः सायण अपना भाष्य लिखता है । इस बात को सायण स्वयं भी अपने मंगल रत्नों में स्पष्ट करता है—

ब्राह्मणं कल्पसूत्रे द्वे मीमांसां व्याकृति तथा ।

उदाहरणाय तैः सर्ववैदार्थः स्पष्टमीर्यते ।

अर्थात्—तै- ब्राह्मण, आपस्तम्ब और बौधायन दोनों कल्पसूत्र, मीमांसा और व्याकरण इन सब के उदाहरणों सहित वैदार्थ स्पष्ट कहा जाता है । इस भाष्य में प्राचीन भाष्यों का नाम बहुत कम लिया गया है । कहीं कहीं ही अन्ये अपरे आदि शब्द लिखकर सायण दूसरों का मत देता है । ४।५।१३॥ से लेकर अगली कण्विकाओं में भट्टभास्कर और उषट के समान वह एके आदि कह कर दूसरों का मत बहुधा उद्धृत करता है । पुनः १।२।११॥ के भाष्य में वह लिखता है—

सूर्यरश्मय एव जलमयेन चन्द्रमण्डलेन व्यवहिताः शीत-
स्पर्शा अभिभूतोष्णस्पर्शा ज्योत्स्नारूपेणाद्यभासन्त इति केपांश्चि-
न्मतम् ।

इसी प्रकार २।४।३॥ में वह संप्रदाय विदों का मत देता है ।

भट्टभास्कर के भाष्य से तुलना करने पर प्रतीत होता है कि सायण अपनेक स्थलों पर उस की नकल कर रहा है, यद्यपि वह उस का नाम नहीं लेता ।

तैत्तिरीय संहिता ४।३।२॥ में निम्नलिखित वचन है—

अयं पुरो भुवस्तस्य प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः ।

इस पर भाष्य करते हुए सायण लिखता है—

तस्य भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः संबन्धी प्राणः । अतः

एवापत्यस्यमुपचर्य भौवायन इत्युच्यते ।

अर्थात्—भुव शब्द बाबी जो प्रजापति है उसी का पुत्रवत् प्राण है, अतः वही भौवायन कहा जाता है ।

इस से प्रतीत होता है कि सायणादि आचार्य मानते थे कि जब पदार्थों में भी अपत्यप्रत्यय के औपचारिक प्रयोगों से अनेक शब्द बने हैं ।

तै० सं० १।८।१२॥ का भाष्य करते हुए सायण नरसिंहयर्मा और उस के पुत्र वा पौत्र राजेन्द्रयर्मा का उल्लेख करता है । सम्भवतः सायण इन नामों को भ्रमास्कर या उस से प्राचीन भाष्यकारों से ले रहा है ।

इस भाष्य में कोई और विशेष बात वर्णनीय नहीं है ।

(७) वेङ्कटेश

शान्तिनिकेतन बोलपुर में वेङ्कटेश के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य का एक हस्त-लेख है । यह ग्रन्थाल्लों में है । उस की प्रतिलिपि देवनागरी अक्षरों में हमारे पुस्तकालय में है । यह अन्तिम तीन कारणों का भाष्य है । इस में पहले चार कारण नहीं हैं । भाष्य के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति नैध्रुववेङ्कटेशविरचिते यजुर्वेदभाष्यसंग्रहसारे सप्तमे कारणे पञ्चमप्रश्ने पञ्चविंशोऽनुवाकः ॥ पञ्चमकारणप्रभृति सप्तम-कारणपर्यन्तं यजुर्वेदभाष्यसंग्रहं श्रीपदपूर्वनिवासेन लिखितं ॥

कारणों के मध्य में प्रपाठकों की समाप्ति पर भी कहीं कहीं ऐसा ही लेख मिलता है । कतिपय स्थानों में भाष्यकार का नाम वेङ्कटेश्वर भी लिखा है । एक स्थान में वेदभाष्यसंग्रहसार के स्थान में वेदार्थसंग्रह लिखा है ।

यह भाष्य कई स्थानों में भ्रमास्कर के भाष्य से अक्षरशः मिलता है । सायण के समान कल्प और सूत्रादि इस में नहीं दिए । केचित् आदि कह कर दूसरों के मत का अत्यल्प निदर्शन है ।

यह वेङ्कटेश फौन था, अपना कब हुआ, इस सम्बन्ध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं हो सका । आगे सदभाष्यकार एक वेङ्कटनाथ का वर्णन किया जाएगा । क्या ये दोनों एक ही हैं ?

(८) बालकृष्ण

सन् १८३८ में कलकत्ता से एक सूचीपत्र प्रकाशित हुआ था। उस में फोर्ट विलियम आदि स्थानों के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की नामावली दी थी। उस में पृ० २६ पर एक तैत्तिरीयसंहिताभाष्य सन्निविष्ट है। उस का बर्ता बालकृष्ण नामक कोई व्यक्ति है।

हरदत्तमिश्र

आपस्तम्बमन्त्रपाठ का दूसरा नाम एकामिकाण्ड भी है। उस एकामिकाण्ड पर हरदत्त ने भाष्य रचा है। वह बात हम इस भाग के पृ० ७१ पर लिख चुके हैं। हरदत्त शैव था। उस की टीकाओं के मञ्जलश्लोकों में शिव को नमस्कार किया गया है। एकामिकाण्डभाष्य का मञ्जलश्लोक निम्नलिखित है—

प्रणिपत्य महादेवं हरदत्तेन धीमता ।

एकामिकाण्डमन्त्राणां व्याख्या सम्यग्विधीयते ॥

अर्थात्—महादेव को नमस्कार कर के बुद्धिमान् हरदत्त एकामिकाण्ड मन्त्रों की शुद्ध व्याख्या करता है।

भाष्य

हरदत्त की व्याख्या वस्तुतः ही अच्छी है। उस का अपने आप को बुद्धिमान् लिखना अनुचित नहीं है। उस की व्याख्या मैसूर में सन् १६०२ में ली थी। उस के पृ० ८ पर वह अपाला का इतिहास लिखता है। पृ० ६ पर वह एक पद का किसी सुप्त शाखा का एक अप्रसिद्ध पाठ देता है। हरदत्त निषण्ड को बहुत उद्धृत करता है। यहूतों का पाठान्तर भी वह स्थान स्थान पर देता है। पृ० ४२ और १३१ पर वह पेटिहासिकों का मत देता है। पृ० ७७ पर अन्ये कह कर वह किसी पुरातन भाष्यकार का मत देता है। पृ० ८२ पर शाबरगृह्य का पाठ मिलता है। यह सम्भवतः शाम्बव्यगृह्य का पाठ है।

एकामिकाण्डमन्त्र व्याख्या के अन्त में निम्नलिखित लेख है—

इति श्रीपद्माक्षयप्रमाणकमहामहोपाध्यायहरदत्तमिश्रविर-
चितायां एकामिकाण्डमन्त्रव्याख्यायां द्वितीयप्रश्ने द्वाविंशः सर्गः ।
प्रश्नश्च समाप्तः ॥

काल

हरदत्त को सादरा अपनी माधवीका चतुष्टय में और देवराज अपने निषण्णभाष्य में उद्धृत करते हैं। इस से निश्चित होता है कि वह १३वीं शताब्दी अथवा इस से पहले का होगा।

शत्रुघ्न

शत्रुघ्न के ग्रन्थ का नाम मन्त्रार्थदीपिका है। जिन ग्रन्थों के आश्रय से उवट ने इस की रचना की, उन का नाम वह अगले श्लोक में लिखता है—

उवटे मन्त्रव्याख्या गुणविष्णौ ब्राह्मणीयसर्वस्वे ।

वेदविलासिन्यामपि कौशलमीदृश तथापि मे सद्भिः ॥६॥

अर्थात्—उवट भाष्य में जो मन्त्रव्याख्या है, तथा गुणविष्णु के भाष्य में और ब्राह्मणसर्वस्व में, वेदविलासिनी टीका में भी कौशल देख कर मैं यह दीपिका लिखता हूँ।

इस से प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न ने उवट का यजुर्वेद भाष्य, गुणविष्णु का छन्दोगमन्त्रभाष्य, हलायुध का ब्राह्मणसर्वस्व और गौरधर की वेदविलासिनी टीका देखी थी। गौरधर के इस भाष्य का वर्णन हम पहले पृ० ६१ पर कर चुके हैं।

शत्रुघ्न अपने दशम, एकादश और द्वादश मन्त्रश्लोकों में लिखिता है कि—पूर्वग्रन्थों में जो व्याख्या है, वही मैं ने वहाँ लिखी है, किन्तु जो उन में कठिन स्थल थे, उन्हें यहाँ अति विशद का दिया है। स्नानमन्त्र, सन्ध्यामन्त्र, देवार्चनमन्त्र, आहुतमन्त्र, षड्विंशतशत, विवाहादिमन्त्र यहाँ क्रमशः व्याख्यान किए गए हैं, इत्यादि।

शत्रुघ्न की मन्त्रार्थदीपिका काशी में मुद्रित हो चुकी है। शत्रुघ्न सन् १५२८ या संवत् १५८५ में जीवित था। उस के काल के विषय में हम इस इतिहास के दूसरे भाग के पृ० ५० पर लिख चुके हैं।

शत्रुघ्न का भाष्य उवट आदि के अनुसार है और यही सरल है।

शत्रुघ्न के पञ्चरत्नसूचीयभाष्य का वर्णन करते हुए महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है^१—

It seems Satrugghna was a commentator of the whole of the Yajurveda, of which this is only a part.

अर्थात्—प्रतीत होता है कि शत्रुघ्न समग्र यजुर्वेद का भाष्यकार था, उसी भाष्य का यह एक भाग प्रतीत होता है।

यह बात ठीक नहीं है। रघुभाष्य मन्त्रार्थदीपिका का ही भाग है। यह मन्त्रार्थदीपिका समग्र यजुर्वेद का भाष्य नहीं है।

1—A Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss. Asiatic Soc. of Bengal, Vedic Mss. 1923 Vol. II p. 428.

रुद्राध्याय के भाष्यकार

रुद्राध्याय याजुष संहिताओं का एक भाग है। सामसंहिताओं में भी कुछ रद्र सम्बन्धी मन्त्र हैं, परन्तु उन का वर्णन यहां नहीं किया जायगा। याजुष रुद्राध्याय के अनेक भाष्य इस समय मिलते हैं। उन में से कई तो ऐसे हैं, जो समग्र यजुर्वेद भाष्यों में से पृथक् किए गए हैं, यथा भट्टभास्कर, उवट, सायण आदि के भाष्य। उनका उल्लेख यहां नहीं होगा। यहां तो उन्हीं भाष्यों का संक्षिप्त वर्णन होगा, जो रुद्राध्याय पर ही स्वतंत्र रूप से लिखे गए हैं।

(१) अभिनव शङ्कर अथवा वेङ्कटनाथ

इस मन्थकार का रुद्रभाष्य काशीविलास प्रेस में सन् १९१३ में छपा था। उस के अन्त में लिखा है—

इति श्रीमत्परमहंसपरिमाजकसार्वभौमश्रीमद्द्वैतविद्या-
प्रतिष्ठापकश्रीमदभिनवशङ्करभगवाता कृतं श्रीरुद्रभाष्यं संपूर्णम् ॥

अर्थात्—यह रुद्रभाष्य अभिनव शङ्कर की कृति है।

इस रुद्रभाष्य के हस्तलेख बरोदा और मैसूर में भी हैं। उन के अन्त का लेख निम्नलिखित प्रकार का है—

इति श्रीपरमहंसपरिमाजकसार्वभौमश्रीमद्द्वैतविद्याप्रति-
ष्ठापकाभिनवशङ्कराचार्यसचतन्त्रस्यतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दभगवत्पू-
ज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन विरचिते यजुर्वेदभाष्ये
श्रीमद्रूपनिषद्भाष्यं संपूर्णम् ॥^१

अर्थात्—श्री अभिनव शङ्कर-शिष्य वेङ्कटनाथ का रचा हुआ यजुर्वेदभाष्य में रूद्रोपनिषद् भाष्य समाप्त हुआ।

इस लेख से संदेह होता है कि यह रुद्रभाष्य भी कभी किसी बृहद्

यजुर्वेदभाष्य का भाग है। वेङ्कटरा के तैत्तिरीयसंहिता भाष्य का वर्णन हम पहले कर चुके हैं। क्या यह वेङ्कटनाथ बड़ी बेंकटरा तो नहीं है ? यदि किसी इस्तिला में रदभाष्यकार बेंकटनाथ का मोत्र मिल जाता तो इस प्रश्न का सीधा ही उत्तर मिल सकता था, परन्तु अभी तक यह बात मिली नहीं। इतना तो प्रतीत होता है कि यह भाष्य बेंकटनाथ का है अभिनव शंकर का नहीं। मैसूर संख्या १८१७ और ब्बोदा ६४८१ में इस ग्रन्थ का कर्ता बेंकटनाथ ही कहा गया है।

काल

यह बेंकटनाथ अपने भाष्य के अन्त में लिखता है—

जातिस्मरत्वादिफलप्रभेदाच्च रुद्रकल्पार्थवादिषु प्रपञ्चिताः
द्रष्टव्याः ।^१

अर्थात्—जातिस्मरत्वादि फलभिद रुद्रकल्प और महार्णवादि में कहे गए देखने चाहिए।

यह महार्णव विरवेश्वर के महार्णव के सिवा दूसरा नहीं है। विरवेश्वर का काल संवत् १४२० के समीप है। अतः उसे उद्धृत करने वाला बेंकटनाथ संवत् १४१० के पश्चात् ही हुआ होगा।

भाष्य

इस भाष्य में रुद्रमन्त्रों का भाष्य करने से पहले ग्रन्थकार ने एक लम्बा उपोद्घात लिखा है। उस में भट्टभास्कर का प्रमाण भी दिया गया है।^२

दूसरे अनुशाक के भाष्य में लिखा है—

इति प्राचीनव्याख्यानमनेन निरस्तम्—

अर्थात्—इस से प्राचीन व्याख्यान का खण्डन हो गया है। यह प्राचीन व्याख्यान कौन सा है ?

बेंकटनाथ इस भाष्य में कई स्थानों पर सामवेद की श्रुतियों को उद्धृत करता है। मुद्रित संस्करण के पृ० ७६ पर वह लिखता है—

१—यह पाठ ब्बोदा के कोरा का है। मुद्रित पाठ इस से कुछ भिन्न है।

२—मुद्रित संस्करण, पृ० ३।

सामवेदे—यिरूपाक्षोऽसि दन्ताक्षिः—इति प्रस्तुत्य—त्वं देवेषु
ब्राह्मणोऽसि अहं मनुष्येषु । ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावति उप त्वा
धावानि इति प्रपदब्राह्मणधृतेः ।

यह प्रपद ब्राह्मण स्वल्प पाठान्तर से मन्त्रब्राह्मण २।४।१॥ का पाठ है ।

मुद्रित संस्करण के उपोद्घात में बाल-मुद्रणाय ने लिखा है कि यह
भाष्य रुद्रार्थ को सायण से अधिक सोलता है और कई स्थानों पर इस में
सायण का खण्डन भी है ।

हम निश्चय से नहीं कह सकते कि बेंकटनाथ अमुक स्थान में सायण का
ही खण्डन करता है ।

(२) अहोबल

इस भाष्य के हस्तलेख तञ्जोर, एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता और
बड़ोदा में हैं । बड़ोदा के कोश में इस टीका का नाम कल्पलता लिखा है ।
तञ्जोर के कोश से निम्नलिखित बातों का ज्ञान होता है—

अहोबल महामहोपाध्याय नृसिंह का पुत्र था । वह भास्करवंशी था ।
उस ने उदाध्याय का अधिक विस्तृत व्याख्यान अपनी न्यायमहामणि में किया
है । यह भाष्य श्लोकरूप है ।

सम्भव है कि अहोबल ने एक गद्यरूपभाष्य भी लिखा था । कलकत्ता
का हस्तलेख उसी का प्रतीत होता है ।

(३) हरिदत्त मिश्र

इस भाष्य का एक हस्तलेख एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता में और
दूसरा केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में है । यह कठ या चारायणी संहिताएँ
छद्म का भाष्य प्रतीत होता है ।

(४) बेखोराय = सामराज

बेखोराय कायवशाखाध्यायी था । उस के पिता का नाम नरहरि था ।

उस के ग्रन्थ का एक हस्तलेख पूना में है। वह संवत् १७२३ का लिखा हुआ है।

(५) मयूरेश

मयूरेश के ग्रन्थ का एक हस्तलेख हमारे पुस्तकालय में है और दूसरा पूना में। पूना के सन् १८१६ के सूची के पृ० ३७८ पर इस का कर्ता कैवल्येन्द्र का शिष्य लिखा गया है। हमारे कोश पत्र ८६ पर लिखा है—

युगगुणरसभूमिभूयिते शालिवाहे

विकृति शरदि चैत्रे शुक्लपक्षे चतुर्थ्याम् ।

मुनिमुनिकुलजातभ्रीमयूरेशनामा-

लिखद्दिमतिगूढं रुद्रभाष्यं समीक्ष्य ॥

अर्थात्—शक १६३४ में मयूरेश ने यह अतिगूढ रुद्रभाष्य रचा।

(६) राजहंस सरस्वती

यह भाष्य शक १६६१ में लिखा गया था। इस का एक कोश बकोदा में है। राजहंस सरस्वती महीश्वरभाष्य से सहायता लेता है।

एक अज्ञात रुद्रभाष्यकार

एशियाटिक सोसायटी कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र पृ० ४२९ पर रुद्रभाष्य का एक कोश सज्जिविष्ट है। उस कोश में उस के कर्ता का नाम नहीं लिखा। ऐसा ही एक कोश पूना के सन् १८१६ के सूची पृ० ३७६ पर दर्ज है। नई संख्या उस की ५१० है। इसी ग्रन्थ का एक तीसरा कोश तञ्जोर के नये सूचीपत्र के पृ० ४६१ पर दर्ज है। बकोदा और तञ्जोर के सूचीपत्रों में भी इस के कर्ता का नाम नहीं दिया गया।

इन के अतिरिक्त भयानीशङ्कर के भाष्य का एक हस्तलेख बकोदा में है। तञ्जोर में भी एक दो और भाष्य हैं जिन के कर्ताओं का नाम अज्ञात है।

अनन्त की कार्यायन स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका

अनन्त के कारवभाष्य का उल्लेख पृ० १००-१०२ तक हो चुका है। उसी अनन्त ने कार्यायन के स्मार्तसुवान्तर्गत मन्त्रों का भाष्य भी किया है। इस का एक कोश एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है।^१ यह संवत् १७२१ का लिखा हुआ है। अनन्तकृत ग्रन्थों का यही सब से पुराना कोश अभी तक मेरी दृष्टि में आया है। यह २६७ वर्ष पुराना है। इस कोश के अनन्त में इस की निर्माण तिथि दी हुई है। परन्तु है यह अत्यन्त अस्त व्यस्त दशा में—

शाके [चतु] वसुषट्कमथमाकूपरामिते १६८८ ।

ग्रन्थोऽयं निर्मितः काश्यामनन्ताचार्यधीमता ॥

इस श्लोक में यदि १६८८ शक माना जाए, तो यह अर्थ हास्यजनक प्रतीत होगा। संवत् १७२१ में जिस ग्रन्थ की प्रतिलिपि की गई हो, उसका मूल शक १६८८ में नहीं लिखा जा सकता। यदा १६८८ से विक्रम संवत् का महण करना चाहिए? यदि ऐसा हो तो सम्भवतः यह कुछ संगत हो सकता है। अनन्त-रचित कवचकव्यम्भरण का एक हस्तलिखित कवीन्द्राचार्य की सूची में है। उसकी संख्या ५३२ है। कवीन्द्र लगभग ३०० वर्ष पुराना है। इससे प्रतीत होता है कि अनन्त ३०० वर्ष का अथवा इस से कुछ पूर्व का है। स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका में कई शाखाओं के मन्त्र होंगे।

हररात की कृष्णाण्डप्रदीपिका

इस के दो कोश पंजाब-यूनिवर्सिटी के पुस्तकालय में हैं। एक की संख्या है ६५ और दूसरे की ७१५। यह व्याख्या उवट के आधार पर लिखी गई है। इसका प्रथम श्लोक निम्नलिखित है—

उवटादीन् मन्त्रभाष्यान् परीक्ष्य च पुनः पुनः ।

ग्रथ्यते हररातेन^२ कृष्णाण्डस्य प्रदीपिका ॥१॥

संख्या ७१५ के कोश का अन्तिम भाग वृद्धित है। संख्या ६५ का

१—नवा सूचीपत्र, सन् १९२३ भाग दूसरा, पृ० ६६५-६६७।

२—सं० ६५ के कोश का पाठ यहां पापशमनी है।

कोरा संवत् १६०६ का लिखा हुआ है। उस के पत्र १८ पर अतन्त्रवृत्तिभाष्य, पत्र ७२ और १०२ पर रायमुकुटी [अमरचोराटीका] और पत्र ६२ पर तनादिशक्ति उद्धृत है। रायमुकुट आदि को उद्धृत करने से इस ग्रन्थ का कर्ता संवत् १५०० के पश्चात् का है।

भवदेव

भवदेव नामक एक ग्रन्थकार ने भी षडङ्गसूत्र की व्याख्या की है। इस का एक हस्तलेख पंजाब यूनिवर्सिटी लाहौर के पुस्तकालय में है।^१ उस का तीसरा और चौथा श्लोक नीचे लिखे जाते हैं—

भवदेवगुरोर्नेत्या पदपंकेरुद्वयम्।

भवदेवः पडंगस्य व्याख्यां प्रकुरुतेऽधुना ॥३॥

उचटादिभिरुक्तैः परिहृतैः स्वगुरुकमात्।

या व्याख्या कल्पिता प्रायस्तामेव कल्पयाम्यहम् ॥४॥

अर्थात्—भवदेव गुरु के चरणकमलों को नमस्कार कर के अब भवदेव षडङ्ग की व्याख्या करता है। उचट आदि पुराने आचार्यों ने गुरुपरम्परा से जो व्याख्या लिखी है, प्रायः उसी के अनुसार यह व्याख्या है।

इसी भवदेव ने शुक्र-यजुर्वेद पर एक भाष्य रचा था। उस का एक नुदित ग्रन्थ कोम्स कासेज काशी के पुस्तकालय में है।^२ उसके सम्बन्ध में हमारे मित्र पं० महलदेव शास्त्री अने २१ मार्च सन् १९३० के पत्र में लिखते हैं—

“शुक्र-यजुर्वेद पर भवदेवमिश्र का भाष्य असंपूर्ण है। आरम्भ और अन्त के अनेक पत्रे नहीं हैं। ये भवदेवमिश्र मैथिल थे। कृष्णदेव के पुत्र और भवदेव ठाकुर के शिष्य थे। आलेख के अनुसार सन् १६४६ के लगभग हुए थे।^३ उदाहरणार्थ ७म अध्याय के अन्त में लिखा है—

१—संख्या ४४७१।

२—सन् १९१२ का खर्चापत्र पृ० १०५।

३—इतिहासी भाग १ पृ० १६८।

इति मैथिलसन्मिश्रश्रीकृष्णदेवतनयमहामहोपाध्यायसदृक्कुर-
श्रीभवदेवप्रियशिष्यमहामहोपाध्यायाभिनवाचार्यसन्मिश्रश्रीभवदेव-
कृतायां संहिताव्याख्यारत्नमालायां सप्तमाध्यायव्याख्यारत्नं ।

२१वें अध्याय के आरम्भ में यह भी कहता है—

.....धौर्ती व्याख्यां काञ्चिदभ्यातनोमि ।

एष श्रीभवदेवपंडितकविर्मगातीरे पट्टने व्याख्यानं कुरुते.....।

इस लेख से ज्ञात होता है कि भवदेव के गुरु का नाम भी भवदेव था ।
वह गङ्गातटवर्ती पट्टन नगर में रहता था । उसकी टीका का नाम रत्नमाला
है । आगेष्ट उस के रचे हुए कई अन्य ग्रन्थों का भी नाम लिखता है ।

पट्टन भाष्य भी इसी भवदेव का है । जैसा भवदेव स्वयं स्वीकार करता
है, यह भाष्य उक्त भाष्यानुसारी है ।

— — — — —

तृतीय अध्याय सामवेद के भाष्यकार

(१) माधव

माधवाचार्य के भाष्य का नाम विवरण है। सामवेद के दो भाग हैं, पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग को छन्द आधिक और उत्तर को उत्तर आधिक कहते हैं। माधव पूर्वभाग के भाष्य को छन्दसिकाविवरण और उत्तर भाग के भाष्य को उत्तरविवरण आदि कहता है।

सब से पहले इस भाष्य का परिचय सम्प्रतिसामधमी ने दिया था। सायण भाष्य सहित सामवेद संहिता की भूमिका में वह लिखते हैं —

सम्प्रति बहुयस्मिन् माधवीयविवरणाख्यस्यैकमात्रस्याति-
जीर्णाशुद्धपुस्तकमेकमर्जश उभयस्थानादासादितम्। तच्चापीह शर-
लेशाभ्यां टीप्पन्याकारेण मुद्रितम्।^१

अर्थात्—माधवीय विवरण का अति जीर्ण और अशुद्ध एक पुस्तक आधा आधा दो स्थानों से बड़े यत्न से प्राप्त किया। उस के भी सर्वोत्तम भाग इस सायण भाष्य के साथ टिप्पणीरूप से छापे गए हैं।

इस के पश्चात् सन् १८८६ में वेबर ने बर्लिन के सूची भाग दो सत्रक प्रथम के पृ० १७-२० तक इस का विस्तृत वर्णन लिखा। तदनन्तर किसी विद्वान् ने अपना ध्यान इस भाष्य की ओर नहीं लगाया। यह श्रेय डा० कूहनराज को ही है कि उन्होंने भिन्न भिन्न पुस्तकालयों से इस भाष्य के पूर्व और उत्तर भाग के सात कोश प्राप्त कर लिए हैं। वे इस भाष्य के सम्पादन करने का विचार रखते हैं।

काल

(१) देवराजयजुषा अपने निषण्डभाष्य की भूमिका में जिस माधवदेव को उद्धृत करता है, वह सामविवरणकार ही प्रतीत होता है।

(२) डा० राज ने बताया था कि माधव का मङ्गलश्लोक कादम्बरी का भी मङ्गलश्लोक है। इस बात की ओर पहले भी पृ० १६ पर संकेत किया जा चुका है। इस विषय में एक और बात भी ध्यान देने योग्य है। इस मङ्गलश्लोक में त्रयीमयाय पद विचारणीय है। एक वेदभाष्य के आरम्भ में यह पद युक्त प्रतीत होता है, परन्तु एक काव्य के आरम्भ में यह उतना उचित नहीं है। इस से माधव बाण का समाकालीन या उस का पूर्वज हो जाता है।

(३) मङ्गलश्लोक के अनन्तर माधव लिखता है—

पदत्रिशत्प्रकारा मन्त्राः। मैत्राः। करणाः। क्रियमाणानुवा-
दिनः। स्त्रोत्रशस्त्रगताः। जपानुवचनगताश्च। पते पञ्चप्रकारा
ऋग्व्याख्यायां भवन्ति। अन्ये सामव्याख्यायांमुच्यन्ते—

मस्तायश्चोद्गीथः प्रतिहारोऽपद्रवस्तथा।

निधनं पञ्चमं बाहुर्द्विद्वारं मण्डपमेव च ॥

आशास्तिः स्तुतिसंख्यानं प्रलापः परिदेवनम्।

प्रेषमग्रेषणं चैव सृष्टिराख्यानमेव च ॥

सप्तधा गेयमेकेषामन्ये पद्धाविदुः।

पञ्चविधं तु सर्वेषामध्वरार्थं मन्त्रज्ञैः ॥

अर्थात्—छत्तास प्रकार के मन्त्र हैं। उन में से मैत्रादि पांच प्रकार ऋग्व्याख्या में होते हैं, और शेष प्रस्ताव अदि साम व्याख्या में कहे जाते हैं। इन में से प्रेष आदि पांच प्रकारों का वर्णन स्कन्दस्वामी ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में किया है। माधव और स्कन्द के इन प्रकारों के वर्णन में इतनी समानता है कि यह सन्देह दूर हो जाता है कि इन में से कोई एक दूसरे की सामग्री ले रहा है। डा० राज का अनुमान है कि सम्भवतः माधव का पिता नारायण ऋग्वेदभाष्य में स्कन्द का सहकारी नारायण था। यदि यह बात

ठीक सिद्ध हो जाए, तो माधव का काल विक्रम की सातवीं शताब्दी मानना पड़ेगा। परन्तु यह बात अभी अनुमानमात्र ही है। इस विषय में अधिक खोज की बड़ी आवश्यकता है।

भाष्य

माधव का विवरण मध्यमकाल के भाष्यों में एक उत्कृष्ट स्थान रखता है। माधव सामसम्प्रदाय का अच्छा जानने वाला प्रतीत होता है। जहाँ पर सामवेद के अनेक मन्त्रस्थ पदों का आर्च पाठ मान कर सायण उनका ऋग्वेदानुसारी अर्थ करता है, वहाँ पर माधव बहुधा साम सम्प्रदाय की ही रक्षा करता है। 'माधव लुप्तनिघण्टु ग्रन्थों से भी प्रमाण देता है। यथा—

वि इत्याकाशनाम ।^१

ऋचीय इति कर्मनाम ।^२

विः का अन्वय भी वह अन्तरिक्ष अर्थ करता है।^३ ए पद से वह प्राचीन भाष्यकारों का मत उपस्थित करता है।^४

सामवेद के उत्तराधिक में निम्नलिखित एक मन्त्र है—

आमन्द्रमाधरेण्यमाविप्रमामनीषिणम् । पान्तमापुरुस्पृहम् ।^५

इस मन्त्र के अर्थ में सायण के अनुसार क्रिया की आपत्ति पूर्व मन्त्र से आती है। सायण उस पूर्वमन्त्रस्थ वृणीमहे पद से आ उपसर्ग को जोड़ता है। परन्तु माधव का अर्थ निम्न प्रकार का है। वह लिखता है—

आमन्द्रम्—आनुपूर्व्येण मन्द्रं यत्नम् । आधरेण्यम्—आभि-
मुख्येन धरेण्यं तत् । आविप्रम्—अतिशयेन विपश्चितम् ।

१—भाग ४, पृ० ११६ ।

२—भाग ५, पृ० २१८ ।

३—भाग ५, पृ० १६५ ।

४—भाग ४, पृ० ५१४, भाग ५, पृ० २६२ ।

५—भाग ४, पृ० २७१ ।

६—भाग ४, पृ० १२१, १२२ ।

इ० व्याख्या के अनुसार माधव दो उदात्त एक पद में एकत्र करता है।
उस के पास इस के लिए कोई प्रमाण हो ही ना।

माधव जिन मन्त्रों का छन्द आर्चिक में विस्तार से अर्थ करता है, उन
की उत्तर आर्चिक में संक्षिप्त व्याख्या ही करता है। यथा —

तरत्स मन्दी धायतीति चतुर्ध्रुवः छद्भिस्तिकाभाष्ये विस्त-
रेणोक्ताः सप्रयोजनं तथाप्यत्र संक्षेपेणोच्यते ।^१

कभी कभी वह पूर्व व्याख्यात मन्त्रों का व्याख्यान नहीं भी करता—

प्र च इन्द्राय-अर्चन्त्यर्कम्—उप प्रत्ते—एषस्तु चन्द्रस्तिका-
भाष्ये उक्तार्थः ।^२

इस भाष्य के शीघ्र सम्पादित होने की बड़ी : यता है।

(२) भरतस्वामी (संवत् ११६० के समीप)

भरतस्वामी का सामवेदभाष्य भी अभी तक अमुद्रित ही है। उस के भाष्य
के कोश तजोर, गदास, मैसूर, बड़ोदा और हमारे पुस्तकालय में हैं। भरतस्वामी
अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

नत्या नारायणं तातं तत्प्रसादाद्व्यासधीः ।

साक्षां श्रीभरतस्वामी काश्यपो व्याकरोत्युचम् ॥

होसलाधीश्वरे पृथ्वी रामनाथे प्रशासति ।

व्याख्या कृतेयं क्षेमेण धीरङ्गे वसता मया ॥

अर्थात्—पिता नारायण को नमस्कार कर के, उस की कृपा से प्राप्त-
बुद्धि करयपगोत्री श्रीभरतस्वामी सामन्त श्रुतियों की व्याख्या करता है।
होसलाधीश्वर रामनाथ के राजस्व-फाल में धीरंगपटम में निवास करते हुए मैं ने
यह व्याख्या की है। होसलाधीश्वर राम का काल बर्नल के कथनानुसार सन्
१२७२-१३१० है।^३

१—भाग ४, पृ० १७।

२—भाग ४, १००।

३—बर्नलकृत तजोर का सूचीपत्र, प्रथम भाग।

भाष्य के अन्त में भरतस्वामी लिखता है—

इत्थं श्रीभरतस्वामी काश्यपो यज्ञदासुतः ।

नारायणार्थतनयो व्याख्यतसामामृतोऽखिलाः ॥

अर्थात्—नारायण और यज्ञदा के पुत्र काश्यपगोत्री श्रीभरतस्वामी ने साम की सम्पूर्ण ऋचाओं का व्याख्यान किया ।

भरतस्वामी का भाष्य बहुत संक्षिप्त है । भरतस्वामी भाष्य की पर्याप्त सहायता लेता है । चर्नल का विचार है कि “भरतस्वामी ने छन्द आर्थिक, अरण्यसंहिता और महानक्षत्री पर ही अपना भाष्य किया है, उत्तर आर्थिक पर नहीं, क्योंकि उत्तरार्थिक के भाष्य का अभी तक कोई कोरा प्राप्त नहीं हो सका ।” हमारा ऐसा विचार नहीं है । भरतस्वामी ने सामविधानादि ब्राह्मणों पर भी अपने भाष्य लिखे हैं । संहिता को समाप्त किए बिना ही, उस ने ब्राह्मण भाष्य आरम्भ कर दिए हों, इस पर विश्वास नहीं होता ।

वेदभाष्य में भरतस्वामी ऐतरेय ब्राह्मण और आश्वलायन मन्त्र को बहुत उद्धृत करता है ।

(३) सायण (संवत् १३०१-१४४४)

तै०संहिता और ऋग्वेद का व्याख्यान करके लुक् प्रथम के काल में सायण ने सामवेद का व्याख्यान किया था । सामभाष्य के आरम्भ में सायण ने एक विस्तृत भूमिका लिखी है । उस में साम सम्बन्धी अनेक विषयों पर विचार किया गया है । भाष्य में सायण निदानादि ग्रन्थों को बहुत उद्धृत करता है ।^१ जैसा पहले पृ० ११४ पर लिखा जा चुका है, सायण इस भाष्य में कई स्थलों पर सामपाठ के स्थानों में आर्चि पाठ का व्याख्यान करता है । सामवेद के सायण भाष्य के सम्पादक पं० सत्यव्रतसामधर्म ने अपनी टिप्पणी में वे सब स्थान निर्दिष्ट कर दिए हैं । किसी किसी स्थान में सायण ऋषि देवता सम्बन्धी किसी श्लोकमयी अनुक्रमणी का पाठ भी देता है ।^२

१—भाग २, पृ० ३१६ ।

२—भाग २, पृ० ३१३ ।

पं० सत्यव्रत सामश्रमी के संस्करण का आधार सायणभाष्य के चार कोश हैं। इस समय सायणभाष्य के कोई बीस और कोश सुप्राप्य हैं, अतः भावी सम्पादक को उनका ध्यान रखना चाहिए।

अरण्यसंहिता को सायण छन्दःसंहिता के अन्तर्गत मानता है। भूमिका के अनन्तर वह भाष्यारम्भ में लिखता है—

योऽयं छन्दोनामकः संहिता-ग्रन्थः सोऽयमारण्यकेनाध्यायेन पद-संख्यापूरकेण सह पद्धिभिरध्यायैरुपेतः।

अर्थात्—यह छन्द आर्चिक छः अध्यायों से युक्त है। छठा अध्याय अरण्य का है।^१ सत्यव्रत ने अपनी भूमिका के अन्त में लिखा है कि यह बात विवरणकार माधव और सामसम्प्रदाय के विरुद्ध है।

(४) सूर्य देवज्ञ (संवत् १५६० के समीप)

सूर्य देवज्ञ का परिचय पूर्व पृ० ६३, ६४ पर दिया जा चुका है। उसी सूर्य ने एक सामभाष्य लिखा था। वह लिखता है—

अथ वामदेवस्य साक्षाः प्रवृत्तिरापस्तस्यशास्त्रायाम्—विश्वे-
भिर्देवैः पृतना जयामि जागतेन छन्दसा सप्तदशेन स्तोमेन वामदे-
व्येन साक्षा वपदकारेण वज्रेण इति। अत्र सामगायने स्तोभस्तो-
मादिलक्षणमस्माभिः सामभाष्ये प्रोक्तम्।^२

अर्थात्—तैत्तिरीय संहिता ३।२।३।२॥ के मन्त्र में भी वामदेव के साम की प्रवृत्ति है। इस विषय में सामगान के स्तोभादि लक्षण हम ने सामभाष्य में कहे हैं।

बहुत सम्भव प्रतीत होता है कि यह सामभाष्य सामवेदभाष्य ही हो। सूर्यपण्डित के साममन्त्रभाष्य का एक नमूना नीचे दिया जाता है—

कया नश्चित्र आभुवदती सदा वृधः सखा।

कया शचिष्ठया वृता ॥

१—भाग १, पृ० ६१।

२—गीताभाष्य १।१।२ ॥

भाष्यम्—वामदेवः वृधः सदा सदा वर्धमानः समष्टिरूपः परमात्मा मित्रभायनीयः पूजनीयः यदा विचित्रकृतिमयः सखा मित्रभूतः परमात्मा कया उती ऊरया संतर्प्येन कर्मणा वा नः अस्मान् आभुवत् आभिमुख्येनाभवत् । अनुभवगोचरोऽभवत् ।^१

अर्थात्—भक्तिविशेष से वह पूज्य और अद्भुत परमात्मा, जो सदा (भक्तों के हृदय में) बसता है, हमारे अनुभवगोचर होता है ।

सूर्यपरिहृत करने गीता भाष्य में सामवेद सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ और मन्त्र उद्धृत करता है ।^२ इस से निश्चय होता है कि वह सामसम्प्रदाय का अच्छा ज्ञानने वाला था । गीता १०।१२५॥ के भाष्य में वह जिस काण्वसंहिता भाष्यकार के गायत्री मंत्र का भाष्य उद्धृत करता है, वह सायण नहीं है । काण्वसंहिता के तीसरे अध्याय के तीसरे अनुवाक के २७वें मन्त्र में सायण वह अर्थ नहीं करता । वह आनन्दबोध हो सकता है ।

सूर्यपरिहृत का उक्तभाष्य पर बड़ा विश्वास था । करने गीता भाष्य के अन्त में वह लिखता है—

विदित्वा वेदार्थं दशवदनवाणीपरिणतं
शतश्लोकव्याख्यां परमरमणीयामकरधम् ।
ततो गीताभाष्यं निखिलनिगमार्थैकनिलयं
विधिभार्यः सूर्यो नृहरिकरुणापाङ्गशरणः ॥६॥

अर्थात्—रावणभाष्य से वेदार्थ जानकर परमरमणीय शतरलोकव्याख्या रच कर देवत सूर्य ने सारे शास्त्रों का अर्थ एक स्थान में रखने वाला गीता का भाष्य किया ।

सूर्यपरिहृत के सामभाष्य में मन्त्रों का व्याख्यात्मक अर्थ ही रहा होगा क्योंकि गीताभाष्य में जितने साममन्त्रों का अर्थ उक्त ने किया है वह सारा व्याख्यात्मक रीति का ही है ।

१—गीताभाष्य ११।३॥

२—गीता भाष्य ५।२८॥६।२॥६।३॥११।३॥११।४०॥११।४२ इत्यादि ।

(५) महास्वामी

आपर्ट के सूचीपत्र के द्वितीय भाग में संख्या ६४३५ के अन्तर्गत एक सामसंहिता भाष्य प्रविष्ट है। इस का कर्ता महास्वामी बनाया गया है।

एक महास्वामी का भाषिक सूत्रभाष्य भी इस समय मिलता है। इस का सम्पादन बैबर ने किया था। अनन्त ने भी भाषिकसूत्र पर अपना भाष्य किया था। यह पहले पृ० १०२ पर लिखा जा चुका है। अनन्त का भाष्य महास्वामी के भाष्य की झावामात्र है। अतः यह महास्वामी ३०० वर्ष से पहले का होगा। यदि इसी महास्वामी ने सामवेद पर अपना भाष्य लिखा था, तो वह भी इतना ही पुराना होगा। महास्वामी के सामवेदभाष्य का उल्लेख हम ने अन्यत्र नहीं देला।

(६) शोभाकर भट्ट (संवत् १४६५ से पूर्व)

शोभाकर भट्ट के आरण्यकविवरण के कोश संस्कृत कालेज कलकत्ता, एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता, अलवर, बड़ोदा और पूना आदि स्थानों में विद्यमान है। आरण्यकविवरण के आरम्भ का श्लोक निम्नलिखित है—

वेदाख्यगानव्याख्यानं सम्यगेतत्कृतं मया।

आरण्यगानव्याख्यानं तथैवाथ विभाव्यते ॥

पूना और अलवर की सूची में वेदाख्य के स्थान में वेद्याख्य पाठ शोधित कर के लिखा गया है। अस्तु इस से यह पता लगता है कि आरण्य की व्याख्या करने से पहले शोभाकर और भाष्य भी कर चुका था। सम्भवतः इसी शोभाकर का नारदीय-शिक्षा-विवरण भी इस समय मिलता है।

काल

शोभाकर संवत् १४६५ से पहले हो चुका था। पूना के नए सूचीपत्र में संवत् १७०६ का आरण्य-विवरण का जो कोश है, उस का मूल संवत् १४६५ का था। यह यात उसी कोश के अन्त में लिखी है। डा० कीलहार्न लिखते हैं—

That it (नारदीय शिक्षाविवरण) cannot be a very modern work would appear from the fact that a नारदीय शिक्षाविवरण टीका is quoted already in the भरतभाष्य (P. 16b of my ms.)

अर्थात्—नारदीय शिक्षाविवरण बहुत नया ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि एक नारदीयशिक्षा विवरण टीका भरत भाष्य में उद्धृत है।

कीलहार्न का संकेत कि भरतभाष्य की ओर है, यह मैं नहीं जान सका। भरतस्वामी के सामवेद भाष्य में ऐसी पंक्ति भरी दृष्टि में नहीं आई।

इस अवस्था में हम अभी तक यही कह सकते हैं कि शोभाकर संवत् १४६५ से पूर्व का है।

गुणविष्णु (१३ शताब्दी विक्रम का पूर्व भाग)

गुणविष्णु के ग्रन्थ का नाम छान्दोग्यमन्त्रभाष्य है। इस का एक सुन्दर संस्करण कलकत्ता से गत वर्ष निकला था। उस के सम्पादक हैं श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य एम० ए०। उन्हीं की भूमिका के आधार पर अगली पंक्तियाँ लिखी गई हैं।

छान्दोग्यमन्त्रभाष्य राम की कौशुम शाखा के मन्त्रों पर है। इन मन्त्रों में अधिकांश मन्त्र साममन्त्र ब्राह्मण के ही हैं। हाँ कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं, जो उस में नहीं हैं। श्री दुर्गामोहन भट्टाचार्य का अनुमान है कि इन मन्त्रों का आधार कोई लुप्त साममन्त्रपाठ होगा।

१—इतिहसन पण्डीकरी, जुलाई सन् १८७७ ए० १७५।

१—किसी अज्ञात ग्रन्थकार की रुद्राध्यायव्याख्या में लिखा है—

इत्यानुधेन ये करये कौशुमे गुणविष्णुना।

ख्याता न मन्त्रा व्याख्यातास्तान् व्याख्यातुमिहोद्यमः॥

अर्थात्—गुणविष्णु ने कौशुम मन्त्रों की व्याख्या की है।

एतिहासिक सोसायटी बंगाल कलकत्ता का सूचीबन्ध, वैदिक ग्रन्थ भाग २, सन् १९२६, पृ० ६१०।

गुणविष्णु बङ्गाल अथवा मिथिला के किसी भाग का रहने वाला था । उस के ग्रन्थ का वहाँ अब तक बड़ा प्रचार है ।

इस इतिहास के दूसरे भाग के ४८ वें पृष्ठ पर गुणविष्णु पर लिखने हुए हम ने लिखा था कि स्टोन्नर महाराय के विचारानुसार गुणविष्णु सायण से पहले हो चुका था । यही विचार श्रीदुर्गामोहन का है । उन्होंने ने मन्त्र-ब्राह्मण के सायणभाष्य के कतिपय स्थलों की तुलना गुणविष्णु के मन्त्रब्राह्मण भाष्य के तत्सम्बन्धी स्थानों से की है । उस को देख कर पूर्ण निश्चय होता है कि एक ग्रन्थकार दूसरे के वाक्य के वाक्य काम में ला रहा है । श्रीदुर्गामोहन का विचार है कि इलायुध भी गुणविष्णु के ग्रन्थ को काम में लाता है, अतः सायण से पूर्व होने से गुणविष्णु सायणभाष्य को काम में नहीं लाता, प्रत्युत सायण ही गुणविष्णु से सहायता लेता है । श्रीदुर्गामोहन की यह भी धारणा है कि गुणविष्णु महाराज बङ्गालघेन और लक्ष्मणसेन के काल में राजपरिचित थे । इस प्रकार वह विक्रम की बारहवीं शताब्दी के अन्त या ११ वीं के आरम्भ में हुआ होगा ।

पट्टखण्ड के अन्त में गुणविष्णु प्रत्येक वेद के आदि मन्त्र का भाष्य करता है । ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के सम्बन्ध में वह लिखता है—

विनियोगो ब्रह्मयज्ञे ।

अर्थात्—इस अग्निमीडे मन्त्र का विनियोग ब्रह्मयज्ञ में है ।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में वह शुक्र यजुर्वेद का प्रथम मन्त्र पढ़ता है । तथा सामवेद के प्रथम मन्त्र को पढ़ के वह निम्नलिखित मन्त्र पढ़ता है—

शन्नो देवीरभिष्टये शन्नो भवन्तु पीतये ।

शंयोरभिस्रवन्तु नः ॥

इस के सम्बन्ध में वह लिखता है—

अथर्ववेदादिमन्त्रोऽयं पिप्पलादहृष्टः । यरुणवैवतः । छन्दो गायत्री । अत्र च शन्नो भवन्तु इत्यत्र आयो भवन्तु इति पृच्छते ।

अर्थात्—यह अथर्ववेद का प्रथम मन्त्र है । इस का द्रष्टा पिप्पलाद है ।

इस से निश्चित होता है कि शत्रो देवी मन्त्र वैष्णवाद संहिता का आदि मन्त्र था ।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त गुणविष्णु ने मन्त्रब्राह्मण पर भी भाष्य किया था । उस के कोश साहोदर, बहोदा आदि स्थानों में हैं । गुणविष्णु ने पारस्कर-श्रुति पर भी अपना भाष्य रचा था । पं० परमेश्वर का छान्दोग्यमन्त्र भाष्य के अपने संस्करण की भूमिका में लिखते हैं—

‘एतत्कृतं पारस्करश्रुतिभाष्यमप्यस्ति तच्च वन्दनपुराप्रामवा-
सिनो मृतवैदिकजयपालशर्मणः सविधेऽन्तिमभागे कतिपयपत्र-
धिकलं मयावलोकितमासीत् ।’

अर्थात्—मैं ने गुणविष्णुकृत पारस्करश्रुतिभाष्य का एक कोश जिस के अन्तिम कुछ पत्र युद्धित थे, वन्दनपुराप्रामवासी परलोकगत जयपाल शर्मा के घर देखा था । गुणविष्णु का भाष्य बड़ा सरल है ।

१—श्रीदुर्गादेहन सप्तमिदत्त छान्दोग्यमन्त्रभाष्य की भूमिका, पृ० ३५ की टिप्पणी ।

चतुर्थ अध्याय अथर्ववेद का भाष्यकार

सायण (संवत् १३७२-१४४४)

जहां और वेदों के कई कई भाष्य इस समय भी मिलते हैं, वहां अथर्व वेद का केवल एक ही भाष्य सम्प्रति उपलब्ध होता है। है वह भी शुद्धित अवस्था में। वह भाष्य है सायण का। इस का सम्पादन परलोकगत पण्डित राक्षरभण्डुराक्ष ने किया है। उन्होंने इस भाष्य का एक शुद्धित ग्रन्थ प्राप्त किया। प्रथम बार काण्डों का उन के पास एक और भी कोरा था, परन्तु वह पहले कोरा की नकलमात्र ही था। इतनी स्वल्प सामग्री से बहुयत्न पूर्वक उक्त पण्डित ने इस भाष्य के सुलभ भागों का सम्पादन किया।

सायण ने इस की रचना महाराज हरिहरि के काल में की थी। इस समय वह ऋग्वेद, यजु और सामवेद का भाष्य कर चुका था। वह अपने भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

व्याख्याय वेदत्रितयम् आमुष्मिकफलप्रदम् ।

वेदिकामुष्मिकफलं चतुर्थं व्याख्यीर्यति ॥१०॥

अर्थात्—परलोक में फल देने वाले तीन वेदों का व्याख्यान कर के अब इस लोक और परलोक के फलरूप चौथे वेद का व्याख्यान करता है।

अपने भाष्य की भूमिका में सायण लिखता है कि यह वेद बीस काण्ड युक्त है—

अतः एकर्वादीनाम् आसीणां विंशतिसंख्याकत्वाद् वेदोऽपि
विंशतिकाण्डात्मकः संपन्नः ।

इस भाष्य की भूमिका में अथर्ववेद सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य विषयों पर सायण ने प्रकाश डाला है। आथर्वण शास्त्राओं के विषय में वह लिखता है—

अथर्ववेदस्य नव भेदा भवन्ति । तद्यथा-पैप्पलादास्तौदा
मौदाः शौनकीया जाजला जलदा प्रह्वयदा देवदर्शाधारणवैद्या-
श्चेति ।

इस के अनन्तर आथर्वण सूत्रों के सम्बन्ध में यह उपर्य का निम्न-
लिखित श्लोक उद्धृत करता है—

नक्षत्रकल्पो वैतानस्तृतीयः संहिताविधिः ।

तुर्य आङ्गिरसः कल्पः शान्तिकल्पस्तु पञ्चमः ॥ इति ॥

अर्थात्—नक्षत्रकल्प, वैतान, संहिताविधिः—कौशिकसूत्र, चौथा आङ्गि-
रस कल्प और पांचवां शान्तिकल्प है ।

सायण का मत है कि रोगनिवारक आथर्वण मन्त्र होमादि से उन
भोगों की नियन्त्रि करते हैं, जिनका कारण कोई पापाचरण है ।' इस से आगे
यह एक ह्दभाष्यकार को उद्धृत करता है ।

सायण के आथर्वणभाष्य का प्रधानाधार कौशिक और वैतानसूत्र हैं ।

हम ने सुना है कि स्वातिग्र में सायण के अथर्ववेद भाष्य का एक
सम्पूर्ण कोश है । इसे प्राप्त करने का यत्न होना चाहिए ।

पञ्चम अध्याय पदपाठकार

पदपाठ वेदों के सब से प्राचीन सरल और संक्षिप्त भाष्य है । इन की सहायता से कई पदों की प्रकृतियों, उन के प्रत्यय, समासों का स्वरूप, और पदों का विच्छेद इत्यादि अनेक बातें अनायास ज्ञात हो जाती हैं । इन में से अधिकतर बातों को खोलने के लिए पदपाठकार अवमह [5] का प्रयोग करते हैं । वेदार्थ में पदपाठों का बड़ा प्रमाण है । पर क्योंकि कई पदों का अनेक प्रकार का विच्छेद हो सकता है, और भिन्न २ संहिताओं के पदपाठों में वह मिल भी जाता है, अतः वेदार्थ करने वाले की दृष्टि बड़ी गम्भीर होनी चाहिए । उस के लिए सारे ही पदपाठों का तुलनात्मक अध्ययन अनिवार्य है । योवन और अमेरिका के कुछ वेदानुवादकों ने इन पदपाठों में कई दोष निकाले हैं । वे अपना आधार आधुनिक भाषा-विज्ञान को समझते हैं । यह भाषा-विज्ञान अभी बड़ा अपूर्ण है । इस के विपरीत हमारा मुदृष्ट निरवयव है कि पदपाठकारों को अपनी परम्परा सुविदित थी । वैदिक विज्ञान के, चाहे वह व्याकरण विज्ञान हो या भाषा-विज्ञान, कल्प-विज्ञान हो या छन्दोविज्ञान, वे असाधारण ज्ञाता थे, नहीं नहीं, वे इन विज्ञानों के पारदर्शी थे । अतः उन के पदपाठों का, उनके इन अत्यन्त संक्षिप्त भाष्यों का, अब उल्लेख किया जाएगा ।

(१) ऋग्वेद का पदपाठकार शाकल्य

जिस विदग्ध शाकल्य का महाराज जनक की सभा में याज्ञवल्क्य के साथ महान् संवाद हुआ, था^१ पुराणों के अनुसार ऋग्वेदाध्यापक देवमित्र शाकल्य वही था । ब्रह्माण्ड पुराण के पूर्व भाग के दूसरे पाद के अध्याय १४वें में लिखा है—

शाकल्यः प्रथमस्तेषां तस्मादन्यो रथीतरः ।

याष्कलिश्च भरद्वाज इति शास्त्राप्रवर्तकाः ॥३२॥

देवमित्रस्तु शाक्यो ज्ञानार्हकारगर्वितः ।

जनकस्य स यज्ञे वै विनाशमगमद्विजः ॥३३॥

इस से अगले अध्याय में पुनः लिखा है—

देवमित्रश्च शाक्यो महात्मा द्विजपुंगवः ।

चंकार संहिता पंच युद्धिमान् वेदवित्तमः ॥२॥

अर्थात्—[उस सत्यमित्र के तीन शिष्य थे ।] शाक्य उन में से पहला था, दूसरा था शाक्यपुत्र रथीतर और तीसरा था वाकलि भरद्वाज । ये शाखाप्रवर्तक थे । देवमित्र शाक्य ज्ञानार्हकार से गर्वित जनक के यज्ञ में विनाश को प्राप्त हुआ । द्विजपुंगव महारमा देवमित्र शाक्य ने, पांच संहिताएं बनाई—

वाकुपुत्राणं ६०।६१॥ में वेदवित्तमः के स्थान में पदवित्तमः पाठ है । यह पाठ ब्रह्माण्ड के पाठ से अधिक युक्त है ।

इस इतिहास के द्वितीय भाग के पृ० ७६, ७७ पर हम ने विदग्ध शाक्य और देवमित्र शाक्य को एक माना है । अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० २३ पर हम ने शाक्य, स्वविर शाक्य और विदग्ध शाक्य तीन भिन्न १ पुरुष माने थे । अब हमारा ऐसा विचार नहीं है । इन तीनों को एक ही मानना अधिक संगत प्रतीत होता है ।

इस शाक्य का उल्लेख निरुक्त और ऋष्यातिशाक्य में मिलता है । हम अपने ऋग्वेद पर व्याख्यान के पृ० १—२३ तक इस का वर्णनविशेष कर चुके हैं ।

शाक्य कब हुआ था

कोय प्रभृति पाश्चात्य लेखकों का मत है कि ईसा से लगभग छः सौ वर्ष या इस से कुछ पूर्व शाक्य हुआ था ।^१ उनके इस विचार का आधार उन की कल्पना के सिवा और कुछ नहीं । वह कल्पना भी नितान्त निर्मूल है । दूसरी ओर हम जानते हैं कि शाक्य महाभारत-काल का व्यक्ति है । वह कल ईसा के सन् से ३००० वर्ष पूर्व के समीप का है । तभी मिथिला में वह महाराज

१—पैतरेव आर्यवक भूमिका, पृ० ७३ ।

जनक राज्य करते थे, जिन की सभा में इस शाकल्य का याज्ञवल्क्य के साथ संवाद हुआ था। शाकल्य का काल बहुत: याज्ञवल्क्य का काल ही है।

पदपाठ

ऋग्वेद का शाकल्यकृत पदपाठ मुम्बई में छापा है। मैक्समूलर ने भी यही पदपाठ सम्पादित किया था। उस का मुद्रण काल सन् १८७१ ई। मैक्समूलर सम्पादित पदपाठ प्राचीन पदपाठ की पूरी नकल नहीं है। सम्भवतः स्थान बचाने के लिए ही मै० मूलर ने प्रमुख पदों के साथ का पदपाठस्थ इति पद सर्वत्र उठा दिया है। शाकल्य का पदपाठ कई स्थानों पर यास्क को अनभिमत था।^१

ऋग्वेद के अष्टमाष्टक अन्तर्गत बालखिलस सूक्तों पर जो पदपाठ इस समय मिलता है, वह किम का है, वह अभी विचारणीय है।

(२) राघव

इस के पदपाठ के विषय में पूर्व पृ० ६६ पर लिखा जा चुका है।

(३) यजुर्वेद का पदपाठकार

माध्यन्दिन संहिता के पदपाठकार का नाम अभी तक अज्ञात ही है। ऐशियाटिक सोसायटी बंगाल, कलकत्ता के नवीन सूचीपत्र के दूसरे भाग के पृ० ६८३ पर एक वाजसनेयिसंहिता पदपाठ का वर्णन है। वह माध्यन्दिनसंहिता का ही पदपाठ है। उस के अन्त में लिखा है—

इति श्रीशाकल्यकृतपदविंशतमोऽध्यायः।

इस से अनुमान हो सकता है कि माध्यन्दिनसंहिता का पदपाठकार भी शाकल्य ही था। परन्तु इस लेख का क्या आधार है और इस पर कितना विश्वास करना चाहिए, यह विषय गवेषणा योग्य है।

इस पदपाठ में एक बड़ा विशेष विचारणीय है। यजुर्वेद में एक मन्त्र है—

.....दन्तमूलैर्मृदं यस्वैस्तेगान्दृष्ट्वाभ्याम्२५।१॥

मुद्रित पदपाठ में इस के स्थान में—

वर्ष्यः । स्तेगान् ।

ऐसा पाठ देना है । महीधर और . काश्वसंहिताभाष्यकार आनन्दबोध ने
तेसा पाठ माना है । प्रतीत होता है कि बहुत पुराने काल से लेखक-प्रवाद से
पदपाठ में संशुद्धि हो चुकी थी । यही कश्मिरा रूपान्तर से ते० सं० २।७।२॥
न० भा० १।६।११।२॥ आपस्तम्ब धीति २०।२।१।२॥ और बौधायन धीति १५।३।५।
आदि में आँस है । उस का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

स्तेगान्द १२५।५।५।

इस से निश्चित होता है कि माध्यन्दिन पदपाठ में भी —

वर्ष्यः । स्तेगान् ।

ऐसा पाठ होना चाहिए ।

वा शरि [अष्टाध्यायी ८।१।३।१] र पतञ्जलि ने वा शर्मकरण अर्धरे लोपः
जो वार्तिक दिया है, तदनुसार संहिता पाठ में वर्ष्यः के विसर्ग का लोप है ।

यह पदपाठ एक स्थान में शतपथ के अभिप्राय से नहीं मिलता । अतः
७।१०॥ के भाष्य में उद्धृत लिखना है—

अतायुभ्यां । अतशब्देनात्र मित्रोऽभिधीयते ।
आयुशब्देन वरुणः । अयं तावत् भूत्यभिप्रायः येनैवमाह—ब्रह्म
वा अतं ब्रह्म हि मित्रो ब्रह्मो हतं वरुण एवाणुरिति [श०४।१।३।२०॥]
पदकारस्तु—अतायुभ्यामित्येकं पदं कृतवान् ।

माध्यन्दिन संहिता का पदपाठ तरवविवेचक मुद्रालय मुम्बई में शक
१८९५ में छपा था ।

(४) काश्यपसंहिता का पदपाठकार

इस के कर्ता के नामादि के सम्बन्ध में भी अभी तक हम कुछ नहीं
जान सके । यह पदपाठ अभी तक अमुद्रित ही है ।

(५) मैत्रायणीसंहिता का पदपाठकार

मैत्रायणी संहिता का सम्पादन डा० धारर ने किया था । आने

संस्करण में उन्होंने किसी मैत्रायणी पदपाठ की सहायता भी ली थी। यह पदपाठ केवल मन्त्रपाठ का है, और पूना में सुरक्षित है। समग्र मैत्रायणी संहिता का एक पदपाठ मैंने अब प्राप्त कर लिया है। इस में मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों का पदपाठ है। स्वर के बिन्दुओं की दृष्टि से यह ऋग्वेद से मिलता है। शक १७३४ ईस. का लिपिकाल है। नासिकके प्रवासी श्री अश्वेश्वर दाजी ने यह ग्रन्थ प्रतिलिपि करा लेने के लिए हमें दिया है। इस के कर्ता का नाम भी अभी तक अज्ञात ही है।

आडर अथवा पूना के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक विशेष पाठ है, और नासिक के पदपाठ का मूल मैत्रायणी संहिता का एक दूसरा पाठ है। उन दोनों मूल पाठों में यद्यपि बहुत भेद नहीं, तथापि भेद है अवश्य। आडर ने मैत्रायणी संहिता का सम्पादन अपने पदपाठ के पाठों के अनुकूल किया है। दूसरे पाठ उसने टिप्पणी में दिए हैं। यथा—

अतस्त्वं वर्हिः शतवल्शं च विरोह सहस्रवल्शं च ययं रुहमे ॥१।१।२॥

इस स्थान पर आडर के हस्तलेखों में शतवल्शं और सहस्रवल्शं का दो प्रकार का पाठ है। एक प्रकार तो यही है और दूसरा है—शतवल्शिं च तथा सहस्रवल्शिं।

आडर के पास जो पदपाठ था उसने तदनुसार शतवल्शं और सहस्रवल्शं पाठ मूल संहिता में रखा है। हमारा पदपाठ दूसरे प्रकार की संहिता का अनुकरण करता है। हमारे पदपाठ में शतवल्शिं और सहस्रवल्शिं पद हैं। आडर स्वीकृत पाठ ऋग्वेद में मिलता है और नासिक के पदपाठ का पाठ अथवा उस मूल का पाठ जिसका यह पदपाठ है, काष्ठिल सं० में पाया जाता है। हम नहीं कह सकते कि इन दोनों में एक अशुद्ध है और दूसरा शुद्ध।

इसी प्रकार का एक और पाठ भी देखने योग्य है। मुद्रित मैत्रायणी संहिता में निम्नलिखित मन्त्रांश है—

यो असमान्धराचं च यं ध्वरात् तं ध्वर ॥१।१।२॥

आडर के पूना के पदपाठ में ध्वरात्। यं। पाठ है। हमारे पदपाठ में इस के स्थान में ध्वर। अयं। पाठ है। इसका मूल में ध्वरायं पाठ था। आडर के मूलसंहिता के कई कोशों में भी मूल का ऐसा ही पाठ है। यह उस

की सम्पादन की हुई संहिता की टिप्पणी के देखने से स्पष्ट हो जाता है ।^१ इस से सन्देह उत्पन्न होता है कि मैत्रायणी संहिता के इन दो प्रकार के पाठों में से एक पाठ मैत्रायणियों की किसी अवान्तर संहिता का पाठ हो सकता है । मैत्रायणी के छः अथवा सात भेद प्रसिद्ध ही हैं । सम्भव है उन्हीं अवान्तर भेदों में से ही किसी एक शाखा का यह पदपाठ हो । इस के साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि नासिक में हमने पूर्वोक्त भण्डारकर दाजी के घर में मैत्रायणी संहिता का एक खोश देखा था जिस के अन्त में लिखा था—

इति मैत्रायणीमानववाराहसंहिता समाप्ता ॥

(६) तैत्तिरीयसंहिता का पदपाठकार आश्रय

(१) निघण्टु १।१॥ के भाष्य में इयोम शब्द की व्याख्या में देवराज भट्टा आश्रय नाम के एक पदपाठकार का उल्लेख करता है ।

(२) भट्टभास्कर तैत्तिरीय-संहिता-भाष्य के आरम्भ में लिखता है—

उत्तमाश्रयाय द्वाये येन पदविभागश्चे—

अर्थात्—उत्ता ने यह संहिता आश्रय को पढ़ाई । उस आश्रय ने इस का पदपाठ बनाया ।

(३) भट्टभास्कर के इस लेख का मूल काण्डानुक्रमणी का निम्नलिखित बचन है ।

यस्याः पदकृदाश्रेयो वृत्तिकारस्तु कुण्डिनः ॥

अर्थात्—जिस का पदकार आश्रय और वृत्तिकार कुण्डिन है ।

एक आश्रय का नाम तैत्तिरीय प्रातिशाख्य २।३।२॥ और १।७।१॥ में, बोधायन बृहस्पत्ये १।४।४॥ में और वेदान्तसूत्र २।४।४॥ में मिलता है । बोधायनबृह २।६।७॥ में लिखा है—

आश्रयाय पदकाराय

अर्थात्—वृत्तिपंथ में पदकार आश्रय का भी स्मरण करना चाहिए ।

१—एक पाठ का अर्थ ठीक नहीं बनता । यदि मूलपाठ चवरायं माना जाय तो पदपाठ में चवर । यं । होना चाहिए । यह पाठ सार्थक हो जाता है ।

इस पदपाठकार का काल भी लगभग वही है, जो शाक्य का है। शास्त्रा-प्रवर्तक सारे ऋषि एक ही काल में हुए थे, और उन की संहिताओं का पदपाठ भी उन्हीं के साथियों ने किया था। अतः प्रायः सारे पदपाठकार एक ही काल में हुए थे। इस सम्बन्ध में कीच ने लिखा है—

There appears in its treatment of grammar some ground for dating it earlier than the Pada of the *Rigveda*: the latter indeed is simpler in its treatment of the analysis of words into their component elements, but it would be unwise to build any theory on that fact.^१

अर्थात्—तै० प्रातिशाख्य में व्याकरण का जो वर्णन है, उससे इस बात को कुछ आधार मिलता है कि ऋग्वेद के पदपाठ से तै० प्रा० कुछ पूर्व का है, परन्तु इतनी ही बात से किसी सिद्धान्त का निश्चित करना बुद्धिमत्ता नहीं।

अस्तु, प्रातिशाख्यों में व्याकरण का निदर्शन पाहें। कैसे ही हुआ हो, सारे पदपाठ एक ही काल के हैं। शास्त्रा प्रवचन सम्बन्धी आर्य ऐतिहासिक इस का अकाव्य प्रमाण है।

तैत्तिरीय संहिता के पदपाठ का एक बड़ा सुन्दर संस्करण कुम्भपोण में छप चुका है।^२

महाभास्कर तै० सं० भाष्य में कहीं कहीं ऐसा भी अर्थ करता है, जो पदपाठ के अनुकूल नहीं होता। यथा—

अस्वप्नजः । अस्वप्नशीलः । । पदकारानभिमतत्वात् अन्यथा व्याख्याते—स्वप्नजन्मानो न भवन्तीत्यस्वप्नजाः । तै० सं० १।२।१४॥

अर्थात्—अस्वप्नजः का अर्थ है “जिसे स्वप्न न आवे।” परन्तु पदकार के अनुसार जः से पूर्व अवग्रह है, अतः उस के अनुसार इस का अर्थ है “जो

१—कीच का कृष्णयजुर्वेदानुवाद भूमिका पृ० १० ।

२—तैत्तिरीयसंहितापदपाठः सत्वरः । वैष्णवायशाखिणा नारायणशाखिणा च परिशोधितः कुम्भपोण प्रकाशितश्च । सन् १९१५।

स्वप्न से उत्पन्न न हो।" इसी प्रकार अन्यत्र भी भट्टभास्कर कभी कभी पदकार के विपरीत अर्थ करता है।

(७) सामवेद का पदपाठकार गार्ग्य

(१) निरुक्त गीशांशा में आए हुए मेहना पद के भाष्य में स्कन्द-स्वामी लिखता है—

एकमिति शाकल्यः । त्रीणीति गार्ग्यः ।

अर्थात्—शाकल्य संहिता में यह एक पद है और गार्ग्य की संहिता में तीन पद हैं।

इस के आगे शाकल्य पक्ष में मेहना का मंहनीय अर्थ कर के स्कन्द लिखता है—

कुन्दोगानां तु मेहना शब्दो नैवास्ति यदिन्द्र चित्र म इह नास्ति—इत्येवंरूपः पाठः तेषां—चित्र ! मे । इह । न अस्ति । इत्येषां पदानां पञ्चानां मे । इह । न । इत्येवंरूपाणि मध्यमानि पदानि ।^१

(२) निरुक्त के इसी पाठ के सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

भाष्यकारेणोभयोः शाकल्यगार्ग्ययोरभिप्रायावत्रानुविहितौ ।

.....। पदकारयोः पदविकल्पे कोऽभिप्राय इति ।

अर्थात्—भाष्यकार शाकल्य ने शाकल्य और गार्ग्य दोनों का अभिप्राय कह दिया। इन दोनों पदकारों के पदविकल्प में क्या अभिप्राय है, यह कहा जाता है।

दुर्ग का स्पष्ट रूप से यहां यह अभिप्राय है कि गार्ग्य कुन्दोगों का पद-पाठकार है। स्कन्द के लेख से यह बात इतनी स्पष्ट नहीं होती। इस का एक

१—हम ने यह पाठ भा० स्वरूप के पाठ की अपेक्षा यद्यपि बहुत रोचकर दिया है, तथापि यह पूरा सन्तोषजनक नहीं है मूल निरुक्त के अनुसार पांच पदों में से पहला पद अब गिनना चाहिए। दुर्ग की भी यही सम्मति है।

कारण है। चन्द्रोगों की मूल संहिता [प्र. ४ अध्या. २ द. ६ मं० ४] में भी वही पाठ है, जो दुर्ग के अनुसार पदपाठकार का पाठ है। अतः, इस बात से इतना तो निश्चित हो जाता है कि सामवेद के पदपाठकार का नाम गार्ग्य था।

पदपाठ

सामवेद का पदपाठ दूसरे पदपाठों की अपेक्षा कुछ नूतनता रखता है। यह नूतनता अनेक पदों के कुछ अधिक लोडने में है। आगे उन कतिपय शब्दों का नमूना दिया जाता है, जिन में यह बात पाई जाती है। इस के लिए हम ने सत्यव्रतसामधर्मी सम्पादित सामपदसंहिता को वर्ता है। उसी के पृष्ठ आदि का प्रमाण नीचे टिप्पणों में दिया गया है—

संहिता पाठ	पदपाठ
मित्रम्	मि । त्रम् । ^१
अथ	अ । थ । ^२
विप्रातः	वि । प्रातः । ^३
सूतता	सु । तता । ^४
अन्ये	अम् । ये । ^५
सख्ये	स । ख्ये । ^६
अहनी	अ । हनी । ^७
धत्ता	धत् । धा । ^८
अथ	अ । थ । ^९
चन्द्रमसः	चन्द्र । मसः । ^{१०}
समुद्रम्	सम् । उद्रम् । ^{११}
दुःसात्	दुः । सात् । ^{१२}

१—पृ० १ मं० ५ ॥

२—पृ० ५ मं० १ ॥

३—पृ० ५ मं० ८ ॥

४—पृ० ७ मं० २ ॥

५—पृ० ८ मं० १ ॥

६—पृ० ६ मं० ४ ॥

७—पृ० ११ मं० ३ ॥

८—पृ० १३ मं० १० ॥

९—पृ० १८ मं० २ ॥

१०—पृ० २१ मं० ३ ॥

११—पृ० २७ मं० ४

१२—पृ० २६ मं० ६ ॥

स्वस्तये	सु । अस्तये । ^१
पुरन्दर	पुरम् । दर । ^२
मेधातिथे	मेध्व । अतिथे । ^३
सर्वस्य	सु । ऊर्यस्य । ^४
उश्रियाः	उ । श्रियाः । ^५
पुत्रस्य	पुत्र । प्रस्य । ^६

ये पद हम ने दिग्दर्शनमात्र के लिए यहाँ रख दिए हैं । ऐसा पदविच्छेद दूसरे पदपाठों में देखने में नहीं आता । यास्किय निरुक्त में पदपाठ की बड़ी कृपा है । यास्क के अनेक निर्वचनों का आधार यही पदपाठ है, यह अगली तुलना से स्पष्ट हो जाएगा—

पदपाठ	निरुक्त
नि । त्रम् ।	प्रमीतिआयते । १०।२१ ॥
अ । य ।	अस्मिन् पवि । १।६ ॥
स । क्ये ।	समानक्याना । ७।१० ॥ ^७
अत् । धा ।	अद्धानात् । १।३० ॥
अ । य ।	हन्तेः । निर्हसितोपसर्गः । आहन्तीति । ६।११
चन्द्र । मत्तः ।	चन्द्रो माता । ११।५ ॥
सम् । उदम् ।	समुद्भवन्त्यस्मादायः । २।१० ॥
हुः । आत् ।	दुरयं वा । ३।१६ ॥
सु । अस्तये ।	सु । अस्तीति । ३।२१ ॥
उ । श्रियाः ।	उर्याविणोऽस्या भोगाः । ४।१६ ॥
पुत्र । प्रस्य ।	पुत्रकं ततश्चावत इति । २।११ ॥

इन निर्वचनों को करीत हुए यास्क के मन में निस्सन्देह इस पदपाठ का

१—पृ० ३९ मं० ४ ॥

४—पृ० ८० मं० २ ॥

२—पृ० ३७ मं० ६ ॥

५—पृ० ८५ मं० १० ॥

३—पृ० ४० मं० ७ ॥

६—पृ० १५८ मं० २ ॥

७—काकदर स्वरूप-सम्पादित निरुक्त में समानाख्याना पाठ है ।

ध्यान मा । अतः इन निर्वचनों का काल यास्क से बहुत पहले का हो जाता है । यदि सामवेद की दूसरी शाखाओं के पदपाठ भी मिल जाएं तो निरुक्त के अध्ययन में बड़ी सहायता होगी । आशा है उन पदपाठों में भी इस पदपाठ के समान पदविच्छेद की ऐसी ही नूतनता पाई जाएगी ।

(७) आथर्वण पदपाठ

अथर्ववेद का पदपाठ ऋग्वेद के पदपाठ के प्रायः समान ही है । हस्त-लेखों में अवग्रह के स्थान में ऐसा ऽ चिन्ह नहीं होता प्रत्युत एक ऐसा ० चिन्ह दिया होता है । इस के कर्ता का नाम भी अभी तक अज्ञात ही है । इस में कोई विरोध वर्णनीय बात नहीं है ।

पदपाठों का संचेप से तुलनात्मक अध्ययन

(१) पद् की आनुत्ति

ऋग्वेद और अथर्ववेद के पदपाठों में पद् में अवग्रह दिखाने के लिए शब्द की आनुत्ति नहीं की जाती है । यथा—

पुरऽहितम् । ऋ . १. १. १.

त्रिऽसप्ताः । अथ. १. १. १.

यजुः, तैत्तिरीय, मैत्रायणी और साम के पदपाठों में अवग्रह दिखाने के लिये शब्द की आनुत्ति की जाती है । यथा—

ध्रेष्टुतमायेति ध्रेष्टुऽतमाय । यजुः १. १.

ध्रेष्टुतमायेति ध्रेष्टुऽतमाय । तै. १. १. १.

मै० १. १. १.

हव्यदातये । हव्यदातये । सा० पू० १. १. १.

(२) इष का प्रयोग

इष शब्द ऋक्, यजुः, अथर्व और मैत्रायणी के पदपाठकारों ने समस्त माना है । यथा—

पिताऽइष । ऋ. १. १. ६.

राज्येति राजांऽइव । यजुः १३. ६.

प्रिताऽइव । अथर्व २. १३. १.

वस्नेवेति वस्ताऽइव । मैत्रा. १. १०. २.

ज्ञान और तैत्तिरीय के पदपाठ में इव पृथक् पद रखा है । यथा—

क्षोणीः । इव ॥ सा० पू० ४. ४. ४.

राजा । इव ॥ तै० १. २. १४. २८.

लौकिकसाहित्य में भी इव कहीं समस्त और कहीं अव्यय होता है ।

यथा—

समस्त-यागर्थाधिक्य संपृक्तौ । रघुवंश सर्ग १ श्लोक १ ।

असमस्त-कचाचित्रौ विष्वगिषामजौ गजौ ।

किरा० सर्ग १ श्लोक ३६ ।

किरात के इस श्लोक में इव का सम्बन्ध गजौ पद से है ।

(३) पदपाठों में स्वराङ्गप्रकार

ऋक् यजु अथर्व के पदपाठ में अवग्रह के अन्त में विद्यमान स्वरित से परे अगले अंश में विद्यमान अनुदात्त की प्रथम तथा उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित होता है । यथा—

शीरर्वत्ऽतमम् । ऋ. १. १. ३.

घृतऽप्रतीका । ऋ. १०. ११४. ३.

धेष्टतमायेति धेष्टऽतमाय । यजु० १. १.

प्रजावर्तीरिति प्रजाऽवर्ती । यजु० १. १.

अग्निऽस्वात्ताः । अथर्व० १८. ३. ४४.

अग्निऽतेंजाः । अथर्व० १०. ५. २५.

तै० में ऐसा नहीं होता है—

धेष्टतमायेति धेष्टतमाय । तै० १. १. १.

प्रजावर्तीरिति प्रजाऽवर्ती । तै० १. १. १.

इस विषय में मैत्रायणी का एक पदपाठ तैत्तिरीय का अनुकरण करता है और दूसरा ऋग्वेदादि के समान है । यथा—

धेष्टतमायेति धेष्टं ऽतमाय

अथवा

धेष्टतमायेति धेष्टं ऽतमाय । मै. १. १. १.

अघर्शस इत्यघऽशंसः ।

अथवा

अघर्शस इत्यघऽशंसः । मै. १. १. १.

इन चारों उदाहरणों में से प्रथम और तीसरा तैत्तिरीयों के अनुसार हैं और शेष दोनों ऋग्वेद के अनुसार हैं ।

कश्चसंहिता के एक पदपाठ में स्वराङ्गनप्रधार निम्नलिखित है—

प्रजोवतीरिति प्रजो ऽवतीः

अर्थात्—वह उदात्त अनुदात्त और स्वरित तीनों के बिन्दु लगाता है ।

(४) इतिकरण

१—ऋच् और अथर्व के पदपाठों में प्रगृह्य पदों में इति का प्रयोग है यथा—

चाडो इति । ऋ. १. २. १.

अथ० ६. ६८. १.

तथा “अकः” इत्यादि पदों में कही इति का प्रयोग है । यथा—

अकरित्यकः । ऋ० १. ३३. १५.

अथ० २०. ३४. ४.

२—यजुः में प्रगृह्य और अवग्रह योग्य पदों में इतिकरण है । यथा—

विष्णो इति । यजु० १. २.

धेष्टतमायेति धेष्टं ऽतमाय । यजु० १. १.

तथा “अकः” इत्यादि पदों में भी ऋग्वेदवत् इतिकरण है । यथा—

अकरित्यकः । यजुः ११. २२.

मैत्रायणी तथा तैत्तिरीय में प्रगृह्य इत्य तथा उपसर्गों में इति देखा जाता है । यथा—

प्रगृह्य— विष्णो इति । मै० १. १. ३.

तै० १. १. ३. ४.

इत्ययं— श्रेष्ठतमायेति श्रेष्ठं उत्तमाय । मै० १. १. १.

तै० १. १. १.

उपसर्ग—प्रेति । मै० १. १. १.

तै० १. १. १.

पर मैत्रायणी का एक पदपाठ उपसर्ग में इति का प्रयोग नहीं करता ।

तै० में भी जहाँ दो उपसर्ग साथ में हैं वहाँ केवल एक के साथ इतिकरण

है । यथा—

“सं प्रयच्छति” सम् । प्रेति । यच्छति ।

तै० ६. ३. २.

साम में भी प्रयच्छ में इति करण है । यथा—

त्वे इति । सा० पू० १. ४. ४.

विभिन्न पदसंहिताओं में एक ही शब्द के भिन्न २ पदपाठ

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

यह मन्त्रार्थ ऋ० १।८।१८॥ यजुः २।२।१॥ मै० सं० ४।१।४।१॥ अ० सं० १।१।१॥ और तै० आ० १।१।१॥ आदि स्थानों में मिलता है । तैत्तिरीय आरण्यक को छोड़ कर शेष सब ग्रन्थों में यजत्राः पद अनुदात्त (निषात) है इस प्रकार यह देवाः का विशेषण बनता है, जो स्वयं निषात है । तै० आ० और मै० सं० के (Bb) पाठान्तर में इसे आनुदात्त माना गया है ।

यह बात महभास्कर ने तै० आ० १।१।१॥ के भाष्य में लिखी है ।

एष्टा रायः

यह मन्त्रार्थ यजुः ४।७॥ शतपथ १।४।१।१॥ ऐ० आ० १।२९॥ और तै० सं० १।२।१॥ में मिलता है । इस के सम्बन्ध में भाष्यकारों का निम्नलिखित लेख है—

उवट—एष्टा रायः । यजतेः कृतसंप्रसारणस्यैतद्रूपं निष्ठा-
प्रत्यये परतो दानार्थस्य । आ इष्टा रायः मर्यादया
इष्टानि धनानि ।

सायक—हे इष्टः । तुजन्तस्य सम्बुद्धिः ।

सायण—हे एहः ।.....यद्वा एहा इति प्रथमान्तम् ।

महभास्कर—हे एहः एवमशील ।

केचिन्निष्ठायां वर्णव्यत्ययेन इकारस्यैकारमाहुः । अनामन्त्रितत्वं च मन्यन्ते । तदा आद्युदात्तरत्वं च दुर्लभम् । शास्त्रान्तरे तु—आ इहः एह इति मत्वा अवग्रहं कुर्वन्ति ।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि तै० सं० के पदपाठ में एहः एक पद है और माध्यन्दिन पदपाठ में आऽइहाः इस प्रकार का अवग्रहीत पद है । तै० में यह पद सम्बोधन के अर्थ में है और माध्यन्दिन में रायः का विशेषण है ।

पदपाठकार और महाभाष्य

पतञ्जलि मुनि अपने महाभाष्य में तीन स्थानों पर निम्नलिखित वचन लिखते हैं—

न लक्षणैरेव पदकारा अनुवर्त्याः । पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम् । यथालक्षणं पदं कर्तव्यम् ।

अर्थात्—पदकारों के पीछे व्याकरण का सूत्र नहीं चलना चाहिए । पदकारों को व्याकरण के पीछे चलना चाहिए । जैसा सूत्र हो वैसा पद होना चाहिए ।

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में पतञ्जलि कहता है कि आज्यम् के पद बनाते समय आऽज्यम् इस प्रकार से अवग्रह होना चाहिए । यह पद ऋग्वेद के दशम मण्डल में कई बार आया है । वहाँ इस पद में अवग्रह नहीं है ।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर पतञ्जलि का मत है कि आशितं पद में आ के परचात् अवग्रह चाहिए ।^१ यह पद भी ऋग्वेद के दशम मण्डल में बिना अवग्रह के है ।

तीसरे स्थान में पतञ्जलि का मत अक्षरान् पद के विषय में है ।^२ यह समझता है कि इस पद में अवग्रह नहीं चाहिए । ऋग्वेद १।१८४।१६

१—३।१।१०२॥ कीलहानं का द्वितीय संस्करण भाग २, पृ० ८२ ।

२—६।१।२०७॥ भाग १, पृ० ११७ ।

३—८।२।१६॥ भाग १, पृ० ६६७ ।

के पदपाठ में यहाँ अवग्रह मिलता है ।

केवल वैयाकरण होने से, पतञ्जलि ने पदपाठ के सम्बन्ध में यह कहा है । उसका मत है कि पाणिनीयाष्टक ही सब वेदों का प्रातिशाक्य है—

सर्ववेदपारिवर्द्धीयं शास्त्रम् ।^१

अतः अपने शास्त्र की महत्ता दिखाना उसका ध्येय है ।

आदित्य शब्द पर स्कन्द का लेख

आदित्य पद के विषय में निरुक्त भाष्यकार स्कन्दस्वामी लिखता है—

शाकल्यान्नेयप्रभृतिभिर्नावगृहीतम् । पूर्थनिर्वचनाभिप्रायेण ।
गार्ग्यप्रभृतिभिरवगृहीतमिति । तदेव कारणम् ।^२ विचित्राः पदकारा-
णामभिप्रायाः । क्वचिदुपसर्गविषयेऽपि नावगृह्णन्ति । यथा शाक-
ल्येन अधिवासम् इति नावगृहीतम् । आन्नेयेण तु अधि । वासम् ।
इत्यवगृहीतम् । तस्माद्वयप्रहोऽनवग्रह इति । २।१३॥

अर्थात्—शाकल्य और आन्नेय आदि आदित्य-पद में अवग्रह नहीं करते । गार्ग्य आदि करते हैं । यास्क ने दोनों के अनुसार निर्वचन दिखाया है । पदकारों की विचित्र गति है । कई उपसर्ग का भी अवग्रह नहीं करते । शाकल्य अधि-वासम् में अवग्रह नहीं करता आन्नेय करता है ।

१—२।१।२०॥ भाग १, पृ० ४००॥

२—यह पाठ संदिग्ध है ।

षष्ठ अध्याय

निरुक्तकार

पदपाठों के साथ ही निरुक्तों के काल का आरम्भ हो जाता है। निरुक्त-कारों ने यद्यपि किसी वेद का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया, तथापि उन्होंने अनेक मन्त्रों का भाष्य अवश्य किया है। वह भाष्य प्राचीनता की दृष्टि से बड़ा प्रामाणिक है। ये निरुक्त संख्या में कभी चौदह थे। इस सम्बन्ध में दुर्ग लिखता है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदम् । व्याकरणमष्टप्रभेदम् ।^१

व्याकरणमष्टधा । निरुक्तं चतुर्दशधा । इत्येवमादि ।^२

अर्थात्—निरुक्त चौदह प्रकार का है और व्याकरण आठ प्रकार का है।

दुर्ग के इस वचन पर श्री राजवाड़े का लेख ।

निरुक्त पर दुर्ग भाष्य के सर्वोत्तम संस्करण के सम्पादक श्री० बेजनाथ काशीनाथ राजवाड़े एम० ए० ने दुर्ग के इन वचनों पर निम्नलिखित टिप्पणी की है—

निरुक्तं चतुर्दशप्रभेदं = निरुक्तस्य चतुर्दशाध्यायाः ।^३

यास्कादपुरातनानि सर्वाणि निरुक्तशास्त्राणि चतुर्दशाध्यायात्मकान्यासप्रति कथं ज्ञायते ।^४

इस लेख से प्रतीत होता है कि राजवाड़े की सम्मति में दुर्ग के लेख का यह अर्थ है कि प्रत्येक निरुक्त के चौदह अध्याय थे।

१—निरुक्त भाष्य १।१११ ॥

२—निरुक्तभाष्य १।२०॥

३—टिप्पणी ६० २७ ।

४—टिप्पणी ६० ४८ ।

राजवादे की भूल

आचार्य दुर्ग निरुक्त १।२०४ की व्याख्या करते हुए लिखता है—

एकविंशतिधा वादवृत्त्यम् । एकशतधाध्वर्यवम् । सप्तस्रधा
सामवेदम् । नवधाध्वर्यवम् । १।२० ॥

अर्थात्—२१ प्रकार का ऋग्वेद, १०१ प्रकार का यजुर्वेद, १००० प्रकार का सामवेद और ९ प्रकार का अथर्ववेद है ।

२१ प्रकार के ऋग्वेद का यह अर्थ नहीं हो सकता कि ऋग्वेद के २१ मण्डल हैं। इसी प्रकार निरुक्त चतुर्दशधा का यह अर्थ नहीं हो सकता है कि निरुक्त के १४ अध्याय हैं, प्रत्युत इसका तो यही अर्थ है कि निरुक्त चौदह थे ।

चौदह निरुक्तकार

यास्क अपने निरुक्त में जिन प्राचीन आचार्यों को उद्धृत करता है, उनमें से निम्नलिखित बारह निरुक्तकार प्रतीत होते हैं—

(१) औपमन्यव (२) औदुम्बरायण (३) बार्धवाणि (४) गार्ग्य (५) आत्रायण (६) शाकपूणि (७) और्गवाभ (८) सैटीकि (९) गालव (१०) रथौता-
ष्ठीवि (११) कौटुकि (१२) कश्यपय । तरहवां निरुक्तकार यास्क स्वयं हैं । चौदहवां जैन था, यह अभी ज्ञात नहीं हो सका । संभव है, वह शाकपूणि का पुत्र हो । इसका उल्लेख निरुक्त १३।११॥ में मिलता है । इससे भी अधिक संभव है कि वह कौरसज्य हो । इसका निरुक्त-निघण्टु आचर्यण परिशिष्टों में से एक है ।

प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना निघण्टु आप बनाया

हमारी प्रतिज्ञा है कि इन चौदह निरुक्तकारों में से प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना अपना निघण्टु आप बनाया था । उसी निघण्टु पर उसने निरुक्तरूपी व्याख्या लिखी । इस प्रतिज्ञा के साथ के हेतु और उदाहरण शाकपूणि और यास्क के निरुक्त और निघण्टुओं के वर्णन के समय आगे मिलेंगे । यहाँ हम सामान्यरूप से उन शब्दों का उल्लेख करेंगे, जो विलुप्त निघण्टु ग्रन्थों के भाग थे । ये शब्द यास्क्रीय निरुक्त, महाभाष्य और अनेक वैदिक भाष्यों में पाए जाते हैं ।

यास्कीय निरुक्त में विलुप्त निघण्टुओं से प्रमाण

नैरहों की धेणी में यास्क सबसे अन्तिम है। उसने उस सारी सामग्री से काम लिया है, जो उसके पूर्वज उसके लिए छोड़ गए थे। निघण्टु ग्रन्थों से प्रमाण उद्धृत करते समय यास्क अभीष्ट वैदिक शब्द के निघण्टु प्रदर्शित अर्थ के साथ नाम और क्रिया के धातु से कर्मा पद का प्रयोग करता है। जैसे—

यच्चिरिति रूपनाम । निरुक्त २।६॥

अग्र इति रूपनाम । निरुक्त ३।७॥

बृहृकमित्युदकनाम । निरुक्त २।२२ ॥

ये तीनों शब्द निघण्टु ३।७॥ और १।१२॥ में क्रमशः इन्हीं अर्थों में पड़े गए हैं। इसी प्रकार—

मंहतेर्दानकर्मणः । निरुक्त १।७॥

दाशतेः...दानकर्मणः । निरुक्त १।७॥

ये दोनों प्रमाण निघण्टु ३।२-॥ में इसी अर्थ में मिलते हैं। यास्कीय निरुक्त में ठीक इसी प्रकार से पढ़े हुए अनेक ऐसे प्रमाण हैं जो इस निघण्टु में नहीं मिलते। वे प्रमाण निस्सन्देह प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों से लिए गए हैं। यथा—

मत्सर	इति	लोभनाम	२।५॥
विः	इति	राकुनिनाम	२।६॥
प्रथम	इति	मुख्यनाम	२।२२॥
सुः	इति	प्राणनाम	३।८॥
स्वस्ति	इति	अविनाशनाम	३।२१॥
रपो रिप्रम्	इति	पापनामनी	४।२१॥
रवाप्रम्	इति	क्षिप्रनाम	५।१॥
शम्भ	इति	वज्रनाम	५।२४॥
तुर	इति	यमनाम	१२।१४॥
दक्षतेः	समर्धयतिकर्मणः		१।७॥
दक्षतेः	उत्साहकर्मणः		१।७॥
हादंतः	रान्दकर्मणः		१।१॥
हादंतः	शीतीभावकर्मणः		१।६॥

दशति:	भारयतिकर्मणः	२।२॥
क्षियतः	निवासकर्मणः	२।६॥
ब्रवीते:	शब्दकर्मणः	२।२२॥

इन में से श्वाग्रम् को यास्क निघण्टु २।१०॥ में धननामों में पढ़ता है। पुनः वह इसी शब्द को निघण्टु ४।२॥ में पढ़ता है। उस की व्याख्या निरुक्त ५।३॥ में है। वही यास्क किसी प्राचीन निघण्टु का पूर्वोक्त क्षिप्रार्थ पढ़ता है। क्षियति को यास्क गतिकर्मा के अर्थ में पढ़ता है०

यास्क्रीय निरुक्त में आए हुए प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के ये प्रमाण हम में दिग्दर्शनमात्र के लिए दिए हैं। हमारी सूची यहीं पर समाप्त नहीं होती।

पातञ्जल व्याकरण-महाभाष्य में लुप्त वैदिक

निघण्टु-ग्रन्थों के प्रमाण

गृणाति:	शब्दकर्मा	३।२।१४॥
प्राति:	पूरणकर्मा	३।४।३२॥
दिवे:	ऐरब्यकर्मणः	४।१।५६॥
दचे:	वृद्धिकर्मणः	४।१।५६॥

निघण्टु २।२१॥ में यास्क बार ऐरब्यकर्मा आख्यात पढ़ता है। उनमें दिव नहीं है।

• उवट के यजुर्वेदभाष्य में लुप्त०

एह	इति	अपराध नाम	४।२६॥
रेप	इति	पापनाम	५।३॥
सुका	इति	आयुधनाम	१६।६१॥
पृणिः	इति	दीप्तिनाम	१०।१०॥

इनमें से निघण्टु २।१३॥ में एहः क्रोधनामों में पढ़ा गया है। यास्क निरुक्त ४।२१॥ में रपो रिप्रम् दो पाप नाम देता है। उवट रेप का पाप नाम पढ़ता है। प्रतीत होता है किसी प्राचीन निघण्टु में पाप के ये तीनों नाम एक स्थान में ही पड़े गए थे। सुकः निघण्टु २।२०॥ में वज्रनामों में पढ़ा गया है। पृणिः पद निघण्टु १।६॥ में अहर्नामों में पढ़ा गया है। डा० स्वरूप के निघण्टु के संस्करण में इसी पद पर दो ओरों का पाठान्तर पृणिः भी

दिया गया है। उवट के पास या तो कोई पुराने निघण्टु थे, या वह किसी पुरातन भाष्य से ये प्रमाण ले रहा है।

भट्ट भास्कर के तै० सं० भाष्य में लुप्त०

हम पूर्व पृ० ११६ पर भट्टभास्करपण्डित प्राचीन निघण्टु ग्रन्थों के प्रमाण लिख चुके हैं। वे यहाँ दोहराए जाते हैं। उन के पते उसी पृष्ठ की टिप्पणियों में देखने चाहिए।

विव इति धननाम ।

ओम्, स्वाहा, स्वधा, वषट्, नम इति पञ्चमन्त्राणां नामानि ।

मतिः इति स्तुतिनाम ।

गर्तम् इति रथनाम ।

लेकतिर्वर्शनकर्मा ।

वरहचि के निघण्टुमुष्यः में लिखा है—

बहिः इति यज्ञनाम ।

ये० माधव श्रुग्भाष्य ४।१६।१२१॥ में लिखता है—

अत्क इति रूपनाम ।

अन्य वेदभाष्यों में भी इसी प्रकार से कई और प्रमाण मिलते हैं। विस्तर भय से हम उन्हें यहाँ नहीं लिखते। इस से विशात होता है कि निघण्टु ग्रन्थ संख्या में बहुत थे। इस बात को यास्क स्वयं स्वीकार करता है—

तान्यप्येके समाप्नन्ति ७।१५॥

अर्थात्—अमुक प्रकार के देवता पद भी कई आचार्य निघण्टु-ग्रन्थों में एकत्र पढ़ते हैं। यह बचन यास्क ने इसी खण्ड में दो बार पढ़ा है। इस से निश्चित होता है कि यास्क से पहले आचार्य निम्न निम्न अभिप्रायों से अपने अपने निघण्टुओं में देवता-पदों का समाप्तान कर चुके थे।

निघण्टु ग्रन्थ अनेक थे, उपलब्ध निघण्टु यास्क प्रणीत है, प्राचीन निघण्टु-ग्रन्थों का आधार प्रधानतया ब्राह्मण ग्रन्थ ही थे, इन विषयों की विवेचना इस इतिहास के भाग द्वितीय के पृ० ११२-११६ तक हो चुकी है।

इस प्रकार जब हमें अनेक निघण्टुओं के अस्तित्व का ज्ञान हो जाता है,

तो यह मानना बहुत नही कि प्रत्येक निरुक्तकार ने अपना निषण्डु आप बनाया ।

अब हम कमरा: उन मैक्को के वर्णन करेंगे जिन के नाम १० १६२ पर गिनाए गए हैं ।

(१) औपमन्यव

आचार्य औपमन्यव का मत बारह बार इस निरुक्त में उपस्थित किया गया है । एक बार वह बृहदेवता में उद्धृत है ।

१-निषण्डुः—ते निगन्तव एव सन्तो निगमनाभिषण्डव उच्यन्त इत्यौप-
मन्यवः । १।१॥

२-दण्डः—दमनात् इत्यौपमन्यवः । २।२॥

३-परपे—भास्वति इत्यौपमन्यवः । २।६॥

४-ऋषिः—स्तोमान् ददर्श इत्यौपमन्यवः । २।११॥

५-पथजनाः—वत्सरो वर्षा निषादः पथम इत्यौपमन्यवः । २।८॥

६-ऋषिः कुत्सः—हर्ता स्तोमानां इत्यौपमन्यवः । ३।११॥

७-कचः—न शब्दानुकृतिर्विद्यत इत्यौपमन्यवः । ३।१८॥

८-यज्ञः—बहुकृष्याग्नि इत्यौपमन्यवः । ३।१२॥

९-शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्दे नामनी भक्तः । कुत्सितार्थाय पूर्वं
भवति इत्यौपमन्यवः । ४।७॥

१०-अणः—विक्रान्तदर्शन इत्यौपमन्यवः । ६।३० ॥

११-विकटः—विक्रान्तगतिः इत्यौपमन्यवः । ६।३० ॥

१२-इन्द्रः—इदं दर्शनात् इत्यौपमन्यवः । ११।८॥

इन बारह स्थानों के अध्ययन से अनेक बातों का पता लगता है । प्रथम प्रमाण बताता है कि सम्भवतः औपमन्यव के निरुक्त का आरम्भ भी निषण्डु शब्द के निर्वचन से ही था, और औपमन्यव ने भी कोई निषण्डु बनाया होगा । औपमन्यव ने कोई निषण्डु बनाया था, यह अनुमान प्रमाण ६ से और भी दृढ़ हो जाता है । यास्क अपने निषण्डु ४।१॥ में शिपिविष्ट और विष्णु दो नाम पढ़ता है । वहां यह उन का अर्थ नहीं देता । औपमन्यव के निषण्डु में सम्भवतः ये दोनों शब्द विष्णु के पर्यायों में पड़े गए थे । उन्हीं के व्याख्यान

में औपमन्यव ने लिखा होगा कि पहला अर्थात् शिपिविष्ट पद निन्दावाची है।

दूसरा प्रमाण दण्ड का निर्वचन बताता है। तीसरा भी साधारण अर्थ चोतक है। चौथे और छठे से पता लगता है कि कर्ता स्तोमानाम् का अभिप्राय दृष्टा स्तोमानाम् ही है, क्योंकि ऋषि दर्शन करने से कहा ही गया है। पाँचवा प्रमाण औपमन्यव के मत में पञ्चजनाः का अर्थ बताता है। सातवाँ प्रमाण बताता है कि औपमन्यव भाषा-विज्ञान का बड़ा अग्रगण्य पण्डित था। वह जानता था कि पक्षियों के नाम उनके उच्चारण मात्र से ही नहीं बनें। आठवाँ प्रमाण साधारण है। दसवें और ग्यारहवें प्रमाण से पूरा निश्चित होता है कि औपमन्यव के निरुक्त में ऋ० १०।१२५।१॥ मन्त्र पढ़ा गया था। अन्तिम प्रमाण इन्द्र पद का निर्वचन बताता है।

गुरुत्व आपर्ट के प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों के मूचीपत्र भाग २ पृ० ५१० पर दक्षिण के किती घर में उपमन्युक्त निरुक्त का अस्तित्व बताया गया है। सम्भव है खोज करने पर यह निरुक्त मिल ही जाए।

उपमन्यु पिता का नाम है और औपमन्यव पुत्र का। निरुक्त औपमन्यवकृत ही होगा। यास्क का साक्ष्य इस विषय में अधिक प्रमाण है।

चरणव्यूह आदि ग्रन्थों में चरकों के अवान्तर विभागों में से औपमन्यवाः भी हैं। क्या उनका निरुक्तकार औपमन्यव से कोई सम्बन्ध था।

(२) औदुम्बरायण।

इस का मत निरुक्त १।१॥ में उद्धृत है। उस से इस के विषय में कुछ अधिक पता नहीं लगता।

(३) वार्ध्यायणि

हस का कवन निरुक्त १।२॥ में मिलता है—

पद् भाषयिकारा भवन्ति इति वार्ध्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणामते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यति इति। अतोऽन्ये भाषयिकारा एतेषामेव यिकारा भवन्ति इति ह स्माह।

भाष्यकार पतञ्जलि १।३।१॥ में लिखता है—

यद्भावाधिकारा इति ह स्माह भगवान् वाग्योयणिः ।
जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धते ऽपक्षीयते विनश्यति इति ।

यह विचार वाग्योयणि ने भाव शब्द की व्याख्या में किया होगा । जिस पुरुष को पतञ्जलि भगवान् कहता है, वह निस्तन्देह बड़ा महापुरुष होगा ।

(४) गार्ग्य

गार्ग्य का उल्लेख यास्क तीन बार करता है ।

(१) उपसर्गोः—उच्चावन्वाः पदार्थो भवन्ति इति गार्ग्यः १।३॥

(२) नाम—न सर्वाणि [नामानि आख्यातजानि] इति गार्ग्यः । १।१२॥

(३) उपमाः—यदतस्तत्सदृशम् इति गार्ग्यः । ३।१३॥

इन तीन स्थानों में से पहले स्थान में गार्ग्य का यह मत बताया गया है कि उपसर्ग बहुप्रकार का अपना अर्थ रखते हैं ।

दूसरे प्रमाण पर स्कन्द का भाष्य निम्नलिखित है—

न सर्वाणि इति गार्ग्यो नैरुक्तविशेषः ।

अर्थात्—सारे नाम आख्यातज नहीं हैं । दिव्य उचित आदि शब्दों के भातु ही कल्पना कठिन है ।

तीसरे प्रमाण में गार्ग्यकृत उपमा का लक्षण बताया गया है ।

नैरुक्त गार्ग्य ही सामपदपाठकार गार्ग्य था

हम पहले पृ० ११२ पर एक गार्ग्य का वर्णन कर चुके हैं । वह गार्ग्य सामपदपाठकार है । वही गार्ग्य हैं जो अपने पदपाठ में प्रत्येक उपसर्ग को पृथक् करने का पर्याप्त करता है । ऋग्वेद के पदपाठ में विप्र पद में कोई अवग्रह नहीं । साम में वि । प्रासः । ऐसा पदपाठ है । इसी प्रकार ऋग्वेद के पदपाठ में स्मृता पद में कोई अवग्रह नहीं । सामपदपाठ में स्मृ । नृता । है । निरुक्त में गार्ग्य का जो प्रथम प्रमाण दिया गया है, तदनुसार उपसर्ग अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं । सामपदपाठकार के मन में यही बात बंठी हुई प्रतीत होती है । इस से अनुमान होता है कि एक ही गार्ग्य ने निरुक्त रचा और सामपदपाठ बनाया । उसी के निरुक्त के प्रमाण यास्क ने दिए हैं ।

गार्ग्य का नाम एक बार बृहदेवता १।२६ ॥ में मिलता है । वही उस का विचार यास्क और शाकपूणि के समान ही है । एक गार्ग्य अष्टाध्यायी में तीन बार उद्धृत है । सूत्र २।३।२०॥ के महाभाष्य के देखने से यह निश्चय होता है कि यह गार्ग्य सामपदपाठकार ही होगा । अन्य दो स्थानों में उस का नाम गालव के साथ आता है ।

(५) आध्यायण

आध्यायण का मत इस निरुक्त में चार बार उद्धृत किया गया है—

- (१) अक्षि—अनक्तेः इत्याध्यायणः । १।२॥
- (२) कर्णः—अच्छतेः इत्याध्यायणः । १।२॥
- (३) नास्तया—सत्यस्य प्रणेतारी इत्याध्यायणः । ६।२॥
- (४) इन्द्रः—इदं करणात् इत्याध्यायणः । १०।२॥

इन में से पहले और दूसरे प्रमाण से निश्चित होता है कि आध्यायण के निरुक्त में ऋ० १०।७।७॥ मन्त्र पढ़ा गया था । उसी में ये दोनों शब्द हैं, जिन का उस का किया हुआ निर्वचन यास्क उद्धृत करता है । तीसरे प्रमाण में नास्तया का निर्वचन है । चौथा प्रमाण मूल निरुक्त में आध्यायण के नाम से मिलता है, परन्तु राजवाड़े-सम्पादित दुर्गभाष्य में आध्यायण के नाम से ही है ।

(६) शाकपूणि^१

जब तक जिन पांच नैरुक्तों का वर्णन हो चुका है, उन के निरुक्तों के ही प्रमाण मिलते हैं । परन्तु शाकपूणि एक ऐसा नैरुक्त है जिस के निघण्टु के भी प्रमाण मिलते हैं

शाकपूणि का निघण्टु

रुद्रन्द-महेश्वर के निरुक्तभाष्य १।२॥ में लिखा है—

दाश्वान् इति यजमाननाम शाकपूणिना पठितम् ।

अर्थात्—दाश्वान् का यजमान अर्थ शाकपूणि ने अपने निघण्टु में पड़ा है ।

१—शाकपूणि के सम्बन्ध में देखो मेरा लेख श्री पाठक-स्मारक-ग्रन्थ में ।

रुद्रस्वामी अपने आचारेदमाध्य ६।६२।३॥ में भी लिखता है—

दाभ्यान् इति यजमाननाम ।

पुनः रुद्र-महेश्वर के निरुद्धमाध्य ३।१०॥ में लिखा है—

व्याप्तिकर्माण उत्तरे धातवो दश-इत्यति । नक्षति । आद्यः ।
शाकपूणेरतिरिक्ता एते—विष्याक । विष्याव । उदय्यवाः । धिमे ।
इति व्याप्तिकर्माणः ।

यही पाठ स्वयं पाठान्तर से देवराज के निषण्डु भाष्य २।१३८॥ में मिलता है । देवराज इसे रुद्रस्वामी के नाम से उद्धृत करता है । है यह पाठ बड़ा अशुद्ध । इससे प्रतीत होता है कि शाकपूणि के निषण्डु में व्याप्तिकर्म वाले ये चार आख्यात पड़े गए थे ।

आत्मानन्द अस्य घामस्य सूक्त के मन्त्र बालीस के भाष्य में लिखता है—

उदकम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः ।

इसी का पाठान्तर है—

उदकम्-कम् इति सुखनाम इति शाकपूणिः ।

वास्कीय निषण्डु के लघुपाठ में सुखनामो में कम् नहीं पड़ा गया, परन्तु बृहत्पाठ में यह पड़ा गया है । सम्भव है आत्मानन्द के पास वास्कीय निषण्डु का लघुपाठ ही हो, बृहत्पाठ न हो, अतः उसने कम् का सुखनाम शाकपूणि के निषण्डु से दिया हो ।

शाकपूणि के निषण्डु का स्वरूप

आचार्य दुर्ग निरुद्ध ८।५॥ के भाष्य में लिखता है—

शाकपूणिस्तु पृथिवीनामभ्य एवोपक्रम्य स्वयमेव सर्वत्र
क्रमप्रयोजनमाह ।

अर्थात्—शाकपूणि के निषण्डु का आरम्भ भी पृथिवी के पर्यायों से ही था । शाकपूणि ने अपने निषण्डु में जो क्रम रखा है, उसका प्रयोजन उसने सर्वत्र बना दिया है । शाकपूणि के निषण्डु की इस वास्कीय निषण्डु से यह विशेषता थी ।

निरुद्ध-वार्तिक में लिखा है—

क्रमप्रयोजनं नामां शाकपूण्युपलक्षितम् ।

प्रकल्पयेन्न्यदपि न प्रकामवसादयेत् १

अर्थात्—नामों के क्रम का प्रयोजन जो शाकपूणि ने बताया है, वही जानना चाहिए । अन्य प्रयोजन की भी कल्पना करनी चाहिए, बुद्धि को मन्द नहीं करना चाहिए ।

इसी निषण्ड पर शाकपूणि ने अपना निरुक्त रखा ।

शाकपूणि का निरुक्त

यारुक्त अपने निरुक्त में बीस बार शाकपूणि के निरुक्त से प्रमाण देता है । एक बार वह इसे निरुक्त के परिशिष्ट में उद्धृत करता है । सात बार शाकपूणि का मत बृहदेवता में दिया गया है । तीन बार बृहदेवता में उसका रथीतर के विशेषण से स्मरण किया गया है । रथीतर शाकपूणि का ही अन्तर नाम है, इस विषय में पुराणों के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

प्रोवाच संहितास्तिष्ठः शाकपूणीरथीतरः ।

निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थं द्विजसत्तमः ॥ १

रथीतरो निरुक्तं च पुनश्चक्रे चतुर्थकम् ॥ २

संहिताप्रितयं चक्रे शाकपूणीरथीतरः ।

निरुक्तमकरोत्तु चतुर्थं मुनिस्तत्तमः ॥

क्रौंचो वैतालकिस्तद्वदलाकश्च महामतिः ।

निरुक्तकृत्युर्थोऽभूद् वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ४

अर्थात्—शाकपूणि रथीतर ने तीन ऋक्—संहिताओं का प्रवचन किया और फिर चौथा निरुक्त बनाया । रथीतर ने चौथा निरुक्त बनाया ।

अन्तिम श्लोक का पूर्वार्ध बड़ा अष्ट प्रतीत हो ॥ है । क्या उसका निम्नलिखित पाठ हो सकता है—

१—दुर्ग ने निरुक्त = १५॥ में यह वचन उद्धृत किया है ।

२—महाण्ड पूर्वभाग १४।१॥ वायु १०।१५॥

३—वायु ११।२॥

४—विष्णु ३।४।२३, २४॥

कौटुकिरथ तैट्ठीकिर्गालवश्च महामतिः ।

इन श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शाकपूणि का ही अपर नाम रघीतर था ।

यास्क अपने निरुक्त में शाकपूणि के निरुक्त से निम्नलिखित प्रमाण देता है—

- १—तद्विद्—विद्युत्तद्विद्भवति इति शाकपूणिः । ३।११४
- २—महान्—मानेनाग्यान् जहाति इति शाकपूणिः । ३।१३॥
- ३—ऋत्विक्—ऋग्यजुर्भवति इति शाकपूणिः । ३।१६॥
- ४—शिताम्—योनिः शिताम् इति शाकपूणिः । ४।१॥
- ५—विदधे नवे दुपदे अर्भके—कव्ययोरधिष्ठानप्रवचनानि सप्तम्या एकवचनानि इति शाकपूणिः । ४।१५॥
- ६—ऋ० १०।८३।३॥ ऋ० ६।१०७।६॥
 ऋ० १०।१८५।४॥—सर्वे क्षियतिनिगमा इति शाकपूणिः । ५।३॥
- ७—अप्सरः—स्पष्टं दर्शनाय इति शाकपूणिः । ५।१३॥
- ८—अन्धामेराणुम् इति शाकपूणिः । ५।२८॥
- ९—अग्निः—त्रिभ्य आकृयतेभ्यो जायत इति शाकपूणिः । ७।१४॥
- १०-११—त्रेधा—तृयिष्यामन्तरिक्षे दिव इति शाकपूणिः । ७।२८॥
 १२।१६॥
- १२—दविणोदाः—अयमेवाग्निर्दविणोदा इति शाकपूणिः । ८।३॥
- १३—इध्मः—अग्निः इति शाकपूणिः । ८।२॥
- १४—तनूनपात्—, , , ॥८॥५॥
- १५—नरासंसः—, , , ॥८॥६॥
- १६—द्वारः —, , , ॥८॥१०॥
- १७—त्वष्टा —, , , ॥८॥१४॥
- १८—वनस्पतिः—, , , ॥८॥१७॥

१—यह शब्द ऋग्वेद में दो बार आया है । शाकपूणि का व्याख्यान क० १।२३।६॥ पर होगा ।

१६—वनरिपतिः अग्निः इति शाकपूणिः । ॥११॥

२०—यदेव विद्वत्सिद्धम् इति शाकपूणिः । १२।४०॥

२१—अक्षरम्—ओमित्तेया वाग् इति शाकपूणिः । १३।१०॥

संख्या १३—१६ तक जो पद हैं, उनके देखने से पता लगता है कि शाकपूणि के निषण्ड के दैवतकाण्ड में ये सब शब्द पड़े गए थे।

बृहदेवता में शाकपूणि

१—जातवेदस्येति सूक्तसहस्रमेक

येन्द्रात्पूर्वं करयपार्यं वदन्ति ।

जातवेदसे सूक्तमाद्यं तु तेषाम्

एकभूयस्त्वं मन्यते शाकपूणिः ॥३।२३०॥

२—संप्रवाद् रोमशयेन्द्राक्षोर

एते ऋचौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ३।२५५॥

३—युनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने

सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः ॥ ४।=॥

४—इक्ष्वापतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालयः ॥५।३६॥

५—महानैन्द्रं प्रलवत्थामग्निं वैश्वानरं स्तुतम् ।

मन्यते शाकपूणिस्तु भार्गव्यश्चैव मुद्रलः ॥ ६।४६॥

६—ऋत्विजो यजमाने च शाकपूणिस्तु मन्यते । ७।७०॥

७—मुद्रलः शाकपूणिश्च आचार्यः शाकटायनः ॥६०॥

त्रिस्थानाधिष्ठितां धाचं मन्यन्ते प्रत्यूचं स्तुताम् । ॥६१॥

बृहदेवता में रथीतर नाम से शाकपूणि का स्मरण

८—तत्प्रत्न्याहुः कतिभ्यस्तु कर्मभ्यो नाम जायते ।

सत्त्वानां वैदिकानां वा यद्वा अन्यदिह किञ्चन ॥२३॥

चतुर्भ्य इति तत्राहुर्यास्कगार्ग्यरथीतराः ।

आशिषोऽधार्थैरुप्याद् वाचः कर्मण एव च ॥१।२६॥

९—एकादश्या तु नासरथौ द्वादश्याग्निमिमं पुनः ।

पृथक्पृथक्स्तुतीद् तु सूक्तमाह रथीतरः ॥३।४०॥

१०--आपान्तमन्युरित्यैन्द्रयां स्तुतः सोमोऽत्र दृश्यते ॥४४॥

निपातभाजं सोमं च अस्यां रथीनरोऽब्रवीत् ॥७१४४॥

अर्थात्—इई आचार्य कहते हैं कि जातवेदस् के सहस्र सूक्तों का जो इन्द्र सूक्त से पहले हैं, करिष्य ऋषि है । उन में से पहला जातवेदसे सूक्त है । शाकपूणि मानता है कि अगले अगले सूक्त में एक एक मन्त्र बढ़ता जाता है ॥११॥

शाकपूणि मानता है कि ऋ० १॥१२९॥१०॥ में इन्द्र और राजा का रोमरा के साथ संवाद है ॥१२॥

वाक्क शुनासीर को इन्द्र मानता है और शाकपूणि इन को सूर्य और इन्द्र मानता है ॥१३॥

ऋ० ५॥४२॥१४॥ का देवता शाकपूणि इक्ष्वाति मानता है और गालव पर्जन्यामी ॥४॥

महान् (ऋ० = १९॥) इन्द्र का सूक्त है । प्रज्ञ ऋ० ८॥१३०॥ मन्त्र में शाकपूणि और श्रुम्यथ का पुत्र सुद्रल मानते हैं कि वैश्वानर अग्नि स्तुत है ॥५॥

शाकपूणि मानता है कि चार ऋत्विज और पांचपा यजमान मही पञ्च-जन होते हैं ॥६॥

ऋ० १०॥१८१॥ के सम्बन्ध में सुद्रल, शाकपूणि और शाकटायन मानते हैं कि तीन स्थानों में विस्तृत वाक् को प्रत्येक ऋचा में स्तुति है ॥७॥

इस सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं कि वैदिक सत्तों का अधवा जो कुछ अन्य इस संसार में है, उन का नाम कितने कर्मों से उत्पन्न होता है । इस के उत्तर में यास्क, गार्ग्य और रथीतर कहते हैं कि प्रार्थना, पदार्थों की विभिन्नता, वाणी और कर्म इन कार से [नाम उत्पन्न होते हैं] ॥८॥

ऋ० ११२५॥११॥ में नास्त्यो की और बारहवीं ऋचा से पुनः अग्नि की स्तुति है । रथीतर कहता है कि इस सूक्त में पृथक् पृथक् स्तुति है । १॥

ऋ० १०॥८६॥२॥ इन्द्र की ऋचा में सोम स्तुत हुआ हुआ दिखाई देता है । रथीतर ने कहा था कि इस ऋचा में सोम निपातभाक् है ॥१०॥

स्कान्द ऋग्भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण

स्कन्दस्वामी अपने ऋग्वेदभाष्य ६॥६१॥२॥ में लिखता है—

तथा च शाकपूषिना नद्यभिधायिनः सरस्वतीशब्दस्य परि-
गणने—अथैषा नदी । चत्वार एव तस्या निगदा भवन्ति —

हयद्वयां मानुष आपयायां सरस्वत्यां रेवदमे दिदीहि ।^१

चित्र इन्द्राजा राजका इन्द्वके यके सरस्वतीमनु ।^२

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति ।^३

सरस्वती सरयुः सिन्धुर्गर्मिभिः ।^४

पञ्चममध्युदाहरति—अभ्यतमे नदीतमे ।^५ इति

अत्रायं न पठः परिगणित इति ॥

अर्थात्—[वेद में सरस्वती शब्द देवता अर्थ और नदी अर्थ में आया है ।] इनमें से नदी वाची सरस्वती शब्द के प्रसङ्ग में शाकपूषि ने लिखा है—

चार ही उसके मन्त्र हैं । पाँचवां भी उस ने उद्धृत किया है । यहाँ यह ६।१।२॥ छूटा नहीं गिरा ।

चार ही कह कर शाकपूषि ने पाँचवां मन्त्र इस अर्थ में कैसे पढ़ा, यह हमारी समझ में नहीं आया ।

इस सम्बन्ध में बृहदेवता अध्याय २ के निम्नलिखित श्लोक देखने योग्य हैं—

सरस्वतीति द्विविधम् ऋक्षु सर्वासु सा स्तुता ॥१३५॥

नदीयदेवतावच्च तत्राचार्यस्तु शौनकः ।

नदीयन्निगमाः पद ते सप्तमो नेत्युवाच ह ॥१३६॥

अग्न्येका च हयद्वयां चित्र इमं सरस्वती ।

इयं शुष्मेभिरित्येतं मेने यास्कस्तु सप्तमम् ॥१३७॥

अर्थात्—सब ऋचाओं में सरस्वती दो प्रकार से स्तुत है, नदीयत् और

१—अ० २।२।४॥

२—अ० २।१।२॥

३—अ० १०।७।५॥

४—अ० १०।६।६॥

५—अ० २।४।१६॥

६—इस पाठ के लिए मैकडानल्ल के संस्करण की टिप्पणी देखो ।

देवतावत् । इस विषय में आचार्य रौनक कहता है कि नदीवत् के श्रुः मन्त्र है । सतवा नदी है । ये मन्त्र है ऋ० २।४१।१६॥ ७।६४।२॥ २।२२।४॥ ८।२१।१८॥ १०।७५।७॥ १०।६४।६॥ यास्क ६।६१।२॥ को सतवा नदी स्तुति का मन्त्र मानता है ।

शाकपूणि ७।६४।२॥ को नदी स्तुति नहीं मानता ।

यास्कौद्धृत ६।६१।२॥ मन्त्र में नदी स्तुति है, इस पर बृहदेकता-कार एक आपत्ति उठाता है । उस का विस्तृत उल्लेख दुर्ग निरुक्तभाष्य २।२४॥ में करता है । स्कन्द-महेश्वर भी निरुक्त भाष्य में इस का समाधान करता है । यह सब वही यही देवता चाहिए ।

शाकपूणि, रौनक और यास्क में इस विषय पर कितना कम भेद है ?

आत्मानन्द के भाष्य में शाकपूणि का प्रमाण

हम पहले पृ० ५१ पर लिख चुके हैं कि ऋ० १।१६४।१४ के भाष्य में आत्मानन्द लिखता है—

चक्रं जगच्चक्रं भ्रमतीति वा चरतीति वा करोतीति वा चक्रम्
इति शाकपूणिः ।

यह शब्द शाकपूणि के निरुक्त का प्रमाण है ।

शाकपूणि का काल

जो प्रमाण ब्रह्माण्डादि पुराणों से पहले पृ० १७१ पर दिए जा चुके हैं, उनसे यह सात होता है कि शाकपूणि पदकार शाक्य के काल के आसपास का ही है । शास्त्रप्रवर्तक होने से भी यह महाभारत के काल के समीप ही हुआ होगा ।

स्कन्दस्वामी निरुक्त २।२॥ के भाष्य में लिखता है—

एवमर्थे पुराकल्पं पठन्ति—शाकपूणिः सकृद्व्याञ्चके ।

अर्थात्—स्कन्द समझता है कि शाकपूणि का इतिहास यास्क के काल में पुराकल्प हो चुका था । शाकपूणि का पुत्र राभीतर नाम से बृहदेकता २।२४२॥ आदि में उद्धृत है । शाकपूणि का पुत्र निरुक्त १२।११॥ में भी उद्धृत है । यास्क से उसका १०० वर्ष से कम का अन्तर नहीं होगा ।

शाकपूणि का एक और ग्रन्थ

हम आगे यास्क के वर्णन में लिखेंगे कि यास्क ने निरुक्त के अतिरिक्त

एक बाहुय सर्वात्मकमणी भी लिखी थी। इसी प्रकार यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि शाकपूणि ने भी निरुक्त के सिवा कोई दूसरा ग्रन्थ लिखा हो—

भट्टभास्कर तै० सं० दशध्याय के भाष्य में लिखता है—

द्वितीयादिनवान्तेष्वनुवाकेषु नमस्कारादिनमस्कारान्तमेकं यजुरिति शाकपूणिः ।

अर्थात्—तैत्तिरीय संहिता दशध्याय के दूसरे से नवम अनुवाक तक नमः से लेकर नमः तक एक ही यजुः है, ऐसा शाकपूणि मानता है। शाकपूणि ने यह बात निरुक्त में नहीं लिखी होगी क्योंकि इससे आगे जो यास्क का मत है, वह उसके निरुक्त में नहीं है। तो क्या शाकपूणि ने कोई और ग्रन्थ भी रचा था और उसका सम्बन्ध तैत्तिरीय संहिता से था।

आत्मानन्द अपने अस्य वामस्य सूक्त के भाष्य में शाकपूणि के निरुक्त का कई बार स्मरण करता है। उसके लेख से प्रतीत होता है कि उसके पास यह निरुक्त था। आत्मानन्द बहुत प्राचीन ग्रन्थकार नहीं है। इस लिए यदि उसके पास शाकपूणि का निरुक्त था, तो अब भी इसके मिलने की बड़ी सम्भावना हो सकती है।

(७) और्णवाभ

यास्क अपने निरुक्त में पाँच बार आचार्य और्णवान का स्मरण करता है। गृहदेवताकार उसे एक बार उद्धृत करता है।

- (१) उर्वा—इणोतेः इत्यौर्णवाभः । २।२६॥
- (२) नासत्यौ—सत्यावेव नासत्यौ इत्यौर्णवाभः । ६।१२॥
- (३) होता—जुहोतेहांता इत्यौर्णवाभः । ७।१५॥
- (४) अश्विनौ—अश्वैरश्विनौ इत्यौर्णवाभः । १२।१॥
- (५) त्रिधा—समारोहणे विष्णुपदे गवशिरसि इत्यौर्णवाभः । १२।१॥

इनमें से पहले चार प्रमाणों में निर्दिष्ट मात्र है। पाँचवें में यह बताया गया है कि वे तीन स्थान कौन से हैं, जहाँ विष्णु पाद रखता है। समारोहण आदि तीनों पदों का अर्थ विचारना चाहिए। दुर्ग और स्कन्द ने इनका अर्थ

उद्यगिरि मन्दिन-अन्तरिक्ष, और अस्तगिरि किया है। यह कहाँ तक सत्य है, यह भी दृष्टव्य है।

गृहदेवता में श्रीर्णवाभ का मत इस प्रकार है—

श्रीर्णवामो ह्रुचे त्वस्मिन्नभ्यिनौ मन्यते स्तुतो ॥७१२५॥

श्रीर्णवाभ का मत है कि ऋ० १०।८५। १८, १९ ॥ में अश्विनियों की स्तुति की गई है ॥

(=) तैटीकि .

तैटीकि का मत निरुक्त में दो स्थानों पर मिलता है।

१—शिताम—शितामतो वरुत इति तैटीकिः । ४।३॥

२—शीरिटं-तैटीकिरन्तरिक्षमेवमाह । ५।२७॥

इन में से दूसरा प्रमाण दुर्ग के भाष्य में नहीं है। निरुक्त के लघुपाठ में भी यह नहीं है।

(६) गालव

गालव का मत एक बार निरुक्त में और बार बार गृहदेवता में उद्धृत किया गया है।

१—शिताम—शिताम शितिमांसतो मेवस्त इति-गालवः । ४।१॥

अर्थात्—शिताम का अर्थ है श्वेत मांसमेद। अतः शितामतः का अर्थ हुआ भेद से। यह गालव मानता है।

गृहदेवता में गालव का मत

१—नवभ्य इति नैरुक्ताः पुराणाः कवयश्च ये ।

मधुकः श्वेतकेतुश्च गालवश्चैव मन्यते । १।२४।

२—इत्यस्पतिं शाकपूणिः पर्जन्याग्नी तु गालवः ॥५।३॥

३—पौष्णीं प्रति प्रगाथी द्वौ मन्यते शाकटायनः ।

ऐन्द्रमेवाथ पूर्वं तु गालवः पौष्णमुत्तरम् ॥ ६।३३॥

४—सावित्रमेके मन्यन्ते महो अग्ने स्तवं परम् ।

आचार्याः शौनको यास्को गालवश्चोत्तमामृचम् ॥ ७।३८

अर्थात्—नौ बातों से [नाम होता है]। यह नैरुक्त और मधुक, स्वेत-
केतु और गालव पुराने कवि मानते हैं ॥१॥

बृहदेवताकार की दृष्टि में ये तीनों पुराने कवि थे ।

ऋ० ५।४२।१४॥ का देवता शाकपूणि इत्यस्वति मानता है और गालव
पर्वज्यामी ॥२॥

ऋ० ८४।१५-१८॥ प्रगाथ ऋचा पूष की हैं, यह शाकटायन मानता
है । गालव मानता है कि १५, १६ इन्द्र की हैं और १७, १८ पूष की ।

ऋ० १०।३६।१२-१४॥ तक कई सविता की स्तुति मानते हैं । और
शौनक, बार्ह और गालव अन्तिम ऋचा को ही ऐसा मानते हैं ॥४॥

गालव-प्रोक्त एक गालव-ब्राह्मण का उल्लेख हम इस इतिहास के दूसरे
भाग के पृ० ३० पर कर चुके हैं । बृहदेवताकार के इस वचन से कि गालव
पुराने ऋषियों में से था । यह अनुमान होता है कि बृहदेवता और निरुक्त में
उद्धृत हुआ हुआ गालव यह ब्राह्मण प्रकृत गालव ही होगा ।

महाभारत शान्तिपर्व में भी एक गालव का उल्लेख है । यदि वह यही
गालव है, तो इतना निश्चित हो सकता है कि उस का गोत्र बाभ्रव्य था, और
उसी ने ऋग्वेद का क्रमपाठ और एक शिक्षा बनाई ।

पाञ्चालेन क्रमः प्राप्तस्तस्माद्भूतात् सनातनात् ।

बाभ्रव्यगोत्रः स बभौ प्रथमं क्रमपारगः ॥१०३॥

नारायणाद्वरं लब्ध्वा प्राप्य योगमनुत्तमम् ।

क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः ॥१०४॥^१

अर्थात्—गालव पाञ्चाल देश निवासी था । उस का गोत्र बाभ्रव्य
था । वह पहला क्रमपारग था । उस ने [ऋग्वेद का] क्रमपाठ बना कर शिक्षा
रखी ।

पाणिनीयाष्टक में एक गालव का बार बार स्मरण किया गया है ।^२

ऋक्प्रतिशाख्य १।१।६५॥ में लिखा है कि—

१— महाभारत नीलकण्ठीकासहित, शान्तिपर्व अध्याय ३४२

२— ६।३।६१॥ ७।१।७४॥ ७।३।६६॥ ८।४।६७॥

इति प्र वाङ्मय उवाच च क्रमम् ।

अर्थात्—वाङ्मय ने क्रमपाठ बनाया । इस वचन के भाव्य में उवट लिखता है—

बभ्रुपुत्रः भगवान् पञ्चालः [पाञ्चालः ?] ।

महाभारत के लेख से ज्ञात होता है कि गालव का गोत्र वाङ्मय था । बभ्रुपुत्र होने से वह वाङ्मय नहीं कहलाया । उवट का कथन विश्वरूपीय है ।

(१०) स्थौलाष्टीवि

यह आचार्य दो बार निरुक्त में उद्धृत किया गया है ।

१—अग्निः—अक्तोमो भवति इति स्थौलाष्टीविः । ७ । १४ ।

२—वायुः—एतेः इति स्थौलाष्टीविः । १० । १ ॥

अर्थात्—रक्षा करने या मुखा देने से अग्नि नाम है । इस आचार्य के अनुसार अ नकार के अर्थ में है अर्थात् जो गीला न करे । स्थौलाष्टीवि के अनुसार इस वातु से वायु शब्द का निर्वचन किया गया है । इस प्रकार वायु में च अन-र्यक है ।

(११) कौण्डकि

आचार्य कौण्डकि एक बार निरुक्त में और एक बार बृहदेकता में उद्धृत है । निरुक्त में लिखा है—

तरको द्रविणोदाः । इन्द्र इति कौण्डकिः ॥ ८ । २ ॥

अर्थात्—इन्द्र ही द्रविणोदा है ।

बृहदेकता ४।१३७॥ में लिखा है—

सोमप्रधानामेतां तु कौण्डकिर्मन्वते स्तुतिम् ।

अर्थात्—श्रु० ४।२८॥ में यह स्तुति प्रधानता से सोम की है, ऐसा कौण्डकि मानता है ।

(१२) कारथक्य

आचार्य कारथक्य का नाम सात बार इस निरुक्त में स्मरण किया गया है ।

- १—इध्मः—यज्ञेध्म इति कात्थक्यः । ८।५॥
- २—तनूनपात्—आज्यम् इति कात्थक्यः । ८।५॥
- ३—नराशंसः—यज्ञ इति कात्थक्यः । ८।६॥
- ४—द्वारः—यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्यः । ८।१७॥
- ५—यनस्पतिः—यूप इति कात्थक्यः । ८।१०॥
- ६—देवी जोष्ठी—सस्यं च समा च इति कात्थक्यः । ८।४१॥
- ७—देवी ऊर्जाहुती— , इति कात्थक्यः । ८।४२॥

कात्थक्य के इन सात प्रमाणों को देख कर एक बात सहसा मुख से निकलती है कि यह आचार्य नैरुह होता हुआ भी कोई बड़ा भारी याज्ञिक था । वह इन सात शब्दों का यज्ञ वा तत्सम्बन्धी अर्थ ही करता है ।

कात्थक्य का गृहदेवता अध्याय १ में एक बार उल्लेख आया है—

पराधतस्यो यजेति इन्द्रोऽलूखल्यो स्तुतिः ।

मन्येते यास्ककात्थक्याविन्द्रस्येति तु भागुरिः ॥१०॥

अर्थात्—ऋ० १।२८।१-४॥ इन्द्र और उलूखल की स्तुति है । ऐसा यास्क और कात्थक्य का मत है । परन्तु भागुरि इन्द्र की ही स्तुति मानता है । इस विषय में यास्क और कात्थक्य का समान मत है । यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि उलूखल भी यज्ञ का ही पदार्थ है ।

(१३) यास्क

अब हम एक ऐसे नैरुह का इतिहास लिखते हैं, जिस के विषय में कई बातें मुनिधितरुप से ज्ञात हैं, जिस का ग्रन्थ भी अब तक विद्यमान है और जिस के ग्रन्थ के भाष्य भी उपलब्ध हैं । प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या यास्क ने भी अपना निषण्ड आप वनाया था ? हमारा मत है कि हाँ, प्रस्तुत निषण्ड यास्क प्रणीत है । परन्तु दुर्गप्रवृत्ति विद्वानों का मत है कि प्रस्तुत निषण्ड यास्क से बहुत पहले होने वाले ऋषियों की कृति है ।

निषण्डकार के विषय में दुर्ग का पूर्वपक्ष

निषण्ड यास्क-प्रणीत नहीं, प्रस्तुत प्राचीन ऋषियों का रचा हुआ है, इस विषय में अपने निरुहभाष्य की भूमिका में दुर्ग लिखता है—

(१) तस्यैवा गवाद्या देवपत्न्यन्ता यश्चाध्यायी सूत्रसंग्रहः ।
सा च पुनरियं साक्षात्कृतधर्मभ्यो महर्षिभ्य उपदेशेन मन्त्रार्थमुप-
श्रुत्य श्रुतर्षिभिरवरणशक्तिर्दीर्घव्यमवेदय तदनुजिघृक्षया याक्पार्थ-
सामर्थ्यादभिधेयानुष्ठीयोष्ठीय मन्त्रार्थावबोधाय ह्यन्दोभ्यः समा-
हृत्य समाहृत्य समाज्ञाता ।

उसी निरुक्त का गी से आरम्भ करके देवग्री के अन्त तक पांच अध्यायों में सूत्रसंग्रह है । उस पञ्चाध्यायी निघण्टु का संग्रह श्रुतर्षियों ने किया ।

पुनः वह १।१०॥ के भाष्य में लिखता है—

(२) ते..... इमं ग्रन्थं गवादिदेवपत्न्यन्तं समाज्ञातवन्तः ।

अर्थात्—उन्हीं ऋषियों ने इस निघण्टु का समाज्ञान किया ।

आगे चल कर वह फिर निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है—

(३) एतस्मिन् मन्त्रे 'अकूपारस्य दावने' इत्ययमनयोः यदयो-
रनुक्रमः । समाज्ञाये पुनः 'दावने अकूपारस्य' इति मन्त्रपाठव्यति-
क्रमेणानुक्रमः । तेन ज्ञायतेऽन्यैरेवायमृषिभिः समाज्ञायः समाज्ञातो
ऽन्य एव चायं भाष्यकार इति । एको हि समाज्ञानं भाष्यं च कुर्वन्
प्रयोजनस्याभावादेकमन्त्रगतयोः पाठानुक्रमं नाभिव्यपत् ।

अर्थात्—श्रु० ४।१८॥ मन्त्र में अकूपारस्य दावने ऐसा पदों का क्रम है । निघण्टु में दावने अकूपारस्य यह मन्त्रपाठ के विपरीत अनुक्रम है । इससे ज्ञात होता है कि दूसरे ऋषियों ने यह समाज्ञाप बनाया है और यह भाष्यकार यास्क दूसरा है । एक ही निघण्टु और निरुक्त को बनाता हुआ बिना प्रयोजन मन्त्रगतपाठ के अनुक्रम को न तोड़ता ।

निरुक्त ५।१५॥ के भाष्य में दुर्ग लिखता है—

(४) वाजगन्धर्वम् इत्येतदपि यस्मैकस्मिन्नेव निगमे
निरुक्तम् । केवलं समाज्ञायानुक्रमविपर्ययासः । वाजपत्यम् ।
वाजगन्धर्वम् । इत्येव समाज्ञायानुक्रमः । निगमे पुनः अश्वाम-
वाजगन्धर्वं सनेम वाजपत्यम् इति ।

अर्थात्—श्रु० ५।१५॥ में दो पदों का और क्रम है और निघण्टु में और क्रम है ।

स्कन्दस्यामी का पूर्वपक्ष

समाज्ञायः समाज्ञातः पर भाष्य करते हुए स्कन्द-महेश्वर लिखता है—

(१) समाज्ञायश्चक्षेत्रात्र गयादिदेवपत्न्यगतः शुश्रूषमूढ उच्यते न वेदः । समाज्ञातः सम्भूयाभिमुख्येनाज्ञातोऽभ्यस्तः । प्रन्थीकृत्य पूर्वाचार्यैः पठित इत्यर्थः ।

अर्थात्—यह निषण्ण समाज्ञाय प्राचीन आचार्यों ने एकत्र किया था ।

रोय का पूर्वपक्ष

यास्कीय निरुक्त के प्रथम सभादक जर्मनेदेशोत्पन्न रोय पण्डित ने अपने निरुक्त की भूमिका में लिखा था—

Moreover, of the two remaining books which stand unquestioned in Indian literary history as evidences of Yaska's learning, his authorship of one, *Nighantu*..... must be denied and the only wonder is that this was not sooner recognised.

अर्थात्—यद्यपि भारतीय कल्मस के इतिहास में यह निर्विवाद है कि यास्क ने ही निरुक्त और निषण्ण बनाए, तथापि यास्क ने निषण्ण बनाया, यह नहीं माना जा सकता ।

इस से अगले वह उन प्रमाणों में से कुछ प्रमाण देता है, जो दुर्ग ने दिए हैं ।

सत्यव्रत सामधमी का पूर्वपक्ष

सत्यव्रत सामधमी ने अपने निरुक्तलोचन में लिखा है कि यास्क निषण्ण कर्ता नहीं है । सत्यव्रत के प्रमाण भी प्रायः यही हैं, जो दुर्ग के हैं ।

दूसरे पूर्वपक्षी

प्रो० कर्मकर का भी यही मत है कि प्रस्तुत निषण्ण यास्क की कृति नहीं है ।^१ दुर्ग की युक्तियाँ दे कर वे अपनी बात को सिद्ध करने के लिए कई और हेतु देते हैं । उन हेतुओं में से दो नीचे लिखे जाते हैं—

1—The authorship of Nighantu, Proceedings and transactions of the first Oriental Conference Poona, 1922, pp, 62--67,

(१) The निघण्टु includes तद्धित् under अन्तिकनामानि^१ and also under वधकर्माणः^२ Following the निघण्टु Yaska remarks तद्धित्स्त्वन्तिद्वययोः संसृष्टकर्म ताडयतीति सतः But after giving साकपूणि's view that तद्धित् means विदुत्, Yaska remarks that the meaning अन्तिक also would suit the passage दूरे चित् सन्तद्धित्वातिरोचसं.....Yaska seems to regard अन्तिक as the proper meaning of तद्धित् ।

अर्थात् — यास्क तद्धित् का अन्तिक अर्थ ही समझता है । निघण्टु का अनुकरण करते हुए उस ने इस का वध अर्थ मान लिया है । यदि वह स्वयं निघण्टु ब्रगाता तो वध अर्थ में इसे न पढ़ता ।

(4) Seven roots are given under nouns व्याप्तिकर्माणः by the *Nighantū*. The list includes two nouns आद्याणः आद्यानः as Yaska himself remarks—

तत्र द्वे नामनी आद्याण आधुक्कन आद्यान आद्रवानः

Apparently the *Nighantukara* mistook these two for roots and Yaska draws our attention to the discrepancy.

अर्थात् — निघण्टु में सात व्याप्तिकर्मा धातु पढ़े गए हैं । इस गण में दो नाम हैं । यास्क स्वयं इन्हें नाम मानता है । यह स्पष्ट है कि निघण्टुकार ने भूल से इन्हें धातु समझा । यास्क ने उस भूल की ओर संकेत किया है ।

इसी प्रकार के अन्य हेतु भी उन्होंने दिए हैं ।

प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा का भी यही मत है कि निघण्टु यास्ककृत नहीं है, प्रत्युत कश्यप प्रजापति का है । प्रमाणार्थ उन्होंने महाभारत के निम्नलिखित श्लोक दिए हैं । यही श्लोक सबसे पहले सत्यव्रतसामथमी ने इसी अभिप्राय से लिखे थे । तदनन्तर पं० राजाराम ने भी अपनी निरुक्त भाषा-भाष्य की भूमिका में यही श्लोक उद्धृत किए थे ।

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।

निघण्टुकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ॥

कर्पिर्धराहः श्रेष्ठश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।

तस्माद् वृषाकर्पि प्राह करयपो मां प्रजापतिः ॥

अर्थात्—करयप प्रजापति ने निघण्टु में जो वृषाकर्पि पद पड़ा है, उसका अर्थ श्रेष्ठ धर्म है ।

प्रो० श्रीपदकृष्ण बेलवेकर का भी यही मत है । वे लिखते हैं—

The fourth Adhyaya of the lists of Vedio words called Nighantus, upon which Yaska wrote his commentary called the Nirukta, is styled the *Aikapadika*, because in it are listed together 278 single words of unknown or doubtful meaning and derivation as put together by some ancient but anonymous author or authors.¹

अर्थात्—निघण्टु के शुरुं या ऐकपदिक अध्याय में २७८ पद हैं । यह पद किसी एक या अनेक प्राचीन आचार्यों ने संदिग्धार्थ समझ कर एकत्र किए हैं ।

हमारा उत्तरपक्ष

पूर्वपक्ष को स्थापन करने वाले जो हेतु पहले दिए जा चुके हैं अब उन का खण्डन लिखा जाता है ।

दयानन्दसरस्वती स्वामी निघण्टु की भूमिका में जो संवत् १८११ में लिखी गई, लिखते हैं—

१—यह ग्रन्थ श्रुग्वेदी लोगों के पठितव्य दश ग्रन्थों में है । विशेष कर वेद और सामान्य से लौकिक ग्रन्थों से भी सम्यन्ध रखता है । यह मूल और इसका भाष्य निरुक्त यह दोनों ग्रन्थ यास्क मुनि जी के बनाये हैं ।

२—महिषस्तोत्र श्लोक सात की व्याख्या में मधुसूदनसरस्वती लिखता है—

एवं निघण्टुवाद्योऽपि वैदिकद्रव्यदेवतात्मकपदार्थपर्यायशब्दात्मका निरुक्तान्तर्भूता एव । तथापि निघण्टुसंग्रहः यश्चाध्यायात्मको ग्रन्थो भगवता यास्केनैव कृतः ।

अर्थात्—निषण्डु आदि निरुक्तान्तर्गत ही है। यह जो पञ्चाध्यायी निषण्डु है, वह भगवान् यास्क रचित ही है।

यास्केनैव कृतः लिखने से पता लगता है कि मधुसूदन दुर्गादि के पूर्वपक्ष का ध्यान करके ही बल देने के लिए एव शब्द का प्रयोग करता है।

१—मधुसूदन से बहुत पहले होने वाला वेङ्कटमाधव श्रु० ७।८७।४॥ की व्याख्या में लिखता है—

तत्रैकविंशतिर्नामानि काचिद् गौर्बिभर्तातिपृथिवीमाह ।
तस्या हि यास्कपठितान्येकविंशतिर्नामानि ।

अर्थात्—पृथिवी-शची गोशब्द के यास्कपठित २१ नाम हैं।

यास्कपठित कहने का यही अभिप्राय है कि गौ के ये २१ नाम यास्क ने अपने निषण्डु में पड़े हैं। अर्थात् यह निषण्डु यास्क प्रणीत ही है।

इससे निश्चित होता है कि जो परम्परा इन पूर्वोक्त आचार्यों को विदित थी, तदनुसार यास्क ही इस निषण्डु का कर्ता था। यह परम्परा दुर्ग को भी ज्ञात थी, इसी लिए उसने इसके खण्डन करने का यत्न किया। अब दुर्गोपस्थापित प्रधान-हेतुओं की परीक्षा होती है।

दुर्ग निरुक्त ४।१८॥ के भाष्य में लिखता है कि—

निषण्डु में दावने। अकूपारस्य। इस क्रम से दो पद पड़े गए हैं। इसके विपरीत निरुक्त में जो निगम है उसमें इन पदों का क्रम अकूपारस्य दावने श्रु० ५।१६।२॥ है। एक ही ग्रन्थकार निगमान्तर्गत क्रम को नहीं तोड़ सकता, अतः निषण्डु का कर्ता कोई और होगा।

अब निचारने का स्थान है कि दुर्गानुसार जिस ऋषि वा जिन ऋषियों ने वह निषण्डु बनाया था, क्या उन्हें निगमान्तर्गत क्रम का पता नहीं था। यास्क की अपेक्षा वे देशों के अधिक पण्डित थे। जो आक्षेप दुर्ग ने यास्क पर किया है, वह उनके सम्बन्ध में अधिक बल से किया जा सकता है। यदि पदों का क्रम-विपर्यास भूल ही है, तो प्राचीन ऋषियों की अधिक भूल है। देखो निषण्डु में जो अकूपारस्य पद पड़ा गया है, वह ऋग्वेद में एक ही स्थान पर आता है। वह मन्त्र है श्रु० ५।१६।२॥ अकूपारस्य के व्याख्यान

में इस मन्त्र के सिवा कोई और मन्त्र पढ़ा ही नहीं जा सकता। यास्क का अभिप्राय अकूपारस्य के निर्वचन से ही है। अतः उसने यही मन्त्र पढ़कर इस पद का निर्वचन दिखा दिया।

दाघने पद ऋग्वेद में २५ से भी अधिक बार आया है। यास्क उसका अर्थमात्र देता है। प्रतीत होता है किसी प्राचीन निषण्ड में ये दोनों पद उसी क्रम से पढ़े गए थे, जैसा इस निषण्ड में है। उस निषण्ड के कर्ता ने अपने निरुक्त में दाघने पद के व्याख्यान में कोई और निगम पढ़ा होगा। परन्तु यास्क ने निषण्ड का क्रम तो उसी से ले लिया और व्याख्या में एक ही मन्त्र पर्याप्त समझा।

यदि कोई कहे कि उन आदि ऋषियों के ध्यान में जिन्होंने यह निषण्ड बनाया था ऋग्वेद की किसी शाखा का ऐसा मन्त्र था, जिसमें पदों का क्रम दाघने अकूपारस्य होगा, तो यह भी नहीं बनता। यास्क के पास निश्चय ही वह तब सामग्री थी, जो शाखा-अवर्तक ऋषियों के पास थी। यास्क जब दशतयीषु शब्द का प्रयोग निरुक्त में करता है, तो इसका यही अभिप्राय है कि वह ऋग्वेद की दशमवडतात्मक सारी ही शाखाओं से परिचित था।

यास्क्रीय निषण्ड में सूचित। ४।११॥ तथा याजपस्त्यम् । याज-गन्धयम् ४।२॥ आदि जो पद हैं और इनका यास्कपठित ऋ० ६।२०।१॥ तथा ऋ० ६।१८।१२॥ निरुक्तस्थ निगमों से जो क्रमविपर्यास है, उसका भी ऐसा ही समाधान समझना चाहिए। वस्तुतः यास्क के मन में क्रम की इतनी प्रधानता नहीं थी, जितनी दुर्ग को अभीष्ट है।

दुर्ग की भ्रान्ति का कारण

दुर्ग की भ्रान्ति का कारण निरुक्त १।२०॥ का निम्नलिखित पाठ है—

उपदेशाय ग्लायन्तोऽथरे विलमप्रहृणायेमं ग्रन्थं समाम्रासि-

पुर्वेदं च वेदाङ्गानि च ।

इसका अर्थ करते हुए दुर्ग लिखता है—

इमं ग्रन्थं गद्यादिदेवपत्न्यन्तं समाम्रातयन्तः ।

अर्थात्—इस ग्रन्थ का जिसमें गौ से लेकर देवपत्न्यः तक शब्द हैं,

समाम्राज किया।

ऐसा व्याख्यान करते हुए दुर्ग एक बात भूल जाता है। निरुक्त के वचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिन ऋषियों ने निषण्ड बनाया, उन्हीं ऋषियों ने निरुक्तदि वेदाङ्गों का भी समाधान किया। अतः वर आदि निषण्ड पर निरुक्त भी बन चुका था। पुनः यास्क को उसका व्याख्यान करने से क्या लाभ। ऐसी अवस्था में समाधायः समाधायतः स व्याख्यातव्यः वचन का दुर्गोक्त अर्थ भी सङ्गत नहीं होता। वह समाधाय तो व्याख्यान हो चुका था, पुनः उसके व्याख्यान करने का क्या प्रयोजन।

निरुक्त १।२०॥ का सत्यार्थ

वस्तुतः निरुक्त १।२०॥ में इमं ग्रन्थं का अभिप्राय निषण्ड सामान्य से है। अर्थात् इमं ग्रन्थं का शांतक निषण्ड शब्द यहाँ जातिपाची है। और क्योंकि बहुत से निषण्ड गौ शब्द से आरम्भ हो कर देवपत्न्यः तक समाप्त होते थे, अतः किसी पुराने व्याख्यान में इमं ग्रन्थं का गवादिदेवपत्न्यन्तं अर्थ देखकर दुर्ग को भ्रम हो गया कि वस्तु इसका अभिप्राय इसी निषण्ड से है। निरुक्त ४।१८॥ की वृत्ति में दुर्ग स्वयं लिखता है कि शाकृषि के निषण्ड का आरम्भ भी गौ शब्द से था। सम्भव है उसके अन्त में देवपत्न्यः पद ही हो। इसी प्रकार अन्य निषण्ड ग्रन्थों की वार्ता भी होगी।

प्राचीन आचार्यों के निषण्ड

इस विषय पर पूर्व पृ० १६९-१६५ तक बयान पर्याप्त लिखा जा चुका है परन्तु दुर्ग के अपने शब्दों में कुछ और लिखना निम्नप्रयोजन न होगा।

१—निरुक्त के तमिमं समाधनायं की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

तं च यो ऽसमाधायतश्छन्दस्येनावस्थितो ऽगवादिस्त्र्यैर्वा
निरुक्तैः समाधायतस्तमिमं च निषण्डय इत्याचक्षतेऽन्वेऽप्याचार्या
इति वाक्यशेषः।

अर्थात्—तं शब्द का एक यह भी अभिप्राय है कि जो निषण्ड दूसरे नैरुक्तों ने एकत्र किया।

अब तनिक विचारिए कि यदि दूसरे नैरुक्त निषण्ड बना सकते थे, और हम भी इस समय ब्राह्मणों की सहायता से नए निषण्ड बना सकते हैं, तो क्या

यास्क एक निषण्डु नहीं बना सकता था ।^१ नहीं, नहीं, स्वप्न में भी ऐसा विचार करना हेय है, शीं अतिहेय है ।

२—निरुक्त ३ । १३ ॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

अन्ये पुनः.....पतानि पूर्वाचार्यप्रामाण्यादामिभ्राणि
पठयन्त इत्येवं मन्यन्ते ।

अर्थात्—निषण्डु ३ । १३ ॥ में जो कुछ नाम और कुछ व्याख्यात एकत्र पड़े गए हैं, वह पूर्ण आचार्यों के प्रमाण से पड़े गए हैं,^२ ऐसा कई निरुक्त-व्याख्याकार मानते हैं ।

दुर्ग को इस पक्ष के मानने में कोई आपत्ति नहीं ।

दुर्ग से पुराने निरुक्त व्याख्याकारों के इस वचन से, जो भाग्यवशा दुर्ग ने उद्धृत किया है, यह निश्चित हो जाता है कि इस निषण्डु से पहले कई आचार्य और निषण्डु बना चुके थे । उन्हीं की शैली देखकर इस निषण्डु के बनाने वाले ने भी नाम और व्याख्यात एक ही गण में एकत्र पड़ दिए ।

जब इस निषण्डु से पहले दूसरे निषण्डु बन चुके थे, तो निस्सन्देह यह निषण्डु प्राचीन ऋषियों की कृति न रहा । यदि यह उन्हीं प्राचीन ऋषियों की कृति होता कि जिनका निरुक्त १ । २० ॥ में उल्लेख है, तो निश्चय ही इसके विषय में यह न लिखा जाता कि इस निषण्डु में पूर्वाचार्यों के प्रमाण से नाम और व्याख्यात एकत्र पड़े गए हैं ।

३—फिर तान्यप्येके समामनन्ति ७ । ११ ॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

एके नैरुक्तास्ताभ्यपि गुणपदानि वृत्राहोमुक्प्रभृतीनि
अग्न्यादी देवतापदसमाज्ञाये पृथक्पृथक्समामनन्ति ।

अर्थात्—कई एक नैरुक्त उन गुणपदों को भी अग्नि आदि के साथ देवतापदसमाज्ञाय या निषण्डु के दैवतकाण्ड में पृथक् पृथक् एकत्र करते हैं ।

१—जुलना करो, इस इतिहास का भाग दूसरा, पृ० ११३-११६ ।

२—दावने । अक्षरारण्य । के सम्बन्ध में हमने भी यही लिखा है कि यह क्रम यास्क ने पूर्वाचार्यों का अनुकरण करते हुए रखा है । देखो पृ० १८७ ।

हमसे भी स्पष्ट विज्ञात होता है कि नैऋत लोग अपना अपना निषण्ड आप बनाते थे। फिर नैऋत वारुण ने प्रस्तुत निषण्ड बनाकर उसी पर अपना निरुक्त रखा, ऐसा मानने में क्या दोष।

अब देखिए सत्यव्रत आदि के लेख को। मधुसूदनसरस्वती को निरर्थक ही 'आन्तिगोदी वेदान्ति' लिखने वाला सत्यव्रत लिखता है—

महाभारतीये मोक्षधर्मपर्वणि 'शिपिविष्ट'-नामनिर्वचनप्रसङ्गे ये त्रयः श्लोकाः (३४२ अ० ६६, ७०, ७१ श्लो०) दृश्यन्ते, तैश्च आपते यास्ककृतमैवैतन्निरुक्तम् ।

अस्त्येव ह्यत्र निषण्डभाष्ये शिपिविष्ट-निर्वचनञ्च द्विविधम् ।
तत्रैव किञ्चिदुत्तरं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां (३४२ अ० ८६, ८७ श्लो०)
निषण्डकर्तृनाम च प्रकटितम् । तथा हि —

वृषो हि भगवान् धर्मः ख्यातो लोकेषु भारत ।

निषण्डकपदाख्याने विद्धि मां वृषमुत्तमम् ।

कपिवराहः धेष्टश्च धर्मश्च वृष उच्यते ।

तस्माद् वृषाकपि प्राह कश्यपो मां प्रजापतिः । इति

अस्त्येव ह्यत्र निषण्टी दैवतकाण्डे द्युस्थानदेवताख्यानेषु
वृषाकपिरिति ।

अर्थात्—सत्यव्रत का सारा मत इसी बात पर है कि महाभारतानुसार निषण्ड के पदों के आख्यान में कश्यप प्रजापति ने वृषाकपि शब्द पड़ा है। और क्योंकि प्रस्तुत निषण्ड के दैवतकाण्ड में वृषाकपि शब्द पड़ा हुआ मिलता है अतः यह निषण्ड प्रजापति-कश्यप प्रणीत है।

हम अभी लिख चुके हैं कि निषण्ड ग्रन्थ अनेक थे। क्या यह निश्चय से कहा जा सकता है, कि इस निषण्ड के सिवा वृषाकपि शब्द और किसी निषण्ड के दैवतकाण्ड में नहीं पड़ा गया होगा। नहीं, कदापि नहीं। निरुक्त ३।७॥ में उद्धृत औपमन्यव के वचन से पता लगता है कि औपमन्यव के अपना उससे भी पुराने किसी निषण्ड में शिपिविष्ट। विष्णु। यह दो

विष्णु के नाम पड़े गए थे। यदि यह दो नाम इतने पुराने निषण्ड में पड़े जा सकते हैं, तो श्वाकवि नाम भी पड़ा जा सकता है। इसके यही निश्चय होता है कि प्रजापति-करण ने इसे अपने निषण्ड में पड़ा होगा, और दूसरे निषण्डकार भी इसे अपने निषण्डों में पढ़ते होंगे। इतने लेखनाग्र से यह निर्णय नहीं हो सकता कि प्रस्तुत निषण्ड प्रजापति-करण प्रणीत है।

प्रो० कर्मकर का तीसरा हेतु निम्नलिखित है—

निषण्ड २।१६॥ में तडित् के दो अर्थ दिए हैं। सारक उनमें से अन्तिक को ही उचित अर्थ मानता हुआ प्रतीत होता है। यदि यह निषण्ड का भी बनाने वाला होता तो तडित् का वचार्थ न लिखता।

निषण्ड २।१६॥ के ३३ वचकर्म भातुओं में विद्यातः। आखण्डल। तडित्। ये तीन नाम पड़े गए हैं। कौरसम्प के निरुक्त-निषण्ड में भी हिंसा वाची ११ पदों में आखण्डल और तडित् दो नाम पड़े गए हैं। कौरसम्प तडित् के अन्तिक नामों में भी पड़ता है। प्रतीत होता है, प्राचीन परिपाटी के अनुसार ही सारक ने भी ये नाम वचकर्म भातुओं में पड़ लिए हैं। इनके वहाँ पढ़ने का अभिप्राय इनके भावार्थ की ओर निर्देश करने का है। सारक निरुक्त ३।१०॥ में इस बात का विशेष ध्यान रखकर कहता है—

ताडयतीति सतः।

अर्थात्—ताडन करने से ही तडित् नाम है। अतः तडित् का अन्तिक-नाम गोंया है। विष्णु अर्थ में भी ताडन कर्म पाया जाता है। सारक ने वचकर्म भातुओं में ताहिह आखण्ड पढ़कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है। जिस भातु से तडित् बनता है, उसी से ताहिह बनता है। अतः भातुओं में नाम पड़ कर उसके योगिक रूप का विशेष दिखाना ही प्रयोजन है।

प्रो० कर्मकर का चौथा हेतु हास्यजनक है। वे लिखते हैं कि निषण्ड में व्याप्तिकर्मा सात भातु पड़े गए हैं। उन में दो नाम हैं। निषण्डकार ने इन्हें भी भूल से भातु ही समझा था, और सारक ने उस भूल को दूर किया है।

इसका अभिप्राय तो यह है कि निषण्डकार बड़ा ही मूर्ख था। वह इतना भी नहीं जान सका कि नाम और आखण्ड में क्या भेद है। यह निषण्ड-

कार की अच्छी स्तुति है। क्या यास्क को भाव्य करने के लिए ऐसे ही निकट निषण्णकार का ग्रन्थ मिला था।

इन नामों के धनुषों में पकने का भी वस्तुतः वही प्रयोजन है, जो पहले कहा गया है।

सत्यवतसामधर्मी के दिए हुए महाभारत के श्लोकों से यह निर्णय करना कठिन है कि प्रजापति करयप ने ही प्रस्तुत निषण्ण बनाया, ऐसा पूर्व विस्तृत रूप से लिखा जा चुका है। इस के खण्डन से पं० राजाराम और प्रो० सिद्धेश्वर वर्मा के विचारों का भी खण्डन जानना चाहिए।

निषण्ण के यास्क-प्रणीत होने में यास्क का प्रमाण

यदि यास्क स्वयं कह दे कि यह निषण्ण मेरी कृति है, तो इस से बड़ के इस विषय का निर्णायक और कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। भाग्यवश यास्क ने इस विषय में अपना लेख किया है। इस लेख की उपस्थिति में, दुर्ग, रोप, सत्यवत, राजाराम और कर्मकर आदि के लेख बहुत कम मूल्यवान् हैं, नहीं, उनका कोई मूल्य रहता ही नहीं। देखिए यास्क क्या लिखता है—

अथोताभिधानैः संयुज्य हविश्चोदयति—इन्द्राय वृत्रघ्ने ।
इन्द्राय वृत्रतुरे । इन्द्रायांहोमुचे । इति । तान्यप्येके समामनन्ति ।
भूयांसि तु समामानात् । यस्तु संविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति
तत्समामने । अथोत कर्मभिर्ऋषिर्देवताः स्तौति वृत्रहा । पुर-
न्दरः । इति । तान्यप्येके समामनन्ति । भूयांसि तु समा-
मानात् । ७।१३॥

अर्थात्—कई नैष्ठिक विशेषणों सहित इन्द्र आदि देवता पदों का समामान करते हैं। परन्तु फिर भी उन के समामान करने से अनेक विशेषण बच जाते हैं। परन्तु जो प्रधान स्तुतिवाला (अग्नि आदि) देवता-नाम है, उस का मैं समामान करता हूँ। कई आचार्य कर्म से प्रसिद्ध देवता-नाम निषण्ण में एकत्र पड़ते हैं। यथा वृत्रहा इत्यादि। परन्तु वे भी सब का समामान नहीं कर सके।

इसी वचन के व्याख्यान में दुर्ग लिखता है कि—

अहं तु न समामने ।

मैं उन आचार्यों जैसा समामान नहीं बनाता। यास्क ने जैसा निष्कर्ष में

लिखा है, बहुत: यंसा ही उगका यह निषण्ड है। यास्क के इस लेख से बद के इस विषय में अन्य किसी का प्रमाण नहीं हो सकता। वह स्पष्ट स्वीकार करता है कि यह समाम्नाय उसका अपना बनाया हुआ है।

अब रही बात प्रो० वेलेवेत्स्कर की। प्रो० महोदय का मत है कि निषण्ड के चतुर्थाध्याय में जो पद पड़े गए हैं, वे अज्ञात या संदिग्ध अर्थ और व्युत्पत्ति वाले हैं। संदिग्ध अर्थ वाले मानकर ही किसी या किन्हीं प्राचीन आचार्यों वा आचार्यों ने ये पद एकत्र किए थे।

निषण्ड के चतुर्थकाण्ड का क्या स्वरूप है, इस विषय में यास्क निरुक्त १।२०॥ में स्वयं लिखता है—

पतायतामर्थानामिदमभिधानम्

अर्थात्—चतुर्थकाण्ड में अनेकार्थवाची एक-एक पद पड़ा गया है।

फिर निरुक्त चतुर्थाध्याय के आरम्भ में जहाँ से उन पदों का भाष्य आरम्भ होता है, वह लिखता है—

अथ यान्यनेकार्थान्येकशब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामोऽनवगतसंस्कारांश्च निगमांस्तदैकपदिकमित्याचक्षते।

अर्थात्—अब जो अनेक अर्थों वाले एक एक शब्द हैं, उन का दशकम व्याख्यान करेंगे। और अनवगत संस्कार वाले निगम भी पढ़ेंगे। इस को ऐक-पदिक कहते हैं।

इसी निरुक्त-वचन की श्रुति के अन्त में दुर्ग लिखता है—

अनेन नाम्नाग्येऽप्याचार्या 'आचक्षते'।

अर्थात्—इस काण्ड का ऐकपदिक नाम पहले आचार्यों को भी अभिमत था।

इस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि पहले निषण्डकार भी अपने अपने ग्रन्थों में यह ऐकपदिक काण्ड पढ़ते थे, और अपने अपने निरुक्तों में उस का यही नाम रखते थे। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या उन प्राचीन आचार्यों के निषण्ड ग्रन्थों में भी इस ऐकपदिक काण्ड में यही पद पड़े जाते थे, या भिन्न भिन्न पद होते थे? हमारा विचार है कि प्रत्येक निरुक्तकार अपनी दृष्टि से

अनङ्गत्वं संस्कारं वाचो निगमस्य पदो को पदता था। इसका प्रमाण भी है।

श्वाश्रम् को यास्क निघण्टु २।१०॥ में धननामों में पदता है। पुनः वह ही शब्द को निघण्टु ४।२॥ में पदता है। इसकी व्याख्या निरुक्त ५।३॥ में है। वहाँ यास्क श्वाश्रम् इति क्षिप्रनाम यह किसी प्राचीन निघण्टु का प्रमाण देता है। इससे ज्ञात होता है कि श्वाश्रम् का धननाम पदकर भी यास्क के दृश्य में यह बात अज्ञित थी कि जैसा प्राचीन नैरुक्त पद चुके हैं, इस पद का क्षिप्रार्थ भी है। अतः उसने अनीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए यह पद चतुर्थीभाव में दोबारा पड़ा।

प्राचीन नैरुक्तों ने अपने ऐकपदिक काण्डों में ये सब शब्द नहीं पड़े थे, जिन्हें यास्क पदता है। इस निघण्टु ४।२॥ में शिषिविष्ट और विष्णु दो नाम पड़े गए हैं। इनमें से विष्णु तो पहले भी निघण्टु १।१७॥ में वसु नामों में पड़ा गया है, परन्तु शिषिविष्ट पद अन्यत्र नहीं पड़ा गया। यास्क निरुक्त ५।७॥ में बताता है कि किसी प्राचीन आचार्य ने ये दोनों पद विष्णु के नामों में पड़े थे। सम्भवतः वह आचार्य औपमन्यव था। इससे हम जान सकते हैं कि यद्यपि शिषिविष्ट का अर्थ भी यास्क से पहले ज्ञात था, परन्तु व्युत्पत्ति आदि के वर्णाने के लिए यास्क ने इसका ऐकपदिक में पाठ कर लिया। इस ऐकपदिक काण्ड में और भी ऐसे अनेक पद पड़े गए हैं, जिनका कि यास्क से पहले नैरुक्तों को निश्चित अर्थ प्रतीत था वा थे। अतः प्रो० बेल्लेक्कर का यह अनुमान कि ऐकपदिक काण्ड के सब पद संविनधार्य आदि जानकर किन्हीं प्राचीन आचार्यों ने एकत्र कर दिए, मान्य नहीं। ये पद तो यास्क ने अपनी दृष्टि से एकत्र किए हैं। वह इनका अनेकार्थ और निर्वचन अपने मत में दिखाना चाहता था। वसु इतना ही उसका अभिप्राय है।

पूर्वोक्त सारे प्रसङ्ग को आद्यन्त पढ़कर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रस्तुत निघण्टु यास्क-प्रणीत है।

निघण्टु का स्वरूप

इस निघण्टु में पाँच अध्याय और तीन काण्ड हैं। पहले तीन नैपण्डक काण्ड, चौथा नैगमकाण्ड और पाँचवाँ दैवतकाण्ड कहलें हैं। इस समय तक

जितने भी निषयद् मुद्रित हो चुके हैं, उनमें से डा० स्वर्ण का संस्करण सर्वोत्तम है। उस संस्करण के देखने से पता लगता है कि इस निषयद् के दो पाठ हो चुके हैं, एक है लघुपाठ और दूसरा बृहत्।

यह निषयद् निरुक्तान्तर्गत ही है। दुर्ग और स्कन्द आदि के भाष्यों में निरुक्त के प्रथमाध्याय की पञ्चाध्याय कहा गया है। वे निषयद् के प्रथम पांच अध्यायों से आरम्भ कर के आगे प्रति अध्याय की गणना करते हैं। तत्सम दृष्टि से देखा जाए तो यही प्रतीत होता है कि निषयद् भी निरुक्त कहलाता था। और प्रत्येक निरुक्तकार इसे रच कर आगे व्याख्यान आरम्भ करता था।

यास्कीय निरुक्त

अब हम यास्कीय निरुक्त का संक्षिप्त वर्णन करेंगे। इस निरुक्त के १२ अध्याय हैं। आजकल परिशिष्ट रूप में दो अध्याय और मिलते हैं, परन्तु पूर्व काल में इन परिशिष्टों का अधिकारा बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था। नीचे ऐसे कतिपय प्रमाण दिये जाते हैं, जिन से निर्णय हो सकता है कि ये अध्याय नवीन नहीं हैं—

१—सायण अपने ऋग्वेदभाष्य के उपोद्घात के अन्त में लिखता है—

पञ्चाध्यायरूपकारणं त्रयात्मकं पतस्मिन् ग्रन्थे परनिरपेक्ष-
तया पदार्थस्योक्तत्वात् तस्य ग्रन्थस्य निरुक्तत्वम्। तद्व्याख्यानं स
समाधायः समाग्नात् इत्यारभ्य तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभय-
त्यनुभवतीत्यन्तैर्द्वादशभिरध्यायैर्यास्को निर्ममे।

अर्थात्—इस पञ्चाध्यायी निषयद् को भी निरुक्त कहते हैं। और उस का व्याख्यान समाग्नायः समाग्नातः से आरम्भ करके तस्यास्तस्या-
स्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति १२ अध्याय तक यास्क ने बनाया।

इस वचन से एक तो यह प्रतीत होता है कि सायण निषयद् को भी यास्ककृत मानता है। दूसरे यह भी जाना जाता है कि सायणानुसार निरुक्त भी समाप्ति तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति, अनुभवति पर होती है। यह पाठ आजकल के निरुक्तों के अनुसार ११।११॥ है, परन्तु सायण के पाठ में यह बारहवें अध्याय के अन्तर्गत ही था।

ताण्ड्यब्राह्मण ४।८।१॥ के भाष्य में सायण लिखता है—

तथा च यास्कः । शुक्रातिरेके पुमान् भवति । शोणितातिरेके स्त्री भवति । द्वाभ्यां समेत नपुंसको भवति ।

यह पाठ निरुक्त १४।६॥ में मिलता है । अर्थात् यह पाठ उन पाठ से आगे है, जहाँ पर कि सायण निरुक्त की समाप्ति मानता है । ताण्ड्य भाष्य में सायण ने इसे यास्क के नाम से पड़ा है । इससे अनुमान होता है कि निरुक्त के परिशिष्ट पर जो चौदहवाँ अध्याय है, वह भी यायण के समय में विद्यमान था ।

२—शुक्ल १।१७॥ के भाष्य में उवट लिखता है—

न ह्येष प्रत्यक्षमस्त्यनुदेरतपसो वेत्युपक्रम्य भूयोविद्यः प्रशस्यो भवतीति चाभिधायाह तस्माद्यदेव किञ्चानूचानोऽभ्यूहस्यानं तद् भवतीति । अतोऽयमर्थो यो ग्रन्थ इति विद्वद्भिरादरणीयः ।

उवट ने जो पाठ यहाँ उद्धृत किया है, वह निरुक्त ११।१२॥ में मिलता है । इस से ज्ञात होता है कि निरुक्त का तेरहवाँ अध्याय उवट के समय में विद्यमान था ।

३—वरहवि अपने निरुक्त समुच्चय के आरम्भ में लिखता है—

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वर्तय्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति । शास्त्रान्ते च—यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाष्यमनुभवतीति च ।

यां यां देवतां बचन निरुक्त ११।१२॥ में मिलता है । सायण भी निरुक्त की समाप्ति यहीं मानता है । परन्तु वरहवि के मत में एक बात विचारणीय है । योऽर्थज्ञ मन्त्र निरुक्त की प्रयत्न पंक्ति नहीं । निरुक्त के आरम्भ में तो यह अवश्य है । क्या इसी प्रकार ताद्भाष्यमनुभवति निरुक्त के अन्त में होते हुए भी निरुक्त की अन्तिम पंक्ति नहीं । यह देखना चाहिए ।

४—स्कन्द-महेश्वर निरुक्त १।२०॥ के भाष्य में यां यां देवतां

१—यह सारा पाठ हमने मुम्बर, बनारस, और अपने कोरा से शोध कर दिया है । मुम्बर और बनारस के संस्करण में यह पाठ बरा समुदाय है ।

निरुक्त ११।११॥ को उद्धृत करता है। स्कन्द-महेश्वर का भाष्य निरुक्त ११।११॥ तक है।

५—ध्वज ६३० के समीप का उद्गीथ श्रु० १०।७१।५ के भाष्य में यां यां देवतां निरुक्त ११।११॥ को उद्धृत करता है।

६—उद्गीथ से बहुत पहले होने वाला दुर्गाचार्य लिखता है—

विद्यापारप्राप्त्युपायोपदेशो मन्त्रार्थनिर्धचनद्वारेण। देवता-
भिधाननिर्धचनफलं देवताताद्भाष्यमित्येव समासतो निरुक्तशास्त्र-
चिन्ताविषयः।^१

वक्ष्यति हि—यां यां देवतां निराहः।^२

वक्ष्यति हि—‘क ईपते तुज्यते कः’ इति।^३

वक्ष्यति हि—स एव महानात्मा सत्सालक्षणः.....।^४

उदाहरिष्यति च—‘अथैतं महान्तमात्मानं अधिकृत्य ‘क
ईपते तुज्यते’ इति।^५

इन पांच स्थानों में से पहले स्थान पर निरुक्त ११।१२-१३॥ को, दूसरे स्थान पर निरुक्त ११।१३॥ को, तीसरे स्थान पर पुनः निरुक्त ११।१३॥ को, चौथे स्थान पर निरुक्त १४।१॥ को और पांचवें स्थान पर निरुक्त १४।१॥ और १४।२६॥ को दुर्ग उद्धृत करता है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि दुर्ग के अनुसार निरुक्त की समाप्ति निरुक्त यां यां ११।१३॥ पर ही होती है। परन्तु उसने निरुक्त १४।२६॥ तक को यास्क की कृति माना है। सम्भव है, आजकल के परिशिष्ट के ये भाग दुर्ग के काल में यां यां से पहले हों। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि दुर्ग निरुक्त के परिशिष्टों के अधिकार को यास्क का बनाया हुआ ही मानता है। वक्ष्यति

१—निरुक्तभाष्य १।४॥

२—निरुक्तभाष्य १।२०॥

३—निरुक्तभाष्य ३।२१॥

४—निरुक्तभाष्य ७।४॥

५—निरुक्तभाष्य १०।२३॥

हि लिखने से उसका अभिप्राय यही है कि उसकी दृष्टि में सब अध्यायों का कर्ता एक ही आचार्य है।

१—दुर्गादि के भी बहुत पुराना बृहदेवताकार बृहदेवता के अष्टमाध्याय में लिखता है—

न प्रत्यक्षमनुषेरस्ति मन्त्रम् ॥ १२६ ॥

यह वचन निरुक्त १३।१२॥ के आधार पर लिखा गया है। निरुक्त का वचन निम्नलिखित है—

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनुषेरतपसो वा

बृहदेवता के अनेक वचन निरुक्त के आधार पर लिखे गए हैं। उन सबको बृहदेवता के सम्पादक परलोकगत प्रो० मैकडानल ने एकत्र किया है।^१ परन्तु मैकडानल की सूची में पूर्वोक्त स्थल का निर्देश नहीं है।

निरुक्त के तेरहवें अध्याय के वचन जब इतने पुराने ग्रन्थों में मिलते हैं, तो इस अध्याय को नया समझना बड़ी भूल है। यह अध्याय यास्क-कृत है, इसमें कोई संदेह नहीं। चौदहवां अध्याय भी दुर्ग के काल से बहुत पहले का होगा। अतः डा० स्वरूप का निम्नलिखित लेख विश्वास योग्य नहीं—

The commentary of Durgu, written before the addition of the parisistas.

अर्थात्—दुर्गमाध्य परिशिष्टों के मिलाए जाने से पहले लिखा गया था।

दुर्ग तो स्वयं परिशिष्टों को उद्धृत करता है। निषण्डुमाध्य बारह अध्यायों में ही समाप्त होता है, अतः दुर्ग लिखता है—

इयं च तस्या द्वादशाध्यायो भाष्यविस्तरः।^२

परन्तु इससे अनेक अतिस्तुतियाँ हैं। वे या तो पहले बारहवें के अन्त में होंगी या आरम्भ से ही परिशिष्ट रूप से जोड़ी गई होंगी।

परिशिष्टगत अतिस्तुतियाँ प्राचीन निरुक्तों का भी अङ्ग थीं

यास्क ने ही ये अतिस्तुतियाँ नहीं पढ़ीं। उससे पहले आचार्य भी

१—बृहदेवता पृ० १३६—१४५

२—निरुक्तभाष्य १।१॥

निरुक्त की समाप्ति पर इन्हें पढ़ते थे । इसीलिए यास्क लिखता है—

अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते ।^१

इस पर दुर्ग लिखता है—

अन्येऽप्याचार्या एवमेवेता आचक्षते कथयन्ति ।

अर्थात्—दूसरे आचार्य भी इन्हें अतिस्तुतियाँ कहते हैं ।

रुद्रन्द—महेन्द्रवर अध्याय १३ के भाष्यारम्भ में लिखता है—

यथा प्रतिज्ञातं समाज्ञायो व्याख्यातः । इदानीं पूर्वाचार्याणां
मतानुवृत्तितत्परतया अथेमा अतिस्तुतय इत्याचक्षते ।

अर्थात्—पूर्वाचार्यों के मत का अनुकरण करके ये अतिस्तुतियाँ पढ़ी
जाती हैं ।

इससे आगे यास्क लिखता है—

सोऽग्निमेव प्रथममाह . . .

इस पर दुर्ग की प्रति है—

स इति स्तोता असावाचर्येः 'अग्निमेव' अधिकृत्य प्रथममाह ।

सः के अर्थ में रुद्रन्द—महेन्द्रवर ने लिखा है—

सोऽतिस्तोता पूर्वाचार्यो वा

हम इस का वही अर्थ समझते हैं कि अतिस्तुतिियों में पहले आचार्य भी
अग्नि को प्रथम पढ़ते थे, अतः यास्क ने भी ऐसा ही किया ।

यास्कौद्धृत अन्यकार

उन शहर नेस्कों के सिवा जिन का वर्णन पहले हो चुका है, यास्क
शाकटायन, कौत्स, शाकल्य, और शाकल्यपुत्र का भी स्मरण करता है । इन
के अतिरिक्त वह अनेक वैदिक ऋषियों के नाम भी लेता है ।

आर्चाभ्याम्नाय

आदित्य शब्द पर भाष्य करते हुए निरुक्त २।१३॥ में यास्क लिखता है—

अदितेः पुत्र इति वा । अहप्रयोगं त्वस्य । एतदार्चाभ्या-
म्नाये सूक्तभाष् ।

यहाँ जो आर्चाभ्याम्नाय शब्द है, उस का अर्थ करने में पण्डित लोग बड़ी क्लिष्ट कल्पना करते हैं। उन का अर्थ है भी असत्य, अतः इस का सर्वार्थ लिखा जाता है।

दुर्ग की भूल

अपनी इति में दुर्ग लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये । ऋचो यस्मिन्नाम्नाये अभि उपयुपर्याम्ना-
ताः सोऽयमार्चाभ्याम्नायो दाशतयः ।

इस से प्रतीत होता है कि दुर्ग के अनुसार इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है।

स्कन्द-महेश्वर की भूल

स्कन्द अपनी निरुक्त-टीका में लिखता है—

आर्चाभ्याम्नाये । ऋचां समूह आर्चम् । अभ्याम्नायत इत्य-
भ्याम्नायः । ऋच एव यजुषा ब्राह्मणेन चामिथा^१ आम्नायन्ते आभि-
मुख्येन यस्मिन्नसाधार्यभ्याम्नायः । तस्मिन् ऋग्वेद इत्यर्थः ।
अन्ये ऋचाभ्याम्नाय इति पठन्ति ।

अर्थात्—स्कन्द का भी विचार है कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद ही है। परन्तु सारे ऋग्वेद में ऐसा एक भी सूक्त नहीं जिस सारे का देवता आदित्य हो। निरुक्त के दुर्ग से प्राचीन भाष्यकार मानते थे कि आर्चाभ्याम्नाय में एक सम्पूर्ण सूक्त ऐसा है जिस का देवता आदित्य है। दुर्ग ने पहले शब्द का अशुद्ध अर्थ समझ लिया, और पुनः उन का कवचन किया जो सारे सूक्त का आदित्य देवता मानते थे। वह लिखता है—

अन्ये तु मन्यन्ते । आदित्य इत्येतदेवात्पप्रयोगम् इति तत्र
स्वेतद्विरुद्धयते सूक्तभागिति ।

जब दुर्ग ने एक बार निश्चय कर लिया कि इस शब्द का अर्थ ऋग्वेद है, तो उसने देखना आरम्भ किया कि क्या ऋग्वेद में कोई ऐसा सूक्त है जिसका देवता आदित्य हो। जब उसे ऐसा सूक्त न मिला तो उसने तत्सम्बन्धी निरुक्त के सारे पाठ का अर्थ बदला। और प्राचीनों के व्याख्यान के विरुद्ध लिखा,

जिन्होंने प्रतीव होता है सरल समझ कर इस शब्द का अर्थ खोज दिया होगा। अब प्रश्न होता है कि इस शब्द का सत्यार्थ क्या है ?

आर्चाभ्यास्राय एक शाखा है

एक वर्ष से कुछ अधिक समय हुआ, जब मैं निरुक्त के इस पाठ का बार-बार विचार करता था। एक रात्रि मैंने काशिका के अनुधाभ्यास के तीसरे पाद का पाठ किया। सूत्र १०४ की वृत्ति पढ़कर मेरी प्रसन्नता की कोई सीमा न रही। मैंने पहले भी कई बार यह पाठ पढ़ा था, परन्तु यह बात कभी सूझी न थी। काशिका में लिखा है—

आलम्बिधरकः प्राचां पलङ्ककमलावुभौ ।

श्रुचाभारुणिताण्डयाश्च मध्यमीयास्तयोऽपरे ॥

आलिम्बनः । पालिङ्गनः । कामलिनः । आर्चाभिनः । आरु-
णिनः । तारिङ्गनः ।

अर्थात्—श्रुचाभेन श्लोकमधीकते आर्चाभिनः । तेषामास्रायः आर्चाभ्या-
स्रायः । श्रुचाभश्लोक सहिता आदि के पढ़न वाले आर्चाभिन, उनका आस्राय
आर्चाभ्यास्राय । उस आर्चाभ्यास्राय में आदित्य देवता का एक सम्पूर्ण स्तुत था ।

प्रतीत होता है कि आर्चाभ्यास्राय या आर्चाभिनों की संहिता दुर्ग और स्कन्द
को नहीं मिल सकी, अतः उन्होंने एक छिष्ट कल्पना की। दुर्ग का अनुकरण करने
वाले पं० राजाराम, पं० रामप्रसाद, पं० सीताराम, डा० खरूप आदि ने भी यही
भूल की। दुर्ग का अर्थ तो अत्यन्त हास्यजनक है। 'श्रुचाएँ जिसमें ऊपर-ऊपर
एकत्र हों, वह आर्चाभ्यास्राय।' यही अभि का ऊपर-ऊपर अर्थ बहुत भरा है।

इस बात के जानने के फलते ही दिन मैंने सारी बातों पं० राजाराम पं०
चास्देव आदि को सुनाई। उन्होंने अत्यन्त हर्षित होकर कहा, कि वस्तुतः यही
इस शब्द का सच्चा अर्थ है।

यास्कोद्भूत अन्य ग्रन्थ

आर्चाभ्यास्राय के विषय यास्क निरुक्त १०।१॥ में काठकम् और हारिद्र-
विकम् को उद्भूत करता है। श्रुवेद के लिए वह दशतथीपु शब्द का
प्रयोग करता है। इसका अर्थ है 'श्रुवेद की सारी, ही शाखाओं में।' इनके
अतिरिक्त जिन वैदिक ग्रन्थों के प्रमाण यास्क ने दिए हैं, उनमें से अनेकों के

नाम का० स्वरूप ने अपनी सूचियों में एकत्र कर दिए हैं ।^१

निरुक्त में प्राचीन ग्रन्थों के अन्वेषण योग्य प्रमाण

निरुक्त में कुछ ऐसे भी वचन हैं, जो दूसरे ग्रन्थों के प्रतीत होते हैं, परन्तु उन के विषय में हमसे पहले लेखकों ने ऐसा सन्देह नहीं किया । कदाचित् उनके मूल-स्थानों का पता लग जाए, इस अप्रतिपक्ष से वे नीचे दिए जाते हैं—

प्रथनात्पृथिवीत्याहुः । १।१३॥

तृतीयमृच्छतेत्युचुः । ३।१७॥

पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतः ।

.....पूर्वमासीदुरुजिरा ॥

निश्चय ही किसी वा किन्हीं प्राचीन अनुक्रमणियों के ये पाठ हैं । वे अनुक्रमणियां श्लोकबद्ध होंगी क्योंकि ये वचन भी श्लोकों का ही भागमात्र हैं ।

यास्क्रीय निरुक्त के दो पाठ

जो निरुक्त सम्प्रति मिलता है, निषण्ड के समान यह भी दो पाठों में विभक्त हो चुका है । उनमें से एक है बृहत्पाठ और दूसरा है लघु । दुर्ग की इति प्रायः लघुपाठ पर ही है । अश्वपक राजवाड़े दुर्गशक्ति के संस्करण की भूमिका में लघुपाठ को गुर्जरपाठ और बृहत्पाठ को महाराष्ट्रपाठ कहता है । उसका लेख निम्नलिखित है—

गुर्जरपाठो महाराष्ट्रपाठाद्विभ्वसनीयो दुर्गाचार्येण प्रायः स्वीकृतश्च । गुर्जरपाठस्य खण्डविभागो महाराष्ट्रपाठस्य खण्ड-विभागाद्विभ्रः ।

अर्थात्—गुर्जरपाठ महाराष्ट्रपाठ की अपेक्षा अधिक विरवसनीय है । दुर्गाचार्य भी प्रायः इसी को स्वीकार करता है । गुर्जरपाठ का खण्डविभाग भी महाराष्ट्रपाठ के खण्डविभाग से भिन्न है ।

निरुक्त के ये दोनों पाठ कब से बने, यह कहना अभी कठिन है । निरुक्त के भावी संस्करणों में मालाबार के कौशों की सहायता भी लेनी चाहिए ।

तब इस विषय पर अधिक प्रकाश पढ़ने की सम्भावना होगी ।

बृहदेवताकार के ध्यान में निरुक्त का लघुपाठ ही होगा । वह बृहदेवता-
अध्याय २ में लिखता है—

रुद्रेण सोमः पूषा च पुनः पूषा च वायुना ॥ ४ ॥

बृहदेवता के इस श्लोकार्थ का कोई विशेष पाठान्तर भी नहीं है ।
बृहदेवता का यह पाठ निरुक्त के लघुपाठ के आधार पर लिखा गया है—

पूषा रुद्रेण च सोमः । वायुना च पूषा ७।१०॥

निरुक्त का बृहत्पाठ निम्नलिखित है—

पूषा रुद्रेण च सोमः । अग्निना च पूषा ।

बृहदेवता में वायुना पाठ के मिलने से यही प्रतीत होता है कि बृहदेवता-
कार के मूल में लघुपाठ का ध्यान था । अध्यापक मैकडानल ने इस बात का
संकेत अपनी टिप्पणी में किया है—

In associating Vayu (not Agni) with Pusan the BD.
here agrees with the shorter recension of the Nirukta.

निरुक्त में वेदार्थ के पक्ष

वेदार्थ करने के जितने पक्षों का निरुक्त में उल्लेख है वे नीचे लिखे जाते हैं—

अभिर्देवतम्

अध्यात्मम्

आख्यानसमयः

ऐतिहासिकाः

नैदानाः

नैरुक्त्यः

परिव्राजकाः

पूर्व याज्ञिकाः

याज्ञिकाः

इनके सिवा एके, आपरे और आचार्याः कहकर भी कई मत दिए गए हैं,
परन्तु वे नैरुक्तों के अन्तर्गत हो सकते हैं ।

इन्हीं पक्षों को देखकर निरुक्त ७।२।१ के भाष्य में स्कन्द-महेश्वर लिखते हैं—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्राः योजनीयाः । कुतः । स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां विप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय अर्थे वाचः पुष्पफलमाह इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिष्ठानात् ।

अर्थात्—नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए । भाष्यकार यास्क स्वयं ऐसी प्रतिज्ञा करता है ।

यास्क-रचित अन्य ग्रन्थ

व्याख्या के भाष्य में भट्टनाथकर मिश्र लिखता है—

नमस्काराद्येकं यजुर्नमस्कारान्तमेकं यजुरिति यास्कः ।

यास्क का यह मत इस निरुक्त में नहीं मिलता । सम्भवतः यह मत यास्क की सर्वानुकमणी में मिलेगा । उस सर्वानुकमणी का पता हमारे मिश्र का० कृष्णन् राज ने लगाया है । वह सर्वानुकमणी निदानसूत्रान्तर्गत छन्दो-विधिति के भाष्यकार पेशशास्त्री अपरनाम हृषीकेश ने बहुधा उद्धृत की है । उसमें उस सर्वानुकमणी के १० प्रमाण दिए हैं । उनसे निश्चित होता है कि यह सर्वानुकमणी तैत्तिरीय संहिता की थी । यास्क का यह सम्बन्धी मत भी यजुर्वेद से सम्बन्ध रखता है, अतः यह इसी सर्वानुकमणी में होगा ।

क्या निरुक्त और सर्वानुकमणी का कर्ता एक ही यास्क है

प्रश्न होता है कि क्या निरुक्त और सर्वानुकमणी दोनों का कर्ता एक ही यास्क है । हमारा विचार है कि हाँ, एक ही यास्क है । बृहदेवता में यास्क का नाम लेकर १६ बार उसका मत दिया गया है । वह मत बहुधा इस निरुक्त में नहीं मिलता । परन्तु कुछ स्थानों पर ठीक मिल भी जाता है । अतः यदि यास्क दो होते, तो बृहदेवताकार दोनों को पृथक्-पृथक् बताने के लिए कोई विशेषण अवश्य देता । बृहदेवताकारोद्धृत यास्क का जो मत इस निरुक्त में नहीं मिलता, वह सर्वानुकमणी में अवश्य मिलेगा और यास्क का बृहदेवता में बताया हुआ जो मत इस निरुक्त से कुछ विरुद्ध है, वह राजा-भेद के कारण हो सकता है । निरुक्त में श्रग्भेद को मुख्य मानकर सब कुछ लिखा गया है और तैत्तिरीयों के

प्रकरण में देवता आदि का भेद हो सकता है। यास्क की सर्वानुक्रमणी और बृहदे-
वता में यास्क के मत आदि की विशेष विवेचना अभ्यासक राज के लेख में देखनी
चाहिए।^१

यास्क को उद्धृत करने वाले प्राचीन ग्रन्थकार

१—पितृलनाग अपने छन्दःशास्त्र में लिखता है—

उरोबृहतीति यास्कस्य । ३ । ३० ॥

अर्थात्—ग्यङ्गुवारिणी को ही यास्क उरोबृहती कहता है।

सर्वानुक्रमणीकार यास्क लिखता है—

द्वितीयश्चेत् स्कन्धोग्रीयी त्रीण्डुकैः ।

उरोबृहती वा स्यात् ।^२

इस से ज्ञात होता है कि पितृल ने यास्क की सर्वानुक्रमणी को ध्यान में
रखकर पूर्वाद्धृत सूत्र रचा होगा।

यास्क की सर्वानुक्रमणी में गद्य भाग के श्लोक भी होंगे। डा० राज ने
दो श्लोक भी दिए हैं।

आत्मायन की सर्वानुक्रमणी के समान यास्क की सर्वानुक्रमणी में भी
पहले छन्दों का वर्णन होगा।

उबट जब यास्क के छन्दःशास्त्र का वर्णन करता है, तो उस का
अभिप्राय इसी सर्वानुक्रमणी के पूर्व भाग से होगा।^३

२—शौनक अपने ऋक्प्रातिशाख्य में लिखता है—

न दाशतथ्येकपदा काञ्चिदस्तीति वै यास्कः । सूत्र ९९३।

अर्थात्—ऋग्वेद में कोई एकपदा ऋक् नहीं, ऐसा यास्क मानता है।

यास्क ने यह बात अपनी सर्वानुक्रमणी के पूर्वभाग में लिखी होगी।

दूसरी ओर अपनी सर्वानुक्रमणी में यास्क शौनक का स्मरण करता है—

द्वादशिनस्त्रयोऽष्टाशु रात्र जगती ज्योतिष्मती ।

सापि त्रिष्टुप्ति शौनकः ।

१—यास्क की तैत्तिरीय सर्वानुक्रमणी, संश्लेषी में लेख।

२—डा० राज का नवम प्रमाण, पृ० २१६।

३—देखो इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २४०।

इस से हमारा पूर्व विचार कि शौनक, यास्क आदि समकालीन थे, और भी पक्का होता है।^१

यास्क रचित कल्प

हारलता पृष्ठ ८ पर लिखा है —

कल्प इति ज्योतिषोमाधनुष्ठानपद्धतिर्यास्क-चाराह-

बौधायनीयाद्याः ।

इन सब प्रमाणों से पता लगता है कि यास्क-प्रणीत ग्रन्थ निम्न-लिखित है—

१—निषध

२—निरुक्त

३—वायुष-सर्वानुकमणी

४—कल्प

आशा है कि यज्ञ करने पर सर्वानुकमणी और कल्प मिल सकेंगे ।

यास्क का काल

महाभाष्य से पहले के वाङ्मय के इतिहास के पता लगाने का अभी तक बहुत कम प्रयत्न हुआ है । श्रौतसूत्रों के अनेक भाष्य हैं, जो इस काल से पहले के होंगे । आश्वलायन श्रौत का देवस्वामी भाष्य, आत्यायन श्रौत का भर्तृहरि और पितृभूति-भाष्य, मीमांसा पर देवस्वामी का भाष्य, और उपवर्ष-भाष्य, वेदान्त सूत्रों पर टड्डी और द्रमिड के भाष्य इत्यादि ग्रन्थों का काल निश्चय करने के लिए अभी तक अणुमात्र भी प्रयास नहीं हुआ । इन में से कई ग्रन्थ बुद्ध के काल से भी पहले के टहरेंगे ।

अभी अभी अध्यापक रामकृष्ण कवि ने सूचना भेजी है कि भर्तृहरि की मीमांसा वृत्ति के कुछ भाग मिले हैं । वे शबर से पहले के हैं । हम ने यह वृत्ति अभी देखी नहीं । यदि कवि महाराय का निर्णय ठीक है, तो भर्तृहरि बड़ा प्राचीन ग्रन्थकार होगा ।^२ वह भर्तृहरि अपने महाभाष्य के व्याख्यान में एक

१—इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २१६-२१७ ।

२—भर्तृहरि के सम्बन्ध में चीनी यात्री ह्वेनत्संग के लेख पर हमें आरम्भ से ही सन्देह है । देखो इस इतिहास का दूसरा भाग, पृ० २१६ ।

आश्वलायन श्रौतभाष्यकार को उद्धृत करता है। वह श्रौतभाष्यकार बहुत प्राचीन होगा। श्रौतसूत्रों के भाष्यकारों के काल का निर्णय हम इस इतिहास के अगले भागों में करेंगे। इस प्रसङ्ग में इतना लिखने का यहो प्रयोजन है कि प्राचीन ग्रन्थकारों का काल जानने के लिए अभी बड़े परिश्रम की आवश्यकता है। योश्व के अन्वयापत्तों ने शीघ्रता में जो कुछ लिख दिया है, वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। अतः यास्क आदि के काल के विषय में भी हम अभी तक कुछ नहीं कह सकते। हमारा विश्वास है कि महाभारत के लगभग तीन शताब्दी के अन्दर ही यास्क हुआ होगा।

महाभारत में यास्क का वर्णन।

सब से पहले सत्यमत सामश्रमी ने अपने निरुक्तलोचन में महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित किया था—

यास्को मामृषिरव्यग्रो नैकयज्ञेषु गीतवान्।

शिविविष्ट इति ह्यस्माद् गुह्यनामधरो ह्यहम् ॥७२॥

स्तुत्वा मां शिविविष्टेति यास्क ऋषिरुदारधीः।

मत्प्रसादादधोतष्टं निरुक्तमभिज्ञमिवान् ॥७३॥^१

अर्थात्—यास्क ने मेरी कृपा से निरुक्त प्राप्त किया।

यह सत्य है कि महाभारत में बहुत प्रक्षेप हुआ है, परन्तु जिस स्थान पर महाभारत में यास्क का उल्लेख है, उस से आगे ही गालव का वर्णन भी मिलता है। इस प्रसंग के नवीन होने का कोई कारण नहीं, अतः यास्क बहुत पुराना व्यक्ति ही है।

सप्तम अध्याय

निघण्टु के भाष्यकार

क्षीरस्वामी (संवत् ११८५-१२११)

देवराजदत्ता अपने निघण्टु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है—

इदं च.....क्षीरस्वामि-अनन्ताचार्यादिकृतां निघण्टु-
व्याख्यां...निरीक्ष्य क्रियते ।

अर्थात्—यह निर्वचन क्षीरस्वामी, अनन्ताचार्य आदि कृत निघण्टु
व्याख्या को देखकर किया जाता है ।

अपने निर्वचन के प्रसङ्ग में देवराज १२ बार क्षीरस्वामी की व्याख्या को
उद्धृत करता है । क्या यह व्याख्या वास्तविक निघण्टु पर थी अथवा देवराज
का अभिप्राय क्षीरस्वामी के अमरकोशोद्धाटन से है ? यह प्रश्न बड़ा विचारणीय
है, अतः आगे इस पर विचार किया जाता है—

देवराज

क्षीर अमर-व्याख्या

१—पृथुभा राज्ञा अवतारिता

पृथुभावतारिता वा पृथ्वी

पृथ्वी १।१॥

२।१।३॥

२—विवक्षति न विरमति १।३॥

विवक्षति विरमति १।२।२॥

३—पुष्कं वारि राति पुष्करम् ।

पुष्कं वारि राति पुष्करम् ।

१।३॥

१।२।१॥

४—साध्यन्त आराध्यन्ते साध्याः

साध्यन्त आराध्यन्त इति

१।४॥

१।१।१०॥

५—आ अरनुवते आशाः । १।५॥

अरनुते आशाः १।२।२॥

६—ककुम्नाति विस्तारयतीति

कं कुम्नाति विस्तारयति ककुप

ककुप् १।३॥

१।२।२॥

७—हरन्धवाभिः । १।६॥	हरन्धनवा हरित् । १।२।२॥
८—वप्यते सूर्यचारेण वपा । १।७॥	वप्यते वपा । १।३।४॥
१—उनप्युधः । १।७॥	उनप्युधः । २।६।०३॥
१०—मुष्टु आहूयति स्वाहा । १।११॥	मुष्टु आहूयते स्वाहा । २।०।२१॥
११—राच रवच गती । १।११॥	राच रवच गती १।१।४२॥
१२—सब्धं कब्धः । १।११॥	मास्ति
१३—अपि प्लवते इति नैरुक्ताः । १।१२॥	अपि प्लवते इति नैरुक्ताः । २।४।२०॥ ^१
१४—तुदति तोयम् । १।१२॥	तुदति तोति वा तोयम् । १।४।४॥

अगले १८ प्रमाणों में से केवल एक और है जिस का पता अमर टीका में नहीं लग सका । अतः कुल दो ऐसे प्रमाण हैं, जो देवराज ने खीर के नाम से उद्धृत किए हैं और जिन का पता अमर टीका में नहीं मिलता । अमरटीका और देवराज का निर्बचन जिस पुरे प्रकार से छोपे हैं उन्हें देखकर हम निश्चित रूप से नहीं कह सकत कि यह दोनों प्रमाण अमरटीका में नहीं होंगे, अथवा इन का वही रूप है जो सरस्वत के देवराज के निर्बचन के संस्करण में मिलता है ।

एक और भी बात है, जिस से खीरस्वामी के निघण्टुभाष्य के मिलने का सन्देह होता है ।

देवराज अपने निर्बचन की भूमिका में लिखता है—

एवं व्याकीर्णेषु कोशेषु नियमैकभूतस्य प्रतिपदनिर्यचन-
निगमप्रदर्शनपरस्य कस्यचिद् व्याख्यानस्याभावात् नैघण्टुकं काण्ड-
मुत्सप्रप्रायमासीत् ।

अर्थात्—प्रत्येक पद का निर्बचन और नियमप्रदर्शन जिस भाष्य में हो,

१—वप्यते इति नैरुक्ताः । यह ओक सम्पादित पाठ है । हम ने मूल में विवन्दरम मुद्रित पाठ दिया है ।

ऐसे किसी भी व्याख्यान के अभाव से निषण्ड का निषण्डक कारण उत्पन्न प्रायः था ।

इस से यही ज्ञात होता है कि देवराज के पास चौर का वैदिक-निषण्ड भाष्य-नहीं था । उस के पास तो उस की अमरकोश व्याख्या ही थी । अतः चौरकृत अमरकोशोद्घाटन के सम्पादक श्रीक महाशय का यह विचार कि चौर रचित छः वृत्तियों^१ में वैदिक निषण्ड वृत्ति भी एक थी,^२ सत्य प्रतीत नहीं होता । इसी प्रकार डा० स्वरूप का मत—

Of the commentaries on the *Nighantu* both the works mentioned by Devaraja have unfortunately been lost.^३

कि निषण्ड पर चौर की वृत्ति नष्ट हो चुकी है, ठीक नहीं । अधिक सम्भव यही है कि चौर ने कोई निषण्डवृत्ति नहीं रखी । अनन्ताचार्य की व्याख्या भी किसी और कोश पर होगी । देवराज के भाष्य में वह एक बार भी उद्धृत नहीं मिलता ।

१—देवराज यज्वा (सं० ११०० के निष्ठ)

देवराज के पिता का नाम यज्ञेश्वर आर्य और पितामह का नाम देवराज-यज्वा था । गोत्र उस का अग्नि था । यह रक्षेरापुरी-पर्यन्त ग्राम का रहने वाला था । समग्र वैदिक निषण्ड का भाष्य रचने वाला यही एक व्यक्ति प्रतीत होता है ।

काल

डा० कूहनन् राज का मत है कि देवराज सायण का उत्तरवर्ती है । वे लिखते हैं—

Devaraja is later than Sayana, perhaps he is a very recent author .

१—पद्मवृत्तयः कल्पिताः देखो अमरवृत्ति और भातवृत्ति के महल श्लोक ।

२—देखो अमरवृत्ति के महल श्लोकों की टिप्पणी ।

३—डा० स्वरूप कृत निष्ठ की सूचियाँ भूमिका पृ० १८ ।

4—Proceedings Fifth Oriental Conference Vol. I p. 227

इस बात का खण्डन इसी भाग के पृ० २६-२६ तक हम कर चुके हैं। यहाँ विस्तृत रूप से दिखाया गया है कि देवराज सायण के ऋग्भाष्य की एक पंक्ति भी उद्धृत नहीं करता। इस के विपरीत मैक्समूलर^१ और डा० स्वरूप^२ ने दिखाया है कि सायण ऋग्भाष्य १।६.२।३॥ में निघण्टुभाष्य से एक प्रमाण देता है। वह प्रमाण देवराज के निघण्टुभाष्य में स्वल्प पाठान्तर से मिलता है। हम अभी यह भी बता चुके हैं कि देवराज के निघण्टुभाष्य के सिवा और कोई वैदिक-निघण्टु-भाष्य था भी नहीं। सायण का अभिप्राय किसी वैदिक-निघण्टु-भाष्य से ही है। वह है देवराज का एकमात्र भाष्य। अतः निस्सन्देह सायण देवराज के ग्रन्थ का ही प्रमाण देता है।

डा० स्वरूप ने अपने निरुक्त की भूमिका में विस्तृत रूप से बताया है कि देवराज भोज, देव, उग की वृत्ति पुरुषकार, पद्मकारी और भरतस्वामी को उद्धृत करता है। भरतस्वामी का काल संवत् १३६० के समीप का है। अतः देवराज का काल सं० १३७० से पहले का नहीं है। देवराज को सायण उद्धृत करता है। सायण ने अपने ग्रन्थ सं० १४०० में लिखने आरम्भ कर दिए होंगे। इसलिए देवराज सं० १३७० के समीप ही हुआ होगा।

देवराज के निघण्टु-निर्वचन का जो कोश हमारे पुस्तकालय में है, वह ४०० वर्ष से कम पुराना नहीं है। उस के लेख आदि से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इस ग्रन्थ का इतना पुराना हस्तलेख अन्यत्र भरे देखने में नहीं आया। इस से भी निश्चित होता है कि देवराज इतना नूतन ग्रन्थकार नहीं है जितना कि डा० राज इसे मानते हैं।

निघण्टु-निर्वचन

देवराज अपनी प्रतिष्ठा के अनुसार नैघण्टुककाण्ड का निर्वचन ही अधिक विस्तार से करता है। उसके ग्रन्थ का मूलाधार आचार्य स्कन्दस्वासी का ऋग्वेद-भाष्य और स्कन्द महेश्वर की निरुक्त भाष्य-टीका हैं। अनेक स्थानों पर स्कन्द का नाम लिए बिना ही वह उसकी पंक्तियों पर पंक्तियाँ उद्धृत करता जाता है यथा—

1—Max Muller's 2nd ed. of Rigveda with Sayana's com. IV. CXXXIII.

२—निरुक्त भूमिका, पृ० २६।

१—अध्वर १।१।२॥ के व्याख्यान में स्कन्द-निरुक्त-भाष्य-टीका १।१०॥ की कई पंक्तियाँ बिना स्कन्द का नाम स्मरण किए उद्धृत की गई हैं।

२—अध्वर १।१०।३॥ के व्याख्यान में स्कन्द-श्रुत-भाष्य १।१।४॥ की कई पंक्तियाँ बिना स्कन्द का नाम लिए उद्धृत की गई हैं—

३—काकुद ४।२।७६॥ के व्याख्यान में निरुक्त भाष्य-टीका ४।२६॥ की कई पंक्तियाँ उद्धृत हैं। इत्यादि—

उष्णादि वृत्ति अथवा वृत्ति कहकर जिस ग्रन्थ से प्रमाण दिए गए हैं, वह दशपादि उष्णादि की वृत्ति है।^१ उसके कर्ता का नाम हमें पता नहीं लग सका। वह कभी काशी में सुदित हुई थी।

देवराज ने जो माधवीय अनुक्रमणियाँ उद्धृत की हैं उनमें से नाम और आख्यात की दो अनुक्रमणियाँ ढा० राज ने प्राप्त कर ली हैं।

देवराज १।६।३५॥ के निर्वचन में कृत्ती अष्टादशाध्याय को उद्धृत करता है। क्या यह निरुक्त का तीरहवाँ अध्याय है? आजकल के निरुक्त के प्रथम परिशिष्ट में यह प्रमाण नहीं मिलता, जिसे देवराज लिखता है।

२।१६।३॥ के निर्वचन में देवराज लिखता है—

स्कन्दस्वामिष्यतिरिक्तभाष्यकारमते

यह कौन आचार्य है, यह विचारना चाहिए।

देवराज के निर्वचन में स्वतन्त्ररूप से बहुत कम लिखा गया है। इसमें पुरातन प्रमाणों का संग्रह अत्यधिक है।

अष्टम अध्याय

निरुक्त के भाष्यकार

१—निरुक्त वार्तिक (निरुक्त की छठी शताब्दी से पहले)

निरुक्त पर पातञ्जल महाभाष्य से भी पहले व्याख्यान होने आरम्भ हो गए थे । अष्टाध्यायी ४/१/६६॥ के महाभाष्य में पतञ्जलि लिखता है—

शब्दग्रन्थेषु चैषा प्रसृततरा गतिर्भवति । निरुक्तं व्याख्यायते । व्याकरणं व्याख्यायत इत्युच्यते । न कश्चिदाह पाटलिपुत्रं व्याख्यायत इति ।

अर्थात्—शब्दग्रन्थों में ही व्याख्या प्रसृत होती है । निरुक्त का व्याख्यान होता है । व्याकरण का व्याख्यान होता है । कोई नहीं कहता कि पाटलिपुत्र का व्याख्यान होता है ।

इससे प्रतीत होता है कि जिस प्रकार अष्टाध्यायी पर संप्रह आदि व्याख्यान पतञ्जलि से पहले बन चुके थे, वैसे ही निरुक्त पर भी कोई व्याख्यान हो चुके थे ।

निरुक्त वार्तिक बहुत प्राचीन ग्रन्थ है । गुरेधर के गृहद्वारण्यक वार्तिक के समान यह भी बड़ा गृहद्वन्व्य होगा । निरुक्त स्वयं एक भाष्य है । उस भाष्य पर यह वार्तिक था । इसके प्रमाण दुर्ग ने अपनी श्रुति में दिए हैं—

१—अपि चोक्तं वार्तिककरणे—

यायतामेव धातूनां लिङ्गं रुढिगतं भवेत् ।

अर्थव्याप्यभिधेयस्थस्तावज्जिगुणविग्रहः ।^१

२—गतार्थं मन्यमानो भाष्यकारो नियमं न प्रवीति । वार्तिककरणे—

पुनरुक्तम्—

निगमवशाद्यर्थं भवति पदं तद्धितस्तथा धातुः ।

उपसर्गगुणनिपाता मन्त्रगताः सर्वथा लक्ष्याः ॥^१

१—तदुक्तं वार्तिककारेण—

क्रमप्रयोजनं नाम्नां शक्यपूयुपलक्षितम् ।

प्रकल्पयेदन्यदपि न प्रज्ञामवसादयेत् ॥^२

४—उक्तं च वार्तिके—

मध्यमा वाक् स्त्रियः सर्वाः पुमान्सर्थश्च मध्यमः ।

गणाश्च सर्वे मरुतो गणमेदाः पृथक्कृतेः ॥^३

क्या वृहदेवता यही वार्तिक है

इन चार प्रमाणों में से पहला और चौथा वृहदेवता में मिलते हैं । पहला ठीक वैसा ही वृहदेवता में है । चौथा वृहदेवता में कुछ पाठान्तर से है । दूसरे प्रमाण पर राजवाड़े की टिप्पणी निम्नलिखित है—

अयं श्लोको वृहदेवतायां नोपलभ्यते ।

वृहदेवताकाराण्यो वार्तिककारः ।

अर्थात्—यह श्लोक वृहदेवता में नहीं है, परन्तु वृहदेवता के सिवा और कोई वार्तिक भी नहीं ।

तीसरे प्रमाण पर राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है—

अयं श्लोकोऽधुनोपलब्धवृहदेवतायां न विद्यते ।

अर्थात्—यह श्लोक उपलब्ध वृहदेवता में नहीं है ।

चौथे प्रमाण के विषय में राजवाड़े अपनी टिप्पणी में लिखता है ।

दुर्गकाले वृहदेवताग्रन्थे भिन्नाः पाठा आसन् । अधिकांश्च श्लोकाः । ख. ट. पुस्तकयोः—

सर्वा स्त्री मध्यमस्थाना पुमान्वायुश्च सर्वगः ।

गणाश्च सर्वे मरुत इति वृद्धानुशासनम् ॥

१—निरुक्तवृत्ति १।११॥

२—निरुक्तवृत्ति ८।१॥

३—निरुक्तवृत्ति १२।१२॥ वृहदेवता ३।४६॥

इति पाठान्तरं प्रान्ते दीयते ।

यह पाठान्तर वाला श्लोक स्कन्द-महेश्वर ११।१३॥ पर मिलता है ।

उसकी टिप्पणी में का० स्वरूप ने भी लिखा है कि यह बृहदेवता के दो पाठान्तर हैं ।

निरुक्त वार्तिक एक पृथक् ग्रन्थ था

हमारा विचार है कि बृहदेवता का नाम वार्तिक नहीं है । वार्तिक एक सर्वथा पृथक् ग्रन्थ था । उसके प्रमाण अन्वय भी मिलते हैं । मण्डनमिथ ने स्म्येदिति नाम का ग्रन्थ लिखा है । उस पर गोपालिका नाम की एक टीका है । उस टीका में लिखा है—

यथोक्तं निरुक्तवार्तिक एव—

असाक्षात्कृतधर्मभ्यस्ते परेभ्यो यथायिधि ।

उपदेशेन संप्राप्तुर्मन्त्रान् ब्राह्मणमेव च ॥ इति ॥१॥

उपदेशश्च वेदव्याख्या । यथोक्तम्—

अर्थोऽयमस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणस्यायमित्यपि ।

व्याख्येवात्रोपदेशस्त्वाद्वेदार्थस्य विवक्षितः ॥ इति ॥२॥

उपदेशाय ग्लायन्त इति । उपदेशेन प्रादयितुमशक्या इत्यर्थः । अपरे द्वितीयेभ्यो न्यूना इति । बिलमप्रदक्षाय उपायतो वशीकरणाय । इमं ग्रन्थं वक्ष्यमाणं समाप्तासिपुः समाप्तातवन्तः । स्तमेवाह वेदं च वेदाङ्गानि चेति । अङ्गशब्द उपाङ्गादेरप्युपलक्षणार्थः । वेदमुपदेशमात्राद्गृहीतुमशक्या वेदं समाप्तासिपुः । वेदार्थं चोपदेशेन गृहीतुमशक्या अङ्गानि च समाप्तासिपु रिति ।

यथोक्तम्—

अशक्तास्तुपदेशेन गृहीतुमपरे तथा ।

वेदमभ्यस्ततस्तस्ते वेदाङ्गानि च यजतः ॥ इति ॥३॥

बिलमशब्दो हानन्तरमेव । तत्र निरुक्तं—बिलं बिलं भास-
नमिति । व्याख्यातं च —

बिलं बिलप्रमिति एवाह विभक्त्यर्थविवक्षया ।

उपायो हि विभर्त्यर्थमुपेयं वेदगोचरम् ॥३॥

अथवा भासनं विहमं भासतेर्दीप्तिकर्मणः ।

अभ्यासेन हि वेदार्थो भास्यते दीप्यते स्फुटम् ॥५॥

.....यथोक्तम्-

प्रथमाः प्रतिमानेन द्वितीयास्तूपदेशतः ।

अभ्यासेन तृतीयास्तु वेदार्थान् प्रतिपेदिरे ॥६॥

इस सारे प्रकरण में गोपालिका टीका का कर्ता छः श्लोक उद्धृत करता है । ये छः श्लोक निरुक्त वार्तिक के हैं । उस ने इन के आरम्भ में स्पष्ट लिख भी दिया है कि ये निरुक्त वार्तिक में हैं । यह सब श्लोक साक्षात्कृतधर्माणःनिरुक्त १।२.०॥ के व्याख्यान में लिखे गए हैं । निरुक्त के इस बचन का जितना स्पष्ट अर्थ यहां दिखाया गया है, उतना दुर्ग और स्कन्द के ग्रन्थों में भी नहीं है । आश्चर्य की बात है कि दयानन्दसरस्वती ने भी इस निरुक्त-बचन का लगभग ऐसा ही अर्थ अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अन्त में किया है ।

इस लेख को यदि दुर्ग के पूर्वोद्धृत चार प्रमाणों से मिलाया जाए, तो ज्ञात होता है कि दुर्ग भी उसी प्राचीन निरुक्त-वार्तिक के प्रमाण दे रहा है । अतः अभ्यापक राजवाड़े का मत कि बृहदेवता ही वार्तिक है, सत्य नहीं । फिर वातक के नाम से उद्धृत किए गए श्लोक बृहदेवता में क्यों मिलते हैं ?

बृहदेवता और निरुक्त-वार्तिक के श्लोकों की समानता

हम लिख चुके हैं कि दुर्ग ने वार्तिक के नाम से जो श्लोक दिए हैं, उनमें से दो बृहदेवता में मिलते हैं । इसका कारण या तो यह हो सकता है कि वार्तिककार ने ये श्लोक बृहदेवता से लिए, या यह हो सकता है कि बृहदेवता ने वार्तिक से ये श्लोक लिए । इनमें से दूसरे श्लोक का बृहदेवता के श्लोक से कुछ पाठान्तर भी है । सम्भव है एक ग्रन्थकार ने दूसरे को देख कर इसे अपने अनिष्टाय के अनुकूल लिखा हो । किस ग्रन्थकार ने दूसरे का आश्रय लिया, अथवा दोनों में से कौन पहले और पीछे है, इसका अभी निर्णय नहीं हो सकता । विरोध सामग्री के अभाव में इस विषय के सब अनुमान निरर्थक होंगे । हां, इतना हम लिख देना चाहते हैं कि बृहदेवता के पहले और दूसरे

अध्याय के कई रत्नोक्त वार्तिक में अधिक उचित प्रतीत होंगे। यथा—

२।१००—१०६॥

यस किए जाने पर इस ग्रन्थ का मिलना भी असम्भव नहीं है ?

२—वर्बरस्वामी

स्कन्द स्वामी अपनी निरुक्तभाष्यटीका में लिखता है—

तस्य पूर्वटीकाकारैर्वर्बरस्थामिभगवद्दुर्गप्रभृतिभिर्विस्तरेण व्याख्यातस्य...

अर्थात्—इस निरुक्त भाष्य की पूर्वटीकाकार वर्बरस्वामी और भगवद् दुर्ग आदि बड़े विस्तार से व्याख्या कर चुके हैं।

स्कन्द के इस वचन के स्वामी पद पर पाठान्तर भी है। वह है व्याख्यास्थामि या व्याख्यास्थामि। वर्बर का तो व्याख्यापद पाठान्तर हो नहीं सकता। सम्भव है कोई तीसरा नाम और हो, जो वर्बर और दुर्ग के मध्य में हो। अस्तु, इतना तो सुनिश्चितरूप से पता लगता है कि वर्बरस्वामी ने निरुक्त पर एक बड़ी विस्तृत टीका लिखी थी। क्या रही वार्तिककार तो नहीं था।

३—दुर्ग (संवत् ६५० विक्रम से पूर्व)

जब हम एक ऐसे वृत्तिकार का उल्लेख करेंगे, जिसका ग्रन्थ कि हमें उपलब्ध है, जो वैदिक विद्वानों में एक ऊँचा स्थान रखता है और जिसका काल भी पर्याप्त पुराना है।

दुर्ग-स्मृत प्राचीन निरुक्तभाष्यटीकाकार

दुर्ग स्वयमेव पहला टीकाकार नहीं है। उससे पहले अनेक टीकाकार हो चुके थे। हम लिख चुके हैं कि वार्तिककार भी उससे पहले हो चुका था। उन्हीं छोटे टीकाकारों की सहायता से दुर्ग ने अपनी सुन्दर वृत्ति लिखी। दुर्ग उन्हें अंग्रे, अण्डे, एके और केचित् लिखकर स्मरण करता है।^१ कई रथाओं

१—निरुक्तटीका १।१॥ पृ० ४।

२—राजवाडे का संस्करण, पृ० १६, २६, २७, ६६, १००, १०४, १०५,

२४५, २४२, २१७, ४८१, ६६७ इत्यादि।

पर इन शब्दों के साथ उपाचक्षते' लिखकर यह स्पष्ट दिखाता है कि यह पूर्व टीकाकारों की व्याख्या है।

दुर्ग के काल में निरुक्त के पाठान्तर

अ० १।२१।१॥ के असन् पद पर वृत्ति करते हुए दुर्ग लिखता है—

असन् । स्युरित्यर्थः । भाष्ये ऽपि स्युः इत्येष एव पाठः ।

असन् इत्येष प्रमादपाठः । ४।१६॥

अर्थात्—यास्क ने असन् का स्युः अर्थ किया है। यास्क-भाष्य का पाठ असन् नहीं। यह प्रमाद से लिखा गया है।

पुनः १।१२॥ की व्याख्या में दुर्ग लिखता है—

अथवा संधिज्ञानानि तानि । संधिज्ञातानि तानि वेद्युभा-
वन्वेती पाठौ । तस्मादुभयथापि व्याख्यातव्यम् ॥ १२॥

अर्थात्—दोनों प्रकार का ही पाठ हो सकता है। यास्क का वास्तविक पाठ कौन सा था, यह दुर्ग को भी ज्ञात नहीं हुआ।

इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण हैं।

दुर्गोद्धृत ग्रन्थ वा प्रमाण

दुर्ग ने अपनी वृत्ति में कई ऐसे श्लोक उद्धृत किए हैं, जो ज्ञात ग्रन्थों के नहीं हैं। वे कहाँ से लिए गए हैं, यह जानने का प्रयास करना चाहिए—

१—उक्तं च—

यक्षांगमो यक्षेविपर्ययश्च द्वौ चापरो यक्षेविकारनाशौ ।

धातोस्तदधीतिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरुक्तम् ॥^१

यह श्लोक अनेक वेदभाष्यों में उद्धृत है। क्या यह बार्तिक का श्लोक है।

२—तथा चोक्तम्—

ऋषयो ऽप्युपदेशस्य नान्तं यान्ति पृथक्स्वशः ।

तच्छेषेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः ॥^२

यह श्लोक शाबर-भाष्य आदि में भी उद्धृत है।

३—अपि चोक्तम्—

क्रियायाश्च क्रमाख्यातं लिङ्गतो न विशिष्यते ।

त्रीनत्र पुरुषान् विद्यात् कालतस्तु विशिष्यते ॥

यह कर्ष का प्रमाण है, इसका पता नहीं लग सका।

४—तद्यथा—

प्रेत्यादिकर्मोपदीर्घभृशार्थेषु-इत्यभिधाने ।

यह किस कोश का वचन है, यह जानना चाहिए।

५—नैगमकारण के पदों की व्याख्या कैसी होनी चाहिए, इस विषय में दुर्ग लिखता है। तदुच्यते—

तत्त्वं पयायशब्देन स्फुटपक्षिश्च द्वयोरपि ।

निगमो निर्णयश्चेति व्याख्येयं नैगमे पदे ॥

स्कन्द ने भी ४।१॥ के प्रारम्भ में यही श्लोक उद्धृत किया है। वह लिखता है कि यह पूर्वचार्य प्रदर्शित है।

यह निरुक्तवार्तिक का पाठ प्रतीत होता है।

६—श्रीरक्त के पक्ष के खण्डन के अन्त में निरुक्त १।१६॥ की समाप्ति पर दुर्ग लिखता है—

इति प्रभिन्नेषु परस्य हेतुषु स्वपक्षसिद्धावहिते च कारणे ।

अवस्थिता मन्त्रगणस्य सार्धता तदर्थमेतस्मिन् शास्त्रमर्थवत् ॥

क्या यह श्लोक दुर्ग का अपना बनाया हुआ है।

इसी प्रकार २।१०॥ के अन्त में भी एक श्लोक है।

७—निरुक्त २।१४॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

विकारपक्षेषु तदर्थान्यधातृपादानम्-इत्याचार्यपरिभाषा ।

यह परिभाषा आर्य ने कहा लिखी है, यह विन्तनीय है।

८—शौनक की छन्दोगब्रह्मण्य^१, उत्तर की दूसरी अनुकेनणियां^२, और बृहदेतना, यह मन्त्र बहुधा उद्धृत हैं। बृहदेतना के श्लोक अनेक बार बिना मन्त्र नाम-निर्देश ही लिखे गए हैं।^३

९—गीठ^४, पुराण^५, रामायण^६, मोहितपुष्ट्य^७, और महाभारत-तदि^८ भी उद्धृत मिलते हैं।

१०—मोमोडाव्यों का प्रमाण अनेक बार दिया गया है।

११—६।१।१॥ की प्रति में मन्त्रों का संस्मरण भाष्य १।२।३॥ में आया हुआ एक श्लोक उद्धृत है।

१२—मनु भी कई स्थलों पर उद्धृत है।

१३—वेद और ब्राह्मण-तदि अनेक मन्त्रों के साथ मैत्रायणीय संहिता का बहुधा प्रमाण दिया गया है।^९

ऋग्वेद की किसी लुप्त शाखा का प्रमाण

१४—१।१।१॥ की प्रति में दुर्ग लिखता है।

ऋग्वेद बहुवचनेन चमसस्य च संस्तवेन यद्गानि दशतयीषु सूक्तानि भवन्ति। तद्यथा—

इदं तृतीयं सयनं कवीनामृतेन ये चमसमेत्यन्त—इति

यह मन्त्र दशतयी अर्थात् ऋग्वेद की किसी शाखा का है। इस समय यह तैत्तिरीय संहिता १।१।१॥ में मिलता है।

१—पृ० १६२।

२—पृ० ५२०।

३—पृ० १०१।

४—पृ० ५१०।

५—पृ० ४४६।

६—पृ० १५३।

७—पृ० २०४।

८—पृ० २१६।

९—पृ० १६१, २८२, ४४५ इत्यादि।

एक और निगम

१२—अथात्मवाद का परम प्रदर्शक एक निगम दुर्ग १२।२६॥ की वृत्ति में पड़ता है। यास्क के मूल में इस की प्रतीकमात्र है—

एक पाद नोत्तिरिति सलिलादंस उच्चरन् ।

स चेत्समुदरेदङ्ग न मृत्युर्नामृतं भवेत् ॥

इस निगम का पूर्वार्थ अर्थ ११।४।२१॥ है।

यह किस वैदिक ग्रन्थ का प्रमाण है, यह देखना चाहिए।

सांख्य का प्राचीन सूत्र

१६—७।३॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

सांख्यस्तु प्रधानं तमः शब्देनोपादानमुच्यमानमिच्छन्ति ।

ते हि पारमर्षे सूत्रमधीयते—

तम एव खद्विषदमग्र आसीत् । तस्मिंस्तमसि क्षेत्रज्ञ एव प्रथमोऽध्यवर्तेत इति ।

यही सूत्र मांडर्युक्ति के अन्त में भी उद्धृत है। सम्भवतः यह पञ्चशिख का सूत्र है।

दुर्ग का अपने सम्बन्ध में कथन

निरुक्त ४।१४॥ की वृत्ति में दुर्ग लिखता है—

अहं च कापिष्ठलो वासिष्ठः ।

अर्थात्—मैं कापिष्ठल वासिष्ठ हूँ। वह अपनी योग्यता के सम्बन्ध में बड़े नम्र शब्दों में कहता है—

इदोऽयं शब्दार्थन्यायसंकटेषु मन्त्रार्थघटनेषु दुरयबोधेषु मतिमतां मतयो न प्रतिहन्यन्ते । अयं खेतावद्वाचयुस्तथा मह इति । ७।३१॥

अर्थात्—ऐसे कठिन मन्त्रों के व्याख्यान में विद्वानों की बुद्धियाँ नहीं रुकती। हम तो यहाँ इतना ही जानते हैं।

जब उसे निरुक्त के किसी पाठ पर सन्देह होता है तो वह बड़ा सावधान होता है—

एवमेतद्वाच्यं दुर्योज्यं यद्येव भाष्यस्य सम्यक्पाठः । अथ पुनरसम्यक्पाठस्ततः सम्यक्पाठोऽत्रान्वेष्यः । अहं तु लक्ष्ये । यद्येव मया मन्त्रो व्याख्यातः स एव सम्यक्पाठः स्यात् । ॥१७॥

अर्थात्—यदि निरुक्त का वही ठीक पाठ है, तो इसका अर्थ वही लक्ष्यता । और यदि पाठ ठीक नहीं तो ठीक पाठ खोजना चाहिए । मैं विचार करता हूँ कि जैसा मैंने मन्त्र-व्याख्यान किया है, वही सम्यक्पाठ है ।

इससे ज्ञात होता है कि निरुक्त करने में वह अपनी स्वतन्त्रता भी बतता है ।

दुर्ग और वेदार्थ का ऐतिहासिक पक्ष

दुर्ग वेद में इतिहास तो मानता है, परन्तु उसका इतिहास नित्य इतिहास है । वह लिखता है—

एतस्मिन्मन्त्रे इतिहासमाचक्षते आत्मविद् इतिवृत्तं परकृत्यर्थ-
वाद् रूपेण यः कश्चिदाध्वारिमिक आधिदैविक आधिभौतिको वार्थ
आख्यायते दिष्ट्युदितार्थावभासनार्थे स इतिहास इत्युच्यते । स
पुनरयमितिहासः सर्वप्रकारो नित्यमविवक्षितस्वार्थस्तदर्थप्रतिपत्तु-
णामुपदेशपरत्वात् । ॥१०२॥

अर्थात्—इस विरवकर्मा भीषण के विषय में आत्मज्ञानी परकृत्यर्थवाद् रूप से इतिहास कहते हैं । जिस किसी आध्वारिमिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थ की उसका अर्थ अधिक प्रकाश करने के लिए कहा गयी जाती है, वही इतिहास कहा जाता है । वह इतिहास सब प्रकार से नित्य और मन्त्रार्थ में अविवक्षितस्वार्थ होता है । वह इतिहास मन्त्र का अर्थ प्रकट करने वालों के लिए उपदेशमात्र होता था ।

पुनः निरुक्त २.१६॥ पर दुर्ग की वृत्ति है—

एवमेतस्मिन्मन्त्रे मायामाप्रत्यमेव युद्धमिति श्रूयते । विहा-
यते च—तस्मादाहुर्नतदस्ति यदेवासुरमिति [शत० ११।१।६।१॥]

अर्थात्—इन्द्र इय के जो युद्ध मन्त्रों में वर्णित हैं, वह कोई मनुष्यों का कस्तबिक युद्ध नहीं है । वह तो मध्यमस्थानी देवताओं का मायामात्र युद्ध है ।

काल

हम पहले पृ० ६—१४ तक यह विस्तार पूर्वक लिख चुके हैं, कि उद्गीषादि भाष्यकार दुर्ग को जानते थे। उद्गीष का काल संवत् ६८० के समीप है, अतः दुर्ग संवत् ६०० के समीप वा इस से पहले हुआ होगा।

निवास

दुर्ग कहाँ का रहने वाला था, इस विषय में डा० स्वरूप ने लिखा है—

That he wrote his commentary in a hermitage near Jammu is proved by the colophon on f. 132 v. at the end of the eleventh chapter of *Nirukta*, which runs as follows:

आचार्याणां निरुक्तवृत्तौ जम्बूमार्गाश्रमनिवासिन आचार्यः
भगवद्दुर्गसिंहस्य कृतौ षोडशस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः ।

This shows that the full name of the commentator was Durgasimha. The fact that he lived in a hermitage and was addressed as *bhagvat* indicates that he was an ascetic and belonged to some particular order of Sannyas.

अर्थात्—जम्बू के समीप किसी आश्रम में वास करते हुए उसने निरुक्त-वृत्ति लिखी। षोडशवें अध्याय के अन्त में यह लिखा मिलता है। इससे प्रतीत होता है कि उसका पूर्ण नाम दुर्गसिंह था। वह भगवन् शब्द से सम्बोधित होता था और आश्रमवासी था। इससे ज्ञात होता है कि वह किसी श्रेष्ठी-विरोध का संन्यासी था।

हमारा भी यही विचार है कि दुर्ग संन्यासी था। स्कन्द-महेश्वर के निरुक्त भाष्य-टीका में भी उसे भगवद्दुर्ग लिखा गया है। परन्तु एक सन्देह इस विषय में है। दुर्ग ने अपना गोत्र स्वयं बताया है। संन्यासी लोग यशोपवीत; शिखा, गोत्रादि रहित हो जाते हैं। पुनः दुर्ग ने अपना गोत्र क्यों बताया।

दुर्ग-चित्त जम्बू के मार्गस्थ आश्रम का रहने वाला था? डा० स्वरूप का विचार है कि आधुनिक पंजाब के पास रयासत करमीर के समीप का रहने

वाला था । हमारा विचार है कि दुर्ग गुजरात का रहने वाला था । अब भी बड़ोदा के समीप जम्बूद्वार एक स्थान है । दुर्ग उसी के समीप का रहने वाला था । दुर्ग मैत्रायणी संहिता को आत्यधिक उद्धृत करता है । यह संहिता गुजरात के ही स्थानों में प्रसिद्ध थी, अतः दुर्ग भी सम्भवतः वहाँ का निवासी था । परन्तु यह सब अभी तक अनुमानमात्र है । हम निश्चय से कुछ नहीं कह सकते ।

दुर्गवृत्ति के प्राचीन हस्तलेख

डा० स्वरूप अपने निरुक्त की भूमिका में लिखते हैं—

A manuscript of his commentary in the Bodolian Library is dated 1387 A. D.....The manuscript was copied at Bhriyukshetra in the reign of Maharana-Durgasimhavijaya.

अर्थात्—आवरुफोर्ड के बोडोलियन पुस्तकालय में दुर्गवृत्ति का एक कोश है । वह संवत् १४४४ का लिखा हुआ है और महाराजा दुर्गसिंहविजय के राज्य में मृगचंद्र में लिखा गया था ।

दुर्गवृत्ति का डाक्टर स्वरूप के सम्पादन काल तक सब से पुराना ज्ञात हस्तलेख यही था । इसी संवत् का एक कोश हमारे पुस्तकालय में भी है । इस में पूर्वार्ध की वृत्ति है । उस के अन्त में लिखा है—

मंत्रदृक् । रतोति । रतोति ॥ एकादशोऽध्यायः ॥ ब ॥ याचं । ता मंत्राः सर्वशास्त्रा..... नि गुणपदानि लक्षणोद्देश्यतस्तानि सर्वा-
लक्ष्य व्याख्यातानि ॥ ब ॥ संवत् १४४४ वर्ष आशु ६ सोम पूर्वा...

बिन्दु वाले स्थान नुदित हो गए हैं ।

दुर्ग वृत्ति के भावी सम्पादकों को यह दोनों कोश अवश्य बर्तने चाहिए ।

दुर्गवृत्ति के अद्यावधि मुद्रित संस्करण

१—सब से पहला संस्करण सत्यव्रतसामश्रमी का है । सन् १८८४ से

इस का मुद्रण आरम्भ हुआ और सन् १८९१ में समाप्त हुआ ।

२—दूसरा जीवानन्द विद्यासागर ने एक संस्करण निकाला ।

३—तीसरा संस्करण हमारे परमसुहृद् परलोकगत महामहोपाध्याय

१—संख्या ६१४७ ।

शिवदत्त जी का था। इस का मुद्रण काल संवत् १८६६ है।

४—चौथा संस्करण पूना से प्रकाशित हुआ था। इस का अभी तक पूर्णार्थ ही छपा है। मुद्रण-काल है इस का सन् १८९५। इस के सम्पादक हैं महादेव-सुनु हरि भट्टकम्कर।

५—पाँचवां संस्करण अध्यापक वैजनाथ काशीनाथ राजवाड़े का है। इस का पूर्णार्थ सन् १८९१ और उत्तरार्थ सन् १८९६ में छपा था।

इन में से पहले दोनों संस्करणों के विषय में अध्यापक राजवाड़े ने अपने संस्करण की भूमिका में जो लिखा है, वह पढ़ने योग्य है —

एते नैव विध्यसनीये प्रमादप्राचुर्याद्यत्र तत्रानवधानतादोषाश्च ।
अनवधानतादोषा असंख्याताः कदा कदोपहास्याश्च ॥ तेषामुदा-
हरणानि ।.....

एतादृशा दोषाः शतश उपलभ्यन्ते । ते न केवलमनवधानता-
मूलाः । अज्ञानमपि यत्र तत्राविक्रियते । कदा कदा पङ्क्तयोऽपि
गलिता दृश्यन्ते । यथा.....एतादृशि गलितोदाहरणान्यभ्यान्यपि
सन्ति ।

कदा कदा मूलवृत्तावधिद्यमाना अपि शब्दा-वृत्तावस्थर्भा-
व्यन्ते । यथा.....हस्तलिखितं न किञ्चनापि निरुद्धवृत्तिपुस्तकमेवं
दोषरहितं भवेत् । अहो व्यर्थः प्रयासः सत्यव्रतजीआनन्दभट्टा-
चार्याणाम् ।'

अर्थात्—सत्यव्रत और जोबाबन्द के संस्करण, दोषों से भरे १३ हैं ।
ये दोष ऐसे हैं कि किसी हस्तलिखित पुस्तक में भी न होंगे । अहो, इन दोनों
का प्रयास व्यर्थ ही था ।

अध्यापक राजवाड़े के ये बचन मैंने मुहम्मदहोपाध्याय शिवदत्त को भी
सुनाए थे । उन्होंने सरल हृदय से उसी समय कहा था कि, 'दुर्गावृत्ति के भरे संस्कर-
ण का आधार सत्यव्रत का संस्करण ही था । अतः निस्सन्देह ये सब दोष
भरे संस्करण में भी होंगे ।'

महादेव हरि भट्टकम्कर का संस्करण पर्याप्त अच्छा है । परन्तु, दुर्गावृत्ति

की दृष्टि से राजवाड़े का संस्करण अभीतक सर्वोत्तम है। राजवाड़े की टिप्पणी बहुत उपदेय है। फिर भी पुर्णवृत्ति पर अभी बहुत यत्न होना चाहिए।

४—स्कन्द महेश्वर (संवत् ६८७ के समीप)

निहत्त पर स्कन्द की टीका इस समय भी मिल सकती है। इसकी सबसे पहली सूचना सन् १६२६ में पं० रामप्रवण शास्त्री ने मुझे दी थी। उन्होंने रियासत जम्नू में यह टीका किसी से हस्तगत की थी। वे उन दिनों निहत्त की वृत्ति लिख रहे थे। उस वृत्ति में उन्होंने स्कन्द के कई प्रमाण दिए हैं। तदनन्तर सन् १६२९ में मैने बड़ोदा से स्कन्दटीका का प्रथमाध्याय मंगाकर पढ़ा था। उस पर मैं ने अपनी लेखनी से एक टिप्पण भी किया था। पुनः सन् १६२४ के अन्त में मद्रास की ओरिएण्टल कन्फ़ेंस के समय मैं ने स्कन्द-टीका का एक सम्पूर्ण कोश वहाँ के राजकीय भण्डार में देखा था। मैं स्वयं भी इस टीका के हस्तलेख प्राप्त करने का यत्न कर रहा था। तभी मेरे मित्र श्री राम अनन्तरूप शास्त्री ने एक सम्पूर्ण कोश मुझे भेज दिया था। सन् १६२९ में उन्होंने मुझे कहा था कि जहाँ से बड़ोदे का कोश प्राप्त किया गया था, वहाँ इस टीका के अगले अध्याय भी विद्यमान हैं। तदनन्तर वे अध्याय उन्होंने शान्ति-निकेतन में भेज दिए थे।

इसके पश्चात् सन् १६२८ में डा० स्वरूप ने निहत्त पर स्कन्द-टीका का प्रथमाध्याय प्रकाशित किया। उन्होंने और भी हस्तलेख सामग्री प्राप्त कर ली थी। सन् १६३१ के तृतीय पाद तक डा० स्वरूप का सम्पूर्ण पूर्वाधे मुद्रित हो चुका है। उत्तरार्ध के प्रकाशित होने में भी कोई चिर नहीं है।

डा० स्वरूप का संस्करण

डा० स्वरूप का संस्करण बड़े भारी परिश्रम का फल है। हस्तलेखों की अस्त-व्यस्त दशा को ध्यान में रखकर मैं समझता हूँ कि आरम्भ में इससे अच्छा काम नहीं हो सकता था। अब इसके अधिक अच्छा बनाने के लिए यत्न किया जा सकता है। इसमें जो थोड़ी सी अशुद्धियाँ रह गई हैं वे अब दूर हो सकती हैं। अनेक प्रमाणों के मूलस्थान जो अनुपलब्ध थे, अब लिखे

जा सकते हैं ।

यथा—

१—हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थापय इति ध्रुतेः । स इत्या-
ध्याहार्यम् ।^१

इसका शुद्धपाठ यह है—

हवींषि दत्तवतो यजमानस्यार्थाय । य इति ध्रुतेः स इत्या-
ध्याहार्यः ।

२—रोगादीनां होता.....सम्पादनेन विप्रकारी ।^२

स्कन्द श्रृंगभाष्य १।१८।२॥ की तुलना से इसका शुद्ध पाठ निम्नलिखित है—

रोगादीनां हन्ता..... सम्पादनेन तुरः सिप्रकारी ।

३—तत् ध्रुतेर्यच्छ्रुतः ।^३

इसके आगे अध्याहार्यः चाहिए ।

४—ताः शतसंख्याका येषां ताति.....।^४

इसके स्थान में चाहिए—

ताः शतसंख्याका येषां तानि.....।

५—तमू अकृष्वेन त्रेधा दु भुवे कमू ऋषीसे अतिम् इति
च मन्त्रलिङ्गम् ।^५

ये वस्तुतः दो मन्त्रों की प्रतीकें हैं—

तमू अकृष्वेन त्रेधा भुवे कमू । [ऋ० १०।८८।१०॥] ऋषीसे
अतिम् । [ऋ० १।११६।८॥]

६—कोकूयमान एतं तुदतीति वेति ।^६

१—भाग प्रथम पृ० ४६

२—भाग द्वितीय पृ० १६१ ।

३—भाग द्वितीय पृ० १६१ ।

४—भाग द्वितीय पृ० २०१ ।

५—भाग द्वि० पृ० २६२ ।

६—भाग द्वितीय पृ० १८० ।

कोक्या शब्द पर दुर्ग और देवराज के व्याख्यान की तुलना से इसका पाठ ऐसा चाहिए—

कोकूयमान एतं नुदतीति वेति ।

७—तथा च शास्त्रान्तरे वदयति 'प्रकरणस्य एव मन्त्रा निर्वहन्त्याः' इति ।

इसके टिप्पण में लिखा है—[अनुसलब्धमूलमिदम्]

यह निरुक्त १३।१२॥ का वचन है, अतः इसका पाठ निम्नलिखित चाहिए ।

तथा च शास्त्रान्ते वदयति—प्रकरणस्य.....

इसी प्रकार के और भी अनेक पाठ हैं, जो अब अनावश्यक ही शुद्ध हो सकते हैं । अस्तु, हम डा० स्वरूप को बधाई देते हैं, कि उन्होंने यह ग्रन्थ सुलभ कर दिया है । इस ग्रन्थ के भावी सम्पादकों को स्कन्द-श्रृंगभाष्य, उद्गीथ-भाष्य, देवराज-निषण्ण-निर्वचन आदि ग्रन्थों की पूरी सहायता लेनी चाहिए ।

स्कन्द-महेश्वर की निरुक्त-भाष्य-टीका

१—इस टीका में अन्ये, अपने, एके और केचित् आदि कहकर अनेक प्राचीन व्याख्याकारों के वचन उद्धृत किए गए हैं ।

२—तस्या यामि २।१॥ यह मन्त्रांश नहीं, प्रत्युत लौकिक वचन है, ऐसा स्कन्द का मत है । जो इसे मन्त्रांश मानते हैं, उन के विषय में लिखा है—

एतदप्रव्याख्यानम् ।

३—व्याकरण आपिरालि का एक स्वतन्त्र धातुपाठ था, यह स्कन्द के निम्नलिखित वचन से जाना जाता है—

उपि-जिधर्ती द्वान्द्वसौ धातु । व्याकरणस्य शास्त्रान्तरे आपि-शलादौ स्मरणात् ।

आपिरालि का निरुक्त-टीका १।२॥ में भी स्मरण किया गया है । पुनः २।३॥ की टीका में लिखा है —

अयं च व्याकरणस्य शास्त्रान्तरे कश्चिद्व्याख्यातः ।

अर्थात्—आकरण की शाखान्तर में है ।

४—मनु बहुत उद्धत है ।^१

५—पृ० ५२ और २५१ पर चरकों के मन्त्र और पृ० ३०४ पर चरक-ब्राह्मण का एक समान पाठ मिलता है ।^२ चरकब्राह्मण का यही पाठ सायण के अथर्ववेदनाथ ८।६९।१०॥ में भी मिलता है । प्रतीत होता है कि यह पाठ स्कन्द के अग्रभाग में भी उद्धृत था । वहीं से सायण ने यह पाठ लिखा है ।

६—पृ० ६४ पर शाकटायन विषयक निरुक्त बचन को पुराछन्द कहा गया है ।

७—पृ० ७१ पर देवापि और शन्तनु को भीमसेनपुत्री लिखा गया है । जो ब्राह्मण देवापि के पास गए थे, उन्हें मौद्गल्यप्रमुखा ब्राह्मणाः लिखा है । इस से आगे पृ० ७३ पर अष्टिपेण चयवन है, ऐसा लिखा है ।

८—स्कन्द के एक लेख से प्रतीत होता है कि किसी पदकार का भी कोई ग्रन्थ था—

अभ्युपगम्यैतत्सामर्थ्यं पदकार आह उपसर्गाच्च पुनरेव-
मात्मकाः । यत्र क्रियावाची शब्दः प्रयुज्यते तत्र क्रियाविशेष-
माहुः । यत्र तु न प्रयुज्यते तत्र सत्ताद्यनां क्रियामाहुरिति, इति ।

किस पदकार के किस ग्रन्थ का यह बचन है, यह खोजना चाहिए ।
पृ० ८२ पर शाकटाय, गार्ग्य और आदित्य आदि पदकारों का वर्णन है ।^३

९—भाग १ पृ० ४६ और भाग २ पृ० १४६ पर शाकटायन के निषवट्ट के प्रमाण मिलते हैं । इन का उल्लेख हम पूर्व पृ० १०० पर कर चुके हैं ।

१०—स्कन्द की टीका में निरुक्त के अनेक पाठान्तर दिए गए हैं । देखो भाग दो के पृ० १५०, १६६, १८० और ३४७ इत्यादि । कई पाठों के सम्बन्ध में लिखा है कि ये अपपाठ हैं ।^४ इस से प्रतीत होता है कि उस के काल

१—भाग द्वि० पृ० ३६, १२८, २५२ इत्यादि ।

२—भाग द्वि० ।

३—भाग द्वि० ।

४—भाग द्वि० पृ० १८३, २७७ ।

तक कई प्राचीन चोशों और टीकाओं में निरुक्त का पाठ बदल गया था ।

११—देवताकार^१, ऋषिस्वर^२, गीता^३, और कोई अनुक्रमणी^४ भी उद्धृत है । अनुक्रमणी का पाठ देखने योग्य है—

यज्ञे देवस्य वितते महतो यदणुर्य हि ।

ब्रह्मणो ऽप्सरसं दृष्ट्वा रेतश्चस्कन्दं कर्हिञ्चित् ॥

तत्परीक्ष्य सवर्णो न स जुहाय विभायसौ ।

ततोऽर्धियोऽभूत् भगवान् भृगुरङ्गारतोऽङ्गिराः ॥

अत्रैशान्वेयणादग्निः खननाद्विखनो मुनिः ।

इत्थं प्रजापतेर्जाताः पुराणा ऋषिसत्तमाः ॥

यह पाठ गृहदेवता ५।१६, १०२, १४३॥ से कुछ कुछ भिन्नता है । सम्भव है प्राचीन आर्षानुक्रमणी का पाठ हो ।

१२—स्कन्द उन मीमांसकों का भी वर्णन करता है, जो यह को सब कुछ मानते थे, और जिन्होंने इसी अभिप्राय से उपनिषदों की निन्दा की है—

कैश्चित् मीमांसकैः वेदोपरमुपनिषत् न वाङ्मयवहारातीतं ब्रह्म इतिग्रन्थयाचोयुक्तिरिति वदद्भिः अपहसितम् । ३।१३॥^५

अर्थात्—कई मीमांसक लोग मानते हैं कि वेद का बंजर भाग उपनिषत् है । बाणों आदि के व्यवहार से अतीत ब्रह्म उसका विषय नहीं है, इत्यादि ।

ये मीमांसक नीमांसा ग्रन्थों में कई स्थानों पर उल्लिखित हैं ।

१३—स्कन्द निरुक्त ३।११॥ की टीका में इनः आदि शब्दों का अर्थ परमात्मा और आदित्य दोनों ही मानता है ।^६

भर्तृहरि और स्कन्द

निरुक्त १।२॥ की टीका में स्कन्द लिखता है—

१—भाग द्वि० पृ० १८, १६ ।

२—भाग द्वि० पृ० १७७ ।

३—भाग द्वि० पृ० १६१ ।

४—भाग द्वि० पृ० १७६ ।

५—भाग द्वि० पृ० १६० ।

६—भाग द्वि० पृ० १५३ ।

आह च—

पूर्वामवस्थामजहत् संस्पृशन् धर्ममुत्तमम् ।

संमूर्द्धित इवार्थात्मा जायमानोऽभिधीयते ॥ इति ।^१

पुनः निरुक्त ५।१६॥ की टीका में लिखा है —

तथा चोक्तम्—सादृश्यं विरोधिना इति ।^१

इनमें से प्रथम प्रमाण भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय के तीसरे या प्रकीर्ण काण्ड में मिलता है और दूसरा दूसरे काण्ड का ११७ श्लोक का द्वितीय पाद है । दूसरे प्रमाण का पाठ सादृश्यं विरोधिता चाहिए ।

अब विचारने का स्थान है कि चीनी यात्री हसिङ्ग के अनुसार भर्तृहरि का देहान्त सन् ६५१—५२ में हुआ था । सन् ६१८ में हरिस्वामी ने शतपथ ब्राह्मण पर भाष्य किया, यह पूर्व पृ० ३ पर लिखा जा चुका है । क्या यह सम्भव है कि भर्तृहरि ने अपना ग्रन्थ वाक्यपदीय सन् ६२० तक लिख लिया हो, अथवा स्कन्द-महेश्वर का ग्रन्थ इतना प्राचीन न हो जितना हम इसे समझते हैं ।

ये प्रश्न बड़े जटिल हैं । परन्तु एक बात सुनिश्चित है । ज्ञा० महत्तदेव शास्त्री ने यह बात बताई है कि हरिस्वामी शतपथ ब्रा० के प्रथम काण्ड के भाष्य में भर्तृहरि की वाक्यपदीय के प्रमाण देता है । अतः उसके समीपवर्ती स्कन्द-महेश्वर भी वाक्यपदीय से प्रमाण दे सकता है । भर्तृहरि का काल लिखने में हसिङ्ग ने भूल की है । इस बात की ओर हम पहले भी पृ० २०६ के दूसरे टिप्पण में संकेत कर चुके हैं ।

भामह का प्रमाण

निरुक्त १०।१६॥ की टीका में लिखा है—

आह च —

तुल्यश्रुतीनां.....अभिधेयैः परस्परम् ।

वर्णानां यः पुनर्वादो यमकं तन्निरुच्यते ॥

१ — भाग प्रथम पृ० २८ ।

२—भाग द्वि० पृ० ३५६ ।

यह श्लोक भामह का है, और इसका पूर्ण पाठ निम्नलिखित है—

तुल्यश्रुतीनां भिन्नानामभिधेयैः परस्परम् ।

यर्थानां यः पुनर्वादो यमकं तस्मिन्व्यते ॥ २।१७ ॥

अनेक नवीन अलङ्कार-ग्रन्थों का यमक-लक्षण न लिखकर स्कन्द ने भामह का प्रमाण दिया है। इसके दो ही कारण हो सकते हैं, या तो स्कन्द प्राचीन ग्रन्थों का प्रेमी था, या वह स्वयं प्राचीन था। नवीन ग्रन्थों का वह प्रमाण कैसे देता। यही दूसरा पक्ष सब प्रकार से सत्य प्रतीत होता है।

स्कन्द और वेदों में इतिहास

हम पहले पृ २०४ पर लिख चुके हैं कि स्कन्द-महेश्वर का मत है कि 'नैरुक्त, ऐतिहासिक आदि सब दर्शनों में सब मन्त्रों का व्याख्यान करना चाहिए।' तो क्या स्कन्द वेदों में मानव-अनित्य-इतिहास मानता है? नहीं, उसका विचार निम्नोद्धृत पंक्तियों के देखने से सुस्पष्ट हो जायगा—

पथमाख्यानस्वरूपाणां मन्त्राणां यजमाने नित्येषु च पदार्थेषु योजना कर्तव्या । एष शास्त्रे सिद्धान्तः । औपचारिको मन्त्रेष्व्याख्यानसमयः परमार्थेन तु नित्यपक्ष इति सिद्धम् ।^१

अर्थात्—व्याख्यानरूप मन्त्रों की यजमान अवस्था नित्य पदार्थों में योजना करनी चाहिए। यह निरुक्त-शास्त्र का सिद्धान्त है। मन्त्रों में इतिहास का सिद्धान्त उपक्रममात्र से है। वस्तुतः नित्यपक्ष से ही अर्थ होना चाहिए। यही सत्य है।

पुनः २।१६॥ की टीका में लिखा है—

सर्वे इतिहासाभ्यर्थवादमूलभूताः । ते चाग्न्यपरा विधिप्रतिषेधशेषभूताः । अतस्ताननाहत्य स्वयमधिकृतं नित्यदर्शनमुपोद्वलपत्राह—मेघ इति नैरुक्ताः ।

अर्थात्—सब इतिहासों का मूल अर्थवाद है। इसी लिए वास्तव कहता है—मेघ=बादल ही पृथ है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं।

इसी लिए स्कन्द ने नित्य पक्ष में भी मन्त्रों का अर्थ दिखाया है ।^१

उद्गीथ के अर्थ में आपत्ति

हम पहले पृ० १४, १५ पर लिख चुके हैं, कि निरुक्त-भाष्य-टीका में स्कन्द के ऋग्वेद-भाष्य से बड़ी सहायता ली गई है । प्रायः सारे ही ऋग्वेदीय मन्त्रों का व्याख्यान ऋग्वेद-भाष्य से लिया गया है । उसमें अपना पाठान्तर बहुत ही स्वल्प किया गया है । इसी प्रकार निरुक्त १।१०॥ की टीका में ऋ० १०।४८।७॥ मन्त्र दिया गया है । स्कन्द-महेश्वर ने इस मन्त्र का भाष्य करते हुए पहले लगभग उद्गीथ भाष्य की नकल की है ।

इस से आगे टीका में लिखा है—

पथं तु व्याख्यायमाने घोटारूढस्य विस्मृतो घोट इत्येतदा-
पद्यते ।..... पूर्वमुत्तरेण न संगच्छते । अतोऽन्यथा व्याख्यायते ।...
तस्मादुपक्रमोपसंहारगतेरुपपन्नमेतद् व्याख्यानम् ।

पूर्वत्रापि व्याख्याने ग्रन्थमित्थं नयन्ति ।...तदेतद् यदि
संगच्छते तथाऽस्तु ।

अर्थात्—यदि यह व्याख्यान माना जाए, तो पूर्वोत्तर की संगति नहीं
लगती । अतः दूसरे प्रकार से इस का व्याख्यान किया जाता है ।...

पूर्व व्याख्यान में भी यह संगति ओझी जाती है ।...तो यदि यह संगति
लग जाए तो वैसे ही हो ।

इस सारे लेख से यह पता लगता है कि स्कन्द-महेश्वर को उद्गीथ का
व्याख्यान अभिमत नहीं था । दुर्ग का व्याख्यान भी भाव. में उद्गीथ-व्याख्यान
के समान ही है । अतः स्कन्द—महेश्वर को वह भी युक्त प्रतीत न होगा । परन्तु
उद्गीथ स्कन्द का सहकारी था, अतः स्कन्द-महेश्वर उस का बहुत खण्डन न
कर के इतना ही लिखता है, कि यदि इस व्याख्यान की संगति लग सकती है,
तो वैसे ही हो । ये अन्तिम शब्द ध्यान से विचारने योग्य हैं ।

यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त प्रकरण. निरुक्त के तीसरे अध्याय

१—देखो, भाग द्वि० पृ० ७७, ११५, ११८, ११९, १८०, १९४, १४५,

नहीं है। उस अध्याय की टीका स्पष्ट ही महेश्वर की रची हुई है।

निरुक्त-भाष्य-टीका में अभिधानकोश

गिरंगा शब्द के व्याख्यान में लिखा है—

तथाभिधानकोशकारः पठति—

गीर्वाणाः स्युर्विधौकसः । इति ॥

इस अभिधानकोश की खोज करनी चाहिए।

निरुक्त-भाष्य-टीका कब रची गई, महेश्वर का स्कन्द के साथ क्या सम्बन्ध है, हुंग स्कन्द महेश्वर से पहले हो चुका था, इत्यादि सब विषयों पर पूर्व पृ० ५—१६ तक विस्तृत लिखा जा चुका है। यह वहीं देखना चाहिए।

५—धीनिवास (संवत् ११०० से पूर्व)

देवराजयज्ञा अपने निषद्यु-निर्वचन की भूमिका में लिखता है कि धीनिवास ने किसी वेद पर भाष्य किया था। उसके वेदभाष्य के सम्बन्ध में हम अभी तक कुछ नहीं जान सके। परन्तु उसने निरुक्त पर भी भाष्य किया था। यह बहुत सम्भव है

निरुक्त २।७।। में एक निर्वचन है—

ऋक्ं धयतेर्वा ऋणातेर्वा शस्त्रातेर्वा

इसके सम्बन्ध में देवराज लिखता है—

ऋक्ं धयतेः । इत्यत्र आतेर्वा इति निर्वचनस्य पाठः धीनिवासीये व्याख्याने दृष्टः ।^१

वेदभाष्य में भी धीनिवास यह पाठ उद्धृत कर सकता है, परन्तु देवराज का लेख देखकर यही अनुमान होता है कि धीनिवास ने निरुक्त का व्याख्यान भी किया होगा।

निषद्यु २।१।१। पर देवराज ने पुनः लिखा है—

अत्र धीनिवास..... ।

इससे पूर्व देवराज स्कन्द-निरुक्त-टीका से एक उद्धरण देता है। इससे

भी पता लगता है कि श्रीनिवास का व्याख्यान भी निरुक्त पर ही होगा। इस व्याख्यान की भी खोज होनी चाहिए।

६—नागेशोद्धृत निरुक्त-भाष्य

नागेशभट्ट अपनी वैयाकरणसिद्धान्तनञ्ज्या के स्फोटभेदनिरूपण प्रकरण में लिखता है—

निरुक्तभाष्येऽपि उक्तरीत्या पदसत्ताऽभावाशङ्कोत्तरभूतं—
व्याप्तिमत्वात्तु शब्दस्य इति प्रतीकमुपादायोक्तम्—

अभिधानाभिधेयरूपा बुद्धिर्हृदयाकाशप्रतिष्ठिता परबोधने-
च्छया पुरुषेणोदीर्यमाणा कण्ठादिषु वर्णभावमापद्य बाह्याकाशस्थं
शब्दं स्वस्वरूपं कृत्वा धोत्रद्वारेण तत्र स्थितां धोतुर्बुद्धिमनुप्रविश्य
सर्वार्थसर्वाभिधानरूपां : तत्तद्बुद्धिं व्याप्नोति । पुरुषप्रयत्नजा
वक्त्रोद्गाताः परं नश्यन्ति न शब्दः । स च तदनुरक्तोऽर्थप्रत्ययं
जनयति इति तत्रत्यपदत्वादिकं वक्त्रोद्गातेष्वारोपयन्ति तद्गतना-
शादि च तस्मिन् । बुद्धयवस्थस्यैव चार्थस्य प्रत्ययमादधाति
शब्दः । तेनैव तस्य संबन्धात् इति ॥^१

यह पाठ न ही दुर्गति में मिलता है और न स्कन्द की निरुक्त-भाष्य
टीका में। दुर्गति में इसका कुछ भाग मिलता है और कुछ शब्दों की भी
समानता है। इस से प्रतीत होता है कि दोनों का कुछ सम्बन्ध अवश्य है।

वाररुच निरुक्त-समुच्चय

वाररुच निरुक्त-समुच्चय एक बड़ा खण्डिकर ग्रन्थ है। यह निरुक्त की
व्याख्या तो नहीं, परन्तु निरुक्त-सिद्धान्तानुसार कोई १०० मन्त्रों का व्याख्यान
है। इसके उपलब्ध करने का ध्येय डा० कृष्णन् राज को है। इस का आरम्भ
निम्नलिखित प्रकार से है—

अग्निं वायुं तथा सूर्यं लोकानामीश्वरानहम् ।

नमामि नित्यं देवेशाग्नैरुक्तमये स्थितः ॥

अधेशानीं मन्दप्रकाशबोधनार्थं मन्त्रविवरणम् । निरुक्तमन्तरेण न सम्भवति । यत् आह—

अथापि इदमन्तरेण मन्त्रेष्वर्थप्रत्ययो न विद्यत इति ।

नानिदृशार्थवित् कश्चिन्मन्त्रं निर्वचतुमर्हति :

इति च वृद्धानुशासनम् ।

निरुक्तप्रक्रियानुरोधेनैव मन्त्रा निर्वक्तव्याः । मन्त्रार्थज्ञानस्य च शास्त्रादौ प्रयोजनमुक्तम्—

योऽर्घ्यं इत्सुकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा इति ।

शास्त्रान्ते च—

यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाष्यमनुभवतीति च ।

वेदपदार्थविषयस्य च यादृशस्यमन्वेष्टव्यम् ।

अर्थात्—अब मन्दबुद्धिवालों के समझाने के लिए मन्त्रों का विवरण करते हैं । विवरण निरुक्त के बिना नहीं हो सकता और न ही निरुक्त के बिना मन्त्रों का अर्थज्ञान हो सघटा है । इसी लिए वृद्धानुशासन है कि निरुक्त के न जानने वाला मन्त्र का निर्वचन नहीं कर सकता । निरुक्त की प्रक्रिया के अनुसार ही मन्त्रों का निर्वचन करना चाहिए ।

इस लम्बे उद्धरण से कई बातें पता लगती हैं । नानिरु० यह वृद्धानुशासन निरुक्त-वार्तिक का श्लोकार्थ प्रतीत होता है । यह निरुक्त की उक्त पंक्ति का भाव है, जो वरदक्षि ने सबसे पहले लिखी है । आगे वरदक्षि निरुक्त ११।१२॥ की पंक्ति उद्धृत करता है, । इससे ज्ञात होता है कि वरदक्षि के काल में यह अध्याय निरुक्त का अङ्ग था ।

इस ग्रन्थ में कुल चार कल्प हैं । प्रथम का आरम्भ पूर्व लिखा जा चुका है । अब दूसरे का आरम्भ लिखा जाता है—

पूर्वस्मिन् कल्पे प्रकीर्णकरूपेण निर्वचनक्रमः प्रदर्शनीयः ।

इदानीं-ज्ञात्वा चानुष्ठानमित्युक्तत्वात् नित्यकर्मविहितान् ? मन्त्रान् ?
व्याख्यायन्ते—

मित्रस्य चर्पणीधृतः

विश्वामित्रस्याप्यम् । मित्रो मध्यमस्थानदेवतासु पठितस्या-
न्मध्यमस्थानत्वेन निवृत्तः । युस्थानैरपि मित्रोऽस्ति स इह निरु-
च्यते । प्रथमं तावदयं यजुश्शास्त्रानुरोधेन व्याख्यायते ।

अर्थात्—पहले कल्प में प्रकीर्णरूप से निर्वचन-क्रम दिखाया । अब
नित्यकर्म के मन्त्रों की व्याख्या की जाती है । मित्रस्य यह मन्त्र पहले याजुष-
शास्त्र के अनुरोध से व्याख्यान किया जाता है ।

तीसरे कल्प के आरम्भ में लिखा है—

यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां ध्यायेद्वपदकरिष्यन्-इति
धुतेः । अतः परं दर्शपूर्णमास-याज्यानुवाक्या-आज्यभागप्रभृति-
स्विष्टकृत्पर्यन्ता व्याख्यायन्ते ।

अर्थात्—दर्शपूर्णमास, याज्यानुवाक्या, और आज्यभाग से लेकर स्विष्ट-
कृत्पर्यन्त मन्त्रों का व्याख्यान किया जाता है ।

चतुर्थकल्प के आरम्भ में लिखा है—

एकत्रिंशद्विधं मन्त्रं यो वेत्स्युषु स मन्त्रवित्

इति वचनात् एकत्रिंशद्विधा मन्त्रा व्याख्यायन्ते ।

अर्थात्—श्रुचाद्यो में जो ३१ प्रकार के मन्त्रों को जानता है, वह
मन्त्रवित् कहलाता है, उस वचनानुसार ३१ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान किया
जाता है ।

चतुर्थ कल्प की समाप्ति के पश्चात् इन ३१ प्रकार के मन्त्रों की गणना
की है । यह गणना बृहदेवता १।३४—४७॥ के श्लोकों से पुष्ट मिलती है ।
ऐसी ही एक गणना ब्रह्मसंह पुराण में भी मिलती है ।^१

इस निरुक्तमुच्य में निम्नलिखित मन्त्रों और ग्रन्थकारों का स्मरण किया
गया है—

व्यास बचन	२, ३१
शौनकादि	२
नैसर्गसमय	३
स्मृति	३, ४,
निरुक्त-भाष्यकार = यास्क	४, १०, ११,
भाष्यकार	१०, १४,
श्रुति	८, १०, ११, १२, २८,
नैसर्गवाच्य	६
लोकवाद	१७
आप्तबचन	२६, ४०,
लिङ्गानुशासनकार	३६
पौराणिक	४०
दशतयी	४१
दाशतयी	४७
उपनिषद्	४६
शास्त्रान्तर	६४
आयुर्वेदकित्	८२
आचार्यबचन	१०६
मीमांसक	११७

निरुक्त-समुच्चय में निम्नलिखित बातें विशेषरूप से दृष्टव्य हैं—

१--एवं पूर्वपक्षापरपक्षान्ते निर्वहनिर्वाणेन भागं मजनी-
यमाहारत्वेनाभ्यादि हविर्दध्यते ।^१

शर्म सुखं निर्वाणरूपम् ।^२

देवं दानादियुगयुक्त्वागमगम्यं निर्वाणम् ।^३

१—पृ० ७ ।

२—पृ० ३१ ।

३—पृ० ३१ ।

पहले स्थान का पाठ कुछ अशुद्ध प्रतीत होता है, परन्तु अगले दोनों स्थानों को देखकर यह कहना पड़ता है कि उनमें निर्वाण शब्द का प्रयोग लगभग उसी अर्थ में है जिसमें कि बौद्ध-ग्रन्थों में मिलता है। क्या वररुचि कोई बौद्ध था ?

२—दिवे दिवे अहर्नामैतत् सप्तम्येकवचनमेव समाप्तायेषु समाप्तातम् ।^१

क्या समाप्ताय शब्द के बहुवचन प्रयोग से यह समझना चाहिए कि दूसरे वेद-निषेधद्वयों में भी ये पद पड़े गए थे।

३—तथा च प्रकरणश एव विनियोक्तव्य इति भाष्यकार-वचनात् ।^२

यह निष्कर्ष ११।२२॥ का ही पाठान्तर प्रतीत होता है।

हम पहले लिख चुके हैं कि वररुचि निष्कर्ष ११।२३॥ को भी उद्धृत करता है। अतः निष्कर्ष का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल निष्कर्षान्तर्गत ही था।

अतः निष्कर्ष का पहला परिशिष्ट वररुचि के काल में भी निष्कर्षान्तर्गत ही था, यह स्पष्ट है।

अथवा 'तत्त्वा' इति 'तनु विस्तारे' इत्यस्य कस्याप्रत्ययान्तस्य 'उदितो वा' इतीदो वेवति ? विकल्प एतद्भ्रमं। तत्त्वा तनित्वा परिचर्यया याचे।

इस के साथ निष्कर्ष २।१॥ की स्कन्दस्वामी की टीका की तुलना करनी चाहिए—

'तत्त्वा' इत्येतत् तनु विस्तारे इत्यस्य कस्याप्रत्ययेन रूपम्।

...अपरः 'उदितो वा' इतीदो वैकल्पिकत्वादिकाराभावः। सोऽत्र वर्ण्यलोपः। तत्त्वा तनित्वा इत्यर्थः।

इन दोनों वचनों की समानता को देख कर यह ज्ञात होता है कि, इन में से एक ग्रन्थकार ने दूसरे का आशय लिया है।

५—ऋ० ॥२१॥ में सूत्रः एक पद है। उसका अर्थ करते हुए बरुचि लिखता है—

सूत्रः शोभनाः कर्तव्यपदार्थका नरा मनुष्या अध्वर्यादयो यस्य संश्रिधत्वेन सन्ति सूत्रः। शोभना नरः। पदकारेणैतत् पदं नावगृहीतं तथापि भाष्यकारवचनात् पदकारमनादृत्यैतन्निरुक्तम्।

अर्थात्—पदकार के अनुसार सूत्रः अवग्रह के बिना पद है, परन्तु भाष्यकार के अनुसार इसमें अवग्रह है। उसी प्रकार से इसका व्याख्यान किया है।

बरुचि वास्क को ही भाष्यकार कहता है, पर इस मन्त्र की वास्क ने प्रतीकमात्र एही है। उसने इसका अर्थ नहीं किया। अतः बरुचि का अभिप्राय किस भाष्यकार से है, यह ज्ञात नहीं हो सका। दुर्ग इस मन्त्रप्रतीक को निरुक्त में नहीं पड़ता। स्कन्द इसे पढ़ता है, परन्तु सारे मन्त्र का अर्थ नहीं करता।

६—दाशुवे दाश्वानिति शाकपूणिना नैरुक्ताचार्येण यजमान-नामसु पठ्यते।

अर्थात्—दाश्वान को शाकपूणि अपने निषण्ड में यजमान के पर्यायों में पढ़ता है।

७—१। प्रथम के मन्त्रों में एक विकल्प मन्त्र भी है। उसका उदाहरण देते हुए बरुचि लिखता है—

इन्द्र कर्तुं न आ मेर

इति विकल्पः। अनेकधाफयकल्पनया विकल्पः। देवतायि-कल्पो वा। वायुरिति नैरुक्ताः। सूर्य इति याज्ञिकाः। शक्तिर्नाम यसिष्ठपुत्रस्तस्यार्थम्। प्रथमं तावद् याज्ञिकमतेन व्याख्यायते।

अर्थात्—अनेक वाक्यों की कल्पना को विकल्प कहते हैं और देवता विकल्प को भी विकल्प कहते हैं। इस मन्त्र का वायु देवता है, ऐसा नैरुक्त मानते हैं, और सूर्य देवता है, ऐसा याज्ञिक मानते हैं। इसका ऋषि यसिष्ठ-पुत्र शक्ति है। अब पहले याज्ञिक के मत के अनुसार इस ऋचा का व्याख्यान किया जाता है। यह मन्त्र ऋ० ७।१२।१॥ है। सर्वानुक्रमणी के अनुसार इसका देवता इन्द्र है।

बृहदेवता का भी ऐसा ही मत है। वरुचि ने याज्ञिकों का और नैष्ठिकों का मत कहा से लिया, यह विचारणीय है। हाँ, इन्द्र का अर्घ्य वायु और सूर्य दोनों हो सकते हैं।

वरुचि और वेदों में इतिहास

वरुचि नैष्ठिकदर्शनानुसारी भाष्य करता है, अतः उस के भाष्य में अनित्य इतिहास को स्थान नहीं। वह नित्यपक्ष सम्प्रदाय का प्रयोग भी करता है।^१ एक स्थान पर वह लिखता है—

एवमाख्यानसमयेनेध मन्त्रस्य योजना।

अथवा कश्चिजमान उत्तमाद्यमध्यमैः पाशैः बद्धो राजानं वरुणं प्रार्थयते।^२

अर्थात्—इस प्रकार आख्यान-दर्शन में यह मन्त्रार्थ है। अथवा तीन पाशों में बंधा हुआ कोई यजमान राजा वरुण की प्रार्थना करता है—

किं वरुचि लिखता है—

सिन्धूनां सिन्धवो नद्यः। इह सामर्थ्यान्तरिक्षचारिण्यो गृह्यन्ते।^३

अर्थात्—ये नदियाँ अन्तरिक्षचारिणी हैं

जम यमी के सम्बन्ध में वरुचि लिखता है—

एवमेतिहासिकपक्षे योजना। नैरुक्तपक्षे तु पुरुरवा मध्यम-स्थानः। वाय्वादीनां एकत्वात् पुरु रौतीति पुरुरवाः उर्वशी विद्यत्।

उरु विस्तीर्णं अन्तरिक्षं दिव्यत इति उर्वशी।^४

अर्थात्—इस प्रकार ऐतिहासिक पक्ष में मन्त्र का अर्थ हुआ। नैरुक्तपक्ष में पुरुरवा मध्यमस्थानी देवता है। बहुत कोलाहल करने से पुरुरवा वायु है। उर्वशी तन्त्रि है। फैले हुए आकाश में जमकने से उर्वशी नाम है।

१—१० १४।

२—१० २५।

३—१० १००।

४—१० १४१।

इसी यम यमी का नैरुक्तपक्ष में अर्थ कर के वह लिखता है—

एवं नैरुक्तपक्षे योजना । औपचारिकोऽयं मन्त्रेष्वारूपाय-
समयः । नित्यत्वविरोधात् । यरमार्षेण तु नित्यपक्ष एवेति नैरुक्तानां
सिद्धान्तः ।^१

अर्थात्—ग्रन्थों में ऐतिहासिकदर्शनानुसारो अर्थ उपचारमात्र से है ।
इतिहासपक्ष में नित्यत्व का विरोध आता है । यरमार्ष से नित्यपक्ष ही सत्य है ।
यही नैरुक्तों का सिद्धान्त है ।

यम यमी के सम्बन्ध में आगे चल कर लिखा है —

एवमेतिहासिकपक्षे योजना । नैरुक्तपक्षे तु यमी मध्यमस्थाना
वाक् । यमश्च मध्यमस्थानः ।^२

अर्थात्—नैरुक्तपक्ष में यमी मध्यमस्थानी वाक् है और यम भी मध्य-
मस्थानी है ।

इन सब स्थानों को ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वररुचि ग्रन्थों
में इतिहास नहीं मानता था ।

वररुचि और स्कन्दस्वामी

पहले पृ० २१२ पर वेदों में ऐतिहासिकपक्ष के सम्बन्ध में स्कन्द-महेश्वर
के जो प्रमाण दिए गए हैं, उन से यदि वररुचि के तत्सम्बन्धी लेख की तुलना
की जाए तो दोनों में आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है । तत्त्वा यामि पर
भी दोनों का लेख बहुत मिलता है । इस से निश्चित होता है कि इन में से कोई
एक ग्रन्थकार दूसरे के कई वचन नकल कर रहा है । वररुचि ने निर्वाण शब्द का
जो प्रयोग किया है, उस से वह बौद्ध प्रभाव-प्रभावित प्रतीत होता है । स्कन्द-महेश्वर
की निरुक्ताध्य-टीका में ऐसा शब्द भेरी दृष्टि में नहीं पड़ा । सम्भव है वररुचि
स्कन्द से पुराना हो, परन्तु यह अनुमान ही है ।

स्कन्द और वररुचि का शाब्दपूर्ण के निपटड़े से दिशा हुआ एक प्रमाण
भी समान ही है । दोनों की घनिष्ठ सदृशता से कोई इन्कार नहीं कर सकता ।

हम लिख चुके हैं कि निरुक्त-समुच्चय के चतुर्थ-कल्प में ११ प्रकार के मन्त्रों का व्याख्यान है। वे ११ प्रकार कौन से हैं, यह नीचे लिखा जाता है—

१—प्रेम	१२०
२—आह्वान	१२५
३—स्तुति	१२६
४—निन्दा	१२७
५—संकल्प	१२८
६—आशीः	१३०
७—कर्म	१३०
८—कथना	१३२
९—प्रश्न	१३४
१०—प्रतिबन्धन = व्याकरण	१३५
११—शोधित	१३६
१२—विकल्प	१३७
१३—संकल्प	१३८
१४—परिदेवना	१३९
१५—अनुबन्ध	१४०
१६—याज्ञा	१४३
१७—प्रसव	१४४
१८—संवाद	१४५
१९—समुच्चय	१४८
२०—प्रशंसा	१४९
२१—शपथ	१५०
२२—प्रतिशय	१५२
२३—आचिख्यासा	१५४
२४—प्रलाप	१५५
२५—मीला	१५६
२६—उपधावन	१५७

२०—आश्वेय

१५८

२८—परिवाद

१६०

२९—परिवाण

१६२

इस गणना के अनुकूल दो प्रकार कम रहते हैं। हमारी प्रतिलिपि कई स्थानों पर त्रुटित है, अतः सम्भव है, ये दो प्रकार भी त्रुटित हो गए हों। यह भी हो सकता है कि ये हमारे गणन में न आए हों, क्योंकि हमने- साधारण दृष्टि से ही पाठ किया है।

ग्रन्थ-समाप्ति के पश्चात् निम्नलिखित श्लोक है। ये किसी अन्य व्यक्ति के लिखे हुए प्रतीत होते हैं—

कल्पैश्चतुर्भिर्व्याख्यातं सारभूतमृचां शतम् ।

सहस्रं पञ्चशतं श्लोकेनानुष्टुमा कृतम् ॥

सहस्रं पञ्चशतं संख्या ग्रन्थस्य च कीर्तिता ।

विस्तरमीत्या संक्षिप्तं तात्पर्याद्युद्धये ॥

एवं निरुक्तमालोक्य मन्त्राणां विष्टं शतम् ।

उक्तानुक्तदुरुक्तानि चिन्तयन्तिवह पण्डिताः ॥^१

अर्थात्—निरुक्त को देखकर संख्या से १०० मन्त्रों का व्याख्यान किया है। इसका परिमाण १५०० ग्रन्थ है।

कौत्सग्रन्थ का निरुक्त-निघण्टु

यह ग्रन्थ अथर्व-परिशिष्टों में से एक है। अथर्व-परिशिष्ट ७८ है। यह निघण्टु उनमें से ४८ वां है। अथर्व-परिशिष्टों का सम्पादन जे० फ्रान्क नेगेल्हार्ड और जार्ज मैन्डल कोलिन्ग ने किया है। उनका संस्करण सन् १९०६ में छपा था। यह रोमन लिपी में था। सन् १९२१ या सं० १९७८ में इस निघण्टु का देवनागरी-लिपि-संस्करण लाहौर में छपा था। उसके सम्पादक हैं पं० राममोहात शास्त्री।

१—पृ० १६१।

२—अथर्वग्रन्थावली, लाहौर सन् १९२१ ई०

मूल संस्करण का आधार सात पुराने खोश हैं। परन्तु फिर भी इस पुस्तक के दोबारा सम्पादन की आवश्यकता है। सन् १९०९ के परन्तु अथर्व-परिशिष्टों के कई नए खोश खोजे गए हैं।

ग्रन्थ-विभाग

इस निरुक्त-निषण्ड में कुल १४८ गण हैं। ये गण ९९ खण्डों में विभक्त हैं। यह खण्ड-विभाग किस आधार पर बना, यह हमें अज्ञात है। पहले इसमें आख्यान गण हैं, और फिर नाम आदि गण। इसका बहुत सा भाग याज्ञकीय निषण्ड से मिलता है। फिर भी कई ऐसे पद हैं, जो उस में नहीं मिलते।

जिस प्रकार का ऐकपदिक-आख्य याज्ञकीय-निषण्ड में है, उसी प्रकार के दो गण इस निरुक्त-निषण्ड में हैं। संख्या है उनमें १२५ और ११९। गण ११९ के अन्त में लिखा है—अनेकार्थः। यह निरुक्त-निषण्ड आपर्ण्य है। परन्तु इसके इन गणों में कई ऐसे पद हैं, जो अथर्ववेद में नहीं मिलते। सम्भव है ये अथर्ववेद की किसी अज्ञात शाखा में हों। यथा—

पाकस्थामाः कीरयाणः।

अप्रायुषः।

अकूपारस्य।

इत्यादि। इनमें से अन्तिम दो पद इसी विभक्तियों में अथर्ववेद में मिलते हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि इस निरुक्त-निषण्ड में अकूपारस्य के साथ दाबने पद नहीं है।

इस निरुक्त-निषण्ड में जिन गणों के परन्तु अर्थ दिया गया है, वह उसी ढंग से है, जैसा याज्ञकीय-निषण्ड के लघु-पाठ में है। यथा—

९९—आतः। आशाः। आण्डाः। उपराः। काष्ठाः। ध्योम।
ककुभः। दिशाम् ॥ ४६ ॥

इस ग्रन्थ का कर्ता कौत्सव्य कौन था, वह सब हुआ, उसने और भी कोई ग्रन्थ लिखा था या नहीं, ये सब बातें अभी अन्वेषण में ही हैं। आपर्ण्य वाक्य के प्राचीन ग्रन्थों के मिलने पर सम्भव है इन पर कुछ प्रकाश पड़े।

निरुक्त-निघण्टु नाम

कौत्सव्य का ग्रन्थ अधिकांश में वेद-निघण्टुओं के समान ही है। परन्तु इसके अन्त में कुछ वक्तियाँ ऐसी भी हैं, जो निरुक्त के समान हैं। यथा—

१४६—एतेषामेव लोकानाम् श्रुतुष्वन्वस्तोमशृष्टानामानुपूर्वेण भक्तिशेषोऽनुकल्पः ॥ इत्यादि।

वात्सीय निघण्टु में देववक्तियों अन्त में है, परन्तु इस में वे गण १३६ में ही एकत्र की गई हैं। उन से आगे निरुक्त के रंग का पाठ है। इसी लिए इस ग्रन्थ का नाम निरुक्त-निघण्टु पड़ गया, ऐसा सम्भव हो सकता है।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

परिवर्तन और परिवर्धन

पृ० ४—(घ) की चारों पंक्तियाँ निकाल देनी चाहिए। कर्क अपन भाष्य में हरिस्वामी को उद्धृत नहीं करता। काशी के मुद्रित-संस्करण में सम्पादन की टिप्पणी भूल से मूल में छप गई है। उसी टिप्पणी में हरिस्वामी का नाम था। इसीलिए हमारी भूल हुई। नासिक छेन्नवासी श्री अष्टाशाली वारे ने हम से कहा था कि कर्क कहीं भी हरिस्वामी को उद्धृत नहीं करता। इस के विपरीत कर्क सम्भवतः हरिस्वामी से भी पहले का ग्रन्थकार है।

डा० बृहन्न राज का अनुमान है कि स्कन्द के श्रवण-भाष्य की भूमिका के अन्त में—

अश्माभिर्भाष्यं करिष्यते

में अश्माभिः पद सम्भवतः स्कन्द, नारायण और उद्गीथ के सम्मिलित सम्पादन का चेतक है। देखो, उनका लेख, पाँचवीं ओरिएण्टल कांफरेंस, पृ० २४६।

पृ० २०—गोभिलगृह्यवृत्तिकार नारायण । इसके ग्रन्थ का संवत् १५८३ का एक हस्तलेख पूना में है। अतः यह नारायण ४०१ वर्ष से अधिक ही पुराना होगा।

पृ०—४७ सर्वदर्शन-संग्रह में आनन्दतीर्थ-भाष्य-व्याख्या का स्मरण किया गया है। देखो बामन शास्त्री का संस्करण पृ० १५६ या पूर्णप्रज्ञ-दर्शन-प्रकरण। यह सम्भवतः जयतीर्थ ही की कोई व्याख्या होगी। यदि यह सत्य है तो जयतीर्थ का काल सायण से कुछ पहले या साथ का होगा।

पृ० ६३—डा० स्वरूप ने महीधर के काल के सम्बन्ध में जो मत प्रका

शित किया है, वही मत सत्यमत सामर्थमी का भी था। देखो उनका निरुत्साहोवन, महीधर का काल।

पृ० १००—इमने लिखा है कि अमरुत २४५ वर्ष से पुराना है। परन्तु अब यह समझना चाहिए कि अमरुत २६७ वर्ष अवश्य पुराना है। संवत् १७२१ का लिखा हुआ उसके एक ग्रन्थ का एक कोरा ऐशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में है। देखो उनका नया मुद्रण, पृ० ९६५—९६७।

अनन्त के काल के विषय में एक ही बात को भी ध्यान रखना चाहिए।
लगभग ३०० वर्ष पहले आचार्य कबीर के पुत्र अलवर के मसीहिय में अनन्त-
रहित कथाकथनमरण का एक कोरा दर्ज है। दोस्त संकल्प २४२।

१०१३—मनुष्य के चार मनुष्यों के नाम हम लिख चुके हैं। उन के साथ दो नाम और जो देने चाहिये—

(५) कात्यायन-स्मार्त-मन्त्राण्येदीकृत । १४ का कोश ऐश्वर्यादि ६ गोषः
यदी. में है । देखो, नवीन सूचीपत्र भाग २, संख्या ८४१ ।

(१) वेदाध-प्रदीपिका । पूर्वोक्त सूत्रो पत्र का पृ० १६४ । यह कोई सूत्र-तन्त्र ग्रन्थ था, या नहीं, यह विचारणीय है ।

५० १०४—सुसारिमित्र

मुसारिमित्र के विषय में निम्नलिखित बातें अधिक ज्ञानी चाहिए—

—मुपारिनिधे देवनिषण्ठ के लघुपाठ की संज्ञा कहां रखता है—

निष्कण्डके सुखनामानि । वैशिषाला । शतरा । शातपत्ता ।
शिशु । शिव । सूर्य । मय । सुमित्र । सुदिन । शय । सुने । श ।
मेघ । जलाशय । शयन । श्वेय । शिव । शम्भु । कदित्ति सुखस्य ।

ये ते शतमित्यादि । शतसदृशशब्दाश्च बहुत्वार्थे । तथा च
वैदिकीयैः—

उ०। तुवि । पु०। मूति । शब्दम् । विधिः । परीणसा ।
इयानशिः । शत्रुः । संहि । सलिलं । कुपयित्ति वहीः ।

गृह्यप्रकाशान्महाभाष्यादुद्धृत्यावशिष्यते ।^१

अर्थात्—वेदमित्र का गृह्य-भाष्य जिससे सामग्री लेकर यह मन्त्र-भाष्य रचा गया है; एक महाभाष्य था ।

द्वितीय काण्ड के भाष्य के अन्त में पुनः लिखा है—

इति श्रीवेदमित्रप्रणीतगृह्यप्रकाशाख्यानमहाभाष्यादुद्धृत्य
मुरारिमिश्रकृतद्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।^२

उस गृह्य-महाभाष्य का अब कोई अस्तित्व ज्ञात नहीं होता ।

तीसरे काण्ड के भाष्य के आरम्भ में लिखा है—

तृतीयकाण्डमन्त्रार्थः यद्वाक्याभिधानतः ।

विविच्यते वेदमित्रैतानाभाष्यानुसारतः ॥

अर्थात्—तृतीय काण्डस्थ मन्त्रों के अर्थ का विवेचन वेदमित्र नाना भाष्यों के अनुसार करता है ।

पहले दोनों काव्यों के मन्त्रार्थ के विषय में लिखा है कि उनका मन्त्रार्थ वेदमित्र के भाष्य से लिया जाता है, और इस काण्ड के मन्त्रार्थ के विषय में उत्रने लिखा है कि यह उस वेदमित्र के भाष्य के आधार पर है, जो नानाभाष्यों के अनुसार है । इसका यह अभिप्राय है कि वेदमित्र के गृह्यमहाभाष्यान्तर्गत मन्त्र भाष्य में नाना वेदभाष्यों की सहायता ली गई थी ।

५० १०९—इत्युच्य का मीमांसा-सर्वस्व विहार और उद्योता के रीतर्च जर्नल जून-सितम्बर, सन् १९२१ के अङ्क से प्रकाशित होना आरम्भ हो गया है ।

सामवेद की जैमिनीय शाखा का एक जैमिनीय-गृह्य-सूत्र है । उस के मन्त्र पाठ पर एक वृत्ति है । उस का एक हस्तलेख दक्षनन्द कोलेत्र के लालबन्द-पुस्तकालय में है । उस में हमें इस वृत्ति के कर्ता का नाम नहीं मिला । इस वृत्ति का आरम्भ निम्नलिखित प्रकार से है—

सकलभुवनैकमायं श्रीकृष्णं नौमि हरिमुमां च शिवं

गुरुमपि सुप्रह्लादं गजाननं भारतीं भवत्रातम् ।

प्रणिपत्य विष्णुमीळ्यं विदुरोपि कृपांबुधीन् समस्तगुरुन्
 गृह्यगतमन्त्रवृत्तिः करिष्यते जैमिनेस्तमचिनमसि त्वा ॥
 अरयुक्तानि दुरुक्तानि यान्यनुक्तानि च स्फुटम् ।
 समादधतु विद्वांसस्तानि सर्वाणि बुद्धिभिः ॥

इस वृत्ति में निम्नलिखित ग्रन्थ वा ग्रन्थकार उद्धृत हैं—

स्मृति	पृ० १, २
ब्राह्मण	१, २२
शौनके	२, ३
आश्वलायन	२
धृति	२, २०, २५
भाष्य = निरुक्त	१, ४५
यास्क	७, ८, ६
वाधूलक सूत्र	१३
पद्मपुराण	१४, १५
वराहपुराण	१६
योगवासिष्ठ	१६
सांख्य	२०
विष्णु स्मृति	२०

भवप्रातः जैमिनीय संप्रदाय का प्रसिद्ध आचार्य है। इस वृत्ति का कर्ता अपने प्रथम मण्डल श्लोक में उस का स्मरण करता है। अतः वह उस के पश्चात् ही हुआ होगा।

इस वृत्ति का कर्ता कोई वैष्णव प्रतीत होता है। यह उस का अर्थ देखने से ज्ञात हो जाएगा—

त्रिपादूर्ध्व इति । वासुदेव-संकरण-प्रयुक्तरूपैस्त्रिपात् ।^१

इससे ज्ञाते वह पद्मपुराण के अनेक श्लोक उद्धृत करता है—

पृ० ४१ पर विवृतर्पण के विषय में वह लिखता है—

। जैमिनिः सत्यो विप्रोदश मन्त्रा विगच्छन्त्यानीताः । जैमिनीः
 एषा सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।
 नाचार्यः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।
 एकैकशास्त्राभ्यासितः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

अर्थात्—जैमिनि सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।
 धा । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

जैसा पूर्वोक्त पाठ के देखने से पता लगता है, उसी प्रकार यह अन्य
 भी बहुत समुदा है ।

पृ० १४४—सायणोक्त उपवर्ग का जो श्लोक महा लिखित गया है,
 वह महाएक और वाकुः सोनोः पुराणों में मिलता है । देखो उनका लिखित-प्रकरण ।

पृ० १४०—(४) स्कन्द-महेश्वर अपनी निष्कामाभ्युदयिका १।१३॥ में
 एक पदवार आदेश का स्मरण करते हैं ।

पृ० २३१—वाक्यपदीय का प्रथम श्लोक तीसरे भाग के साधन समुदाय
 के कर्त्रधिकार का श्लोक ११६ है ।

५१	५२
५३	५४
५५	५६
५७	५८
५९	६०

। सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।
 । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

। सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।
 —सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

। सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

—सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

—सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः । सत्योऽर्कः ।

के यूयं स्थ । हे नरः मनुष्याकाराः श्रेष्ठतमा ये अतिशयेन प्रशस्या ये च आयय आयाताः स्थ । एकः एकः पृथक् स्वेन स्वेन अभ्येनेत्यर्थः । परमस्याः । परायत इति दूरनाम । परमं यद् दूरं तस्माद् दूरात् कुतोऽपीत्यर्थः ।

अर्थात्—वहाँ पर रयावाश्याख्यान और बृहदेवता में पढ़ा गया इतिहास कहा जाता है—रयावाश ब्रह्मचारी का पितृ-अर्चनना आनेय राजा रयवीति का ऋत्विक् था । एक समय बृहत्पुत्र यज्ञ के लिए आया और उसने राजा की कन्या को देखा । उस कन्या को उसने अपने पुत्र के लिए मांगा । राजा ने अपनी स्त्री की सम्मति लेकर इन्कार कर दिया । और कहा कि हमारा जामाता अपि ही होता है । आपका पुत्र अपि नहीं है । इस प्रकार इन्कार किए जाने पर यज्ञ के अन्त में वह अपने आश्रम को चला गया । रयावाश उस कन्या को चाहता था । वह हाथ में पात्र लिए हुए भिक्षा करता हुआ राजा तरन्त की भार्या शशीयती के घर गया । शशीयती उसका नाम और गोत्र पूछकर उसको अपने पति के पास ले गई । पति की आज्ञा से उसे बहुत सा धन, बकरियाँ, भेड़ें, गाएँ और घोड़े दिए । तरन्त ने भी गाएँ देकर अपने भाई पुरुमीठ के पास भेजा कि वह भी तुम्हें कुछ देगा । उसे वहाँ जाने का रास्ता भी बताया गया । इतने ही में राजा तरन्त को देखने के लिए मस्त आए । उन समानरूप वाले समान अवस्था वाले मस्तों को देखकर विस्मित हुआ रयावाश उन्हें पूछता है—

हे अत्यन्त श्रेष्ठमनुष्यो । आप कौन हो । आप पृथक्-पृथक् अपने-अपने घोड़ों से अत्यन्त दूर से आए हो ।

जिस आख्यान का स्कन्द ने उल्लेख किया है, वह बृहदेवता और किसी प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ में था । सायण ने इस सूक्त के भाष्य की भूमिका में कुछ श्लोक उद्धृत किए हैं, वे प्राचीन आख्यान-ग्रन्थ के हो सकते हैं । स्कन्द ने इन दोनों ग्रन्थों का भाव अपनी भाषा में लिखा है ।

उद्गीथभाष्य

उत्तरं सूक्तं 'बृहस्पते प्रथमम्' इत्येकादशर्चं ज्ञानस्तावकं बृह-
स्पतिराङ्गिरसो ददर्श । उक्तं च देवतानुक्रमणी ?.....
तज्ज्ञानमभितुष्टाव सूक्तेनाथ बृहस्पतिः ।' इति ।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः ।

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेक्षा तदेषां निहितं गुहाविः ॥

ऋ० १०।७।१॥

बृहस्पते । शरीरमात्मना स्थित्वाऽन्तरात्मानमामन्त्रयते
मन्त्रवक् । बृहस्पते मदीयान्तरात्मन् प्रथमं मुख्यं प्रधानमर्थज्ञानम् ।
ऋग्यजुस्सामादिलक्षणायाः अर्थज्ञानशून्यायाः सकाशात् । यच्चा-
ग्रम् । अग्रशब्दोऽत्रादिवचनः आभिभूतञ्च । वाचः प्रवृत्तौ निमि-
त्तभूतञ्चेत्यर्थः । यच्च प्र ऐरत प्रेरयन्ति शब्दोच्चारणकाले येन सहो-
च्चारयन्ति ब्राह्मणादयः पुरुषाः शब्दार्थज्ञानयोर्नित्यसम्यग्धत्वात् ।
नामधेयं ऋग्यजुस्सामादिलक्षणं नाम दधाना स्वमुखे मनसि वा
धारयन्तः । उच्चारयन्त इत्यर्थः । यच्च येषां नाम्नां सकाशात् श्रेष्ठ-
मतिशयेन प्रशस्यम् । यच्चारिप्रमासीत्पापं सदा भयति । पापापनो-
दमित्यर्थः । उक्तं च भगवता वासुदेवेन—

'न हि ज्ञानेन सहशं पवित्रमिह विद्यते ।' इति ।

प्रेक्षा प्रेम्णाऽतिप्रियत्वेन हेतुना तत् कार्यकारणस्वरूपज्ञान-
मेषां नाम्नां सम्यग्निधनि गुहा गूढे संवृत्ते मध्यदेशे निहितमभिधेय-
त्वेनावस्थापितं कारणात्मना आविः प्रकाशम् । तत्र भव-
त्विति शेषः ।

उक्तविशेषणविशिष्टं कार्यकारणविषयं सम्यग्ज्ञानं तद्योत्पद्य-
तामित्यर्थः ।

१—यह पाठ इररेवता ७।१०६ ॥ में मिलता है ।

२—भगवद्गीता ४।३८॥

अर्थात्—मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपने अन्तरात्मा को सम्बोधित करके कहता है कि हे अन्तरात्मा तुझे हृदय-गुहा में स्थित नमों के ऋषों के ज्ञान का प्रकाश हो। वह अर्थज्ञान सर्वप्रधान है। वाणी के उच्चारण में सहायक है। जिसके जाने बिना नामों का उच्चारण असम्भव है, जो नामों से अष्ट और पाप-रहित है। जो ज्ञेय से हृदय की गुहा से प्रकाशित होवे।

वेङ्कटमाधव का मध्यमभाष्य

सप्त स्वमृरूपीर्वावशानो विद्वान्मध्य उज्जभारा दशे कम् ।

अन्तयेमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वत्रिमविदत्पूषणस्य ॥

ऋ० १०।५।५॥

सप्त स्वमृरादित्यान् । दीप्तिरारोचमानाः कामयमानो विद्वान् । समुद्रोदकाद् उद्धृतवान् । सर्वेषामेव दर्शनार्थम् । कमिति पूरणम् । अन्तश्च तानि यमित्वातन्तरिक्षे । प्रज इच्छन् । प्रायच्छन् । पूषो-ऽस्याः पृथिव्याः पृथिव्यर्णे प्रायच्छदिति ॥

सप्त मर्यादाः कथयस्ततस्तुस्तासामेकामिदभ्यङ्कुरो गात् ।

आयोर्ह स्कंभ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥६॥

कामजेभ्यः कोधजेभ्यश्चोद्धृताः—पानमक्षाः स्त्रियो मृगया दण्डवारुण्यं वाक्वारुण्यमर्थदूषणमिति सप्त मर्यादाः । कथयः कृत-चन्तः । तासामेकमेव पापवानभिगच्छति पुरुषस्तस्य मनुष्योत्तम-कोऽग्निः । समीपभूतस्य आयोर्नीले रश्मीनां विसर्गे अन्तरिक्षे मध्यं उदकेषु तिष्ठति । यापयुक्तस्याप्यग्निस्तत उत्तममेव भवतीति ॥^१

अर्थात्—यजमानों से कामना किया हुए प्रदीप्त विद्वान् अग्नि ने लोगों के देखने के लिए सूर्य की सात रश्मियों को समुद्र से ऊपर ले जाकर अन्तरिक्ष में स्थापित किया। और पृथिवी को उज्ज्वलरूप दिया।

काम और कोध से उत्पन्न हुए दोष, मरुपान, जुग्मा, स्त्रियो, मृगया, दण्ड-

पाक्य, वाक्पाक्य और अर्थद्वय, ये सात मर्यादाएँ विद्वानों ने स्थिर की हैं। जो पानी मनुष्य उनमें से एक को भी करता है अग्नि उसको दण्ड देता है।

अग्नि का स्थान वायु, सूर्य रश्मि, अन्तरिक्ष और जलों में है। इसलिए तत्परस्थानों में गए हुए को भी वह दण्ड दिए बिना नहीं छोड़ता।

रावण-भाष्य

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्मम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥

१०।१२६।१॥

अधेतस्य प्रभोत्तरस्य प्रतिपादिकां श्रुतिमाह नासद् इति । अनपा सृष्टेः प्राद् निरस्तसमस्तप्रपञ्चलयावस्था निरूप्यते । प्रलय-दशायामवस्थितं यदस्य जगतो मूलकारणं तदसच्छ्रवणविपाणवन्नी-रुपाख्यं नासीत् । नहि तादृशात्कारणादस्य सतो जगत उत्पत्तिः सम्भवति । तथा नो सदासीत् । परमार्थसतः परमात्मनोऽन्य-त्सदस्तीत्युच्यमाने द्वैतत्वप्रसङ्गः । नापि व्यवहारसत् । अग्रे व्यवहाराभावस्य यदयमाख्यात् । तस्मादुभयविलक्षणमनिर्वाच्य-मेवासीदित्यर्थः । अथ व्यावहारिकसत्त्वं निषेधति—तदानीमिति । ‘लोका रजांस्युच्यन्ते’ इति यास्कः । अत्र सामान्यापेक्षमे-कवचनम् । एवं व्यवहारसत्ता पृथिव्यादीनामभावादित्यर्थः । तथा व्योमान्तरिक्षं तदपि नासीत् । पर इति सकारान्तं परस्तादि-त्यर्थं वर्तते । व्योमः परस्ताद्गुलोकप्रभृतिसत्यलोकान्तं यदस्ति तदपि नासीदित्यर्थः । अनेन ब्रह्माण्डमपि निषिद्धं भवति । यत् एतद्भासमानं भूतजातं पूर्वं नासीत् । किन्तु शुक्तिकारजतवन्मध्ये एवोत्पन्नमिति धृत्या निरूपितम् । नत्वासीदिति धातोस्तदानीमि-त्यव्यपस्य च भूतकालवाचित्वाद् व्योमादीनामसम्भवेपि किञ्चित्काल आसीदिति चेन्न । “आनीदधातम्” इति धृत्या तस्यापि निषेधात् । अतः सकलमपि दृश्यजातं प्राङ्निरूपितसदसद्विलक्षणोपादानकं

प्रातिभासिकमिति पर्यवसन्नम् । अथैतस्य ज्ञानैकनाशयत्वेन प्रातिभासिकत्वं दृढीकुर्वन्नाह—‘किमावरीष’ इति । प्रागुक्तं दृश्य-जातं शर्मन्निति शर्मण्ययाधिते ब्रह्मणि किमावरीषः किमावरक भवति वा नेत्यर्थः । अनेन यत्सदसद्विलक्षणमासीत्तस्याश्रयाव्यामोहक-मित्युक्तम् । यथा कुहकस्यैन्द्रजालिकस्य गहनं गम्भीरमज्ञोभ्य-मम्भस्तेन मायया रचितमम्भोमय एवोत्पन्नं सत्कुहकस्यावरकं भवति वा नेत्यर्थः ।

अर्थात्—इस प्रश्नोत्तर की प्रतिपादक ‘नाशद्’ यह धृति प्रमाण है । इस में सृष्टि के पूर्व की समस्त प्रवृत्तियों से हीन प्रलयावस्था का निरूपण किया गया है । प्रश्न होता है कि क्या प्रलयावस्था में स्थित इस भावरूप जगत् का मूल कारण अस्त, जो शराश्रंग के सदृश अल्पन्ताभाव रूप है, वह था ? अथवा सर्वावस्था में विद्यमान परमात्मा से पृथक् कोई सत् या ? या व्यवहार दशा में सद् रूप कोई वस्तु थी ? । उत्तर—अभाव भाव का कारण नहीं हो सकता और न ही परमात्मा से भिन्न कोई दूसरी सद्बस्तु ही हो सकती है । क्योंकि परमात्मा को अद्वैत कहा गया है । इस की सत्ता में परमात्मा अद्वैत नहीं रहता । तथा व्यवहार दशा में भी कोई सद्बस्तु कारण नहीं हो सकती है । कारण, कि आगे जाकर व्यवहार दशा को भी अभाव ही कहा जाएगा । इस लिए अब यह समझना चाहिए कि प्रलयावस्था में जगत् का मूल कारण अस्त अथवा सत् से विलक्षण अवश्य कोई तीसरा ही कारण था । ‘तदानीं’ इस से व्यवहार दशा में सद् वस्तु का खड्गन है । उस समय न हो पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था, और न ही सुलोक । फलतः यह सार ब्रह्मण्ड ही न था । हाँ सिन्धी में रजत की भांति धृति में उत्पत्ति जरूर कही गई है । भूतकालिक ‘आसीत्’ क्रिया से और वर्तमानकाल बोधक ‘तदानीं’ अव्यय-पद से काल की सत्ता अवश्य सिद्ध होती है । तो काल ही कारण क्यों न माना जाय । इस का उत्तर ‘आनीदवातम्’ धृति से मिल जाता है । तात्पर्य, उक्त सदसद्वाद से विलक्षण आभासरूप कोई तीसरा ही कारण बराबर जगत् का उत्पादन करण है । पहले यह कहा गया है कि जगत् का कारण प्राति-भास है परन्तु आभास अज्ञानजन्य होता है । और ज्ञान पर परदा पड़े बिना

अज्ञान नहीं हो सकता। अतः हम पूछते हैं कि क्या यह संकल जगत् ब्रह्म में किसी आवरण से ढिंका था, या नहीं? इस से तो यह सिद्ध होता है कि जैसे ऐन्द्र-जालिक अपनी भूरी माया से पानी उत्पन्न कर के उस से स्निप सा जाता है परन्तु वह उसका यथार्थ आवरण नहीं कहा जाता, इसी तरह यह आभास भी अपने आश्रय ब्रह्म का सन्देहजनक है।

मुद्रल भाष्य

पञ्चमे मण्डले त्वामग्ने हविष्मन्त इति सप्तर्वे नवमं सूक्तम् ।
आग्नेय ऋषिः । सप्तमीपञ्चम्यौ पङ्क्ती । शिष्टा अनुष्टुभः ।
अग्निदेवता ।

त्वामग्न हविष्मन्तो देवं मर्तास ईळते ।

मन्ये त्वा जातवेदसं स हव्या वक्ष्यानुपक् ॥ ५।६।१॥

हे अग्ने त्वां देवं दीप्यमानं हविष्मन्तो होमद्रव्यसमेता मर्तासो मर्त्या ईलते स्तुयन्ति । अहं च जातवेदसं जातं वेदो धनं यस्यासौ जातवेदाः तमेवंविधं त्वा त्वां मन्ये स्तौमि । स त्वं हव्यवाहनसाधनानि हवींषि आनुपक् निरुत्तरतयाऽऽनुपक्कं यथा तथा वक्षि यद्वसि ।^१

अर्थात्—यह वेदान्तमंत पांचवें मण्डल का सात ऋचाओं का नवां सूक्त है। इसका ऋषि आग्नेय, पांचवीं सातवीं ऋचाओं का छन्द पंक्ति और शेष का अनुष्टुप् और अग्नि देवता है।

हे अग्ने यह यजमान लोग हवन-सामग्री लिए दीप्ति युक्त वाले आपकी स्तुति करते हैं। परन्तु मैं धन बल युक्त की स्तुति करता हूँ। यह देवताओं के लिए सदा हवियां ले जाया करते हैं।

आनन्दबोधभट्ट-भाष्य

अग्निप्रकरणं समाप्तं । अथ सौत्रामणी त्रिभिरध्यायैः प्रक्रियते । अग्न्यंगत्वात् सौत्रामण्यनंतरमुपक्रमः । तत्र प्रजापतिर्यज्ञमसृजतेत्युपक्रम्य सौत्रामणीमित्यादिना विस्तरेण प्रतिपाद्यते । स एतं महाकृतमुपश्यत् सौत्रामणीमिति श्रुतेः । सौत्रामण्याः प्रजापति ऋषिः । यथापरमिदं भैषज्यार्थं अश्विनौ च सरस्वती च सौत्रामणी ददधुरिति । अतो अश्विनोः सरस्वत्याभ्यार्षमिति । तत्र सुरा संधीयते ।

स्वादीं त्वा स्वादुना तीव्रां तीव्रेणामृताममृतेन मधुमतीं मधुमता सृजामि स० सोमेन । सोमोऽस्यश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ॥१॥

स्वादीं त्वेति । सुरादेवत्यानुष्टुप् । सोमोस्यादीनि चत्वारि सौराणि यजूंषि । स्वादीं त्वा । स्वादु रुचिकरं तेन स्वादुना मिष्टेन स्वादीं स्वादुरसोपेताम् । तीव्रेण । तीव्रशब्दः पटुयचनः शीघ्रमदजनकः । तेन तीव्रेण पटुरसेन तीव्रां । अमृतेन अमृतरसेन अमृताम् । मधुमतीं मधुररसोपेतां मधुमतीं सुरां त्वां सोमेन सोमरसेन स० सृजामि । यतस्त्वं सोमोऽसि । अतस्त्वां प्रवीमि । सोमस्त्वमश्विभ्यामश्विनोरथे पच्यस्व । अत्र पाको विपरिणामः । तथा सरस्वत्यै सरस्वत्यर्थे पच्यस्व । इन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व ।

अग्निवदन प्रकरण की समाप्ति के अनन्तर अब तीन अध्यायों में सौत्रामणी का प्रारम्भ किया जाता है । क्योंकि अग्निवदन सौत्रामणी का अङ्ग है अतः उसका आख्यान पहले करना समुचित था । सौत्रामणी के ऋषि प्रजापति अग्नि और सरस्वती हैं । उस में सुरा का सन्धान किया जाता है । इस मन्त्र में देवता सुरा है, इन्द्र अनुष्टुप् और चार सौर यजु हैं । स्वादु, रुचिकर, पटु, चरपरी होने से शीघ्र मदकारी, अमृत तुल्य मीठी सुरा को सोमरस के सदृश

गमकता हूँ । नहीं, नहीं यह साक्षात् सोम ही है । इस लिये तू, अग्नि, सरस्वती और सुत्रामा इन्द्र के लिए पाक है ।

कालनायकृत यजुर्मञ्जरी

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च
स्वाहा ॥

द्वितीयं जुहोति । अत्र सूर्यः परापररूपेणायस्थितः स्तूयते । उदयकालादारभ्य तावदपररूपेण स्तूयते । चित्रमिति क्रियाविशेष-
णम् । चित्रं यथा स्यात्तथा उदगात् । आश्चर्यं स्वकीयेन ज्योतिषा
शार्बरं तमोऽपहृत्यान्वेष्टां च ज्योतिरादायोदगच्छति । देवानां
रश्मीनामनीकं मुखं । यच्चक्षुर्नेत्रं मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । उपलक्षणं
चेततः सर्वस्यापि सदेवमनुष्यस्य जगतः । आदित्योदये हि
रूपाण्यवयवज्यन्ते एतन्मण्डलाभिप्रायेण.....सकलित्वतयोच्यते ।
द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तरिक्षं च आप्राः.....

उदयसमनन्तरमेव स्वकीयेन ज्योतिषा पूरितवान् । अथ
पररूपेण स्तौति । पुरुषपरत्वेनोच्यते । जगतो जङ्गमस्य तस्थुषश्च
स्यावरस्य च मध्यवर्ती सूर्य आत्मा । स्वरूपमात्मत्वेनोपास्य
इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः--'यमेवमादित्ये पुरुषं वेदयन्ते स
इन्द्रः' । स प्रजापतिस्तद्ब्रह्म इति । एवं तावदधियज्ञगतोऽप्ययं
मन्त्रोऽधिदैवमानवष्टे । अस्य मन्त्रस्याङ्गिरस ऋषिः सूर्यो देवता
त्रिष्टुप् छन्दः । व्रीहितंङलानां पयसाक्लानां शतसहस्रं जुहुयात् ।
सर्वाति.....महाव्याहृतिवत्कर्म ।'

अर्थात्—इस मन्त्र से दूसरी आहुति दी जाती है । सूर्य के उदय की
महिमा और आत्मभाव का इस में वर्णन है । अहो आश्चर्य है सूर्य रात्रि के अन्ध-
कार को दूर कर समस्त तारा गणों के प्रकाश को ले उदित हुआ है । रश्मियों का

पुत्र है। मित्र, वसुष् और अग्नि का ही प्रकाशमय नेत्र नहीं है वरन् सारे ही देव मनुष्यमय संसार का नेत्र है। इस के उदित होते ही सम्स्त पदार्थों का प्रत्यक्ष हो जाता है। पृथिवी लोक अन्तरिक्ष लोक और ए लोक प्रकाश से पूरित हो जाते हैं।

यह ही सूर्य स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टि का आत्मा है। भुक्ति भी आदित्य में रहने वाले पुरुष को इन्द्र, प्रजापति, ब्रह्म के भाव से प्रतिपादन करती है। अतः यज्ञ विषयक होता हुआ भी यह मन्त्र अधिदैव सम्बन्धी अर्थ का प्रतिपादक है। इस का ऋषि अग्निः, देवता सूर्य और छन्द मिष्टर है। पायस से एक लक्ष आहुतियाँ देकर शेष सारा कर्म महाशाहति होम के समान समझना चाहिए।

मुरारिमिश्र का पारस्कर मन्त्र-भाष्य

अयाश्वाग्ने ऽस्यनभिश्शस्तिपाश्च सत्यमित्त्वमयासि।

अया नो यज्ञं वह्नास्यया नो धेहि भेषजम्॥

अयाश्वाग्ने इत्यादि माध्यन्दिनीयान्तर्गतः शास्त्रान्तरीयो मन्त्रः। माध्यन्दिन-शाखायाः कर्मणि गृहीतः। अस्यार्थो विविच्यते। प्रथमप्रसिद्धत्वात्। हे अग्ने त्वं अयाः असि। भवसि। या प्रापणे। न यातीत्ययाः। नित्यं सर्वत्र बाह्याभ्यन्तरेषु स्थितः। त्वमग्ने शुभिः [यजुः ११। २७॥] इत्यादिभुक्तेः। यद्वा। अय गतौ। अयते सर्वत्र गच्छति। सर्वं जानाति वेत्ययाः। असुन्। अग्निः प्रियेषु धामसु [यजुः १२। ११७॥] इत्यादि भुक्तिः। यद्वै जात इदं सर्वमयुवत तस्माद्यष्टिष्ठः [शत० ७। १। २५३॥] इति। धामानि त्रीणि भवन्ति।^१ नामानि स्थानानि तेज्जांसीति च नैरुक्ताः। यदि वा। अयः शुभावहो विधिः।^२ तत्प्रतिपादकः। कथंभूतः। अनभिश्शस्तिपाः। न अभिशस्तिं पातीति अनभिश्शस्तिपाः। शंसु प्रमादे।

१—पुतना करो निरुक्त ६। २८॥

२—अमरकोश १। ४। २७॥

शंसु हिंसायां । अभिलषीकृत्य सर्वतोभावेन शंसनं प्रमादजोऽधर्मो-
ऽभिशापोपवाद् । सोऽभिशस्तिः । अभिशंसनं हिंसनं वाऽभिश-
स्तिः । स्त्रिषां क्रिः । न अभिशस्तिरनभिशस्तिः । तथा विशिष्टं
कृत्वा पातीति अनभिशस्तिपाः । यदि वा । न विद्यते अभिशस्तिः
शापो येषां ते अनभिशस्तयः । तान् पाति रक्षतीति । धृतिरपि-
अनाधृष्टमसि [यजु० ५ । ५ ॥] इत्यादि । अग्निरूपेणाज्यमुच्यते ।
हे यह्निरूपाज्य आज्यैः शपथकारिभिः रथं अनाधृष्टं अनाध्वितं
अनुल्लंघनीयं भवसि ।

पूर्वैः इदानीन्तरपि । अनाधृष्टं अनुल्लंघनीयं । किं च ।
देवानां तेजो भवति । अनभिशस्तिपाः । अभिपूर्वैः शंसतिर्गर्हायां
वर्तते । न विद्यते अभिशस्तिर्यस्य तां पातीति । अभिशस्तेः
परिरक्षतीत्यभिशस्तिपाः । अनभिशस्ते स्थाने स्वर्गे नयतीत्यनभि-
शस्तेन्यं तत् अनभिशस्तेन्यं । अंजसा प्रगुणेन मार्गेण यथा
स्वरूपं । सत्यं नित्यं ब्रह्म । उपगोषं । उपगच्छेयमहं । अनेनैव
सत्येन । स्विते मा धाः । सु इते साधुगते कल्याणवति लोके । नाके ।
मा मां । अधाः । निषेहि धारय ॥ हे अग्ने सत्यं तथ्यं । इत् पघार्थं ।
सत्यमेव । शयाः । शुभावहः असि । भवसि । पुनर्वचनं वाङ्मार्थं ।
पुनरप्ययाः कर्मप्रतिपादने समर्थः । कुशलः । नोऽस्माकं यज्ञं
यज्ञसंपादनीयं यस्तु हविः पुरोडाशादि । वहति यदसि । पर्णा-
गमः । डाच् वा । देवेभ्यः प्रार्थयसि तानित्यर्थः । पुनः पुनर्वचनं-
भूयांसमर्थं मन्यन्ते । अग्निर्ज्योतिर्वत् । अयाः सुमनाः प्रसन्नो
भूत्वा नोऽस्मभ्यं देहि देहि । मेपजं सुखोऽशादकमौषधमिष्टलक्षणं ।
मेष्टु भये । मेपन्ति मेपन्ते वा । विभ्यत्यस्मादिति भेषः श्वास-
जनको रोगोऽधर्मादिस्तं जूनयतीति भेषजं । अधया अयवयेत्यादि
गत्यर्थे वंडको धातुः । अयाः । यज्ञं प्रति निष्पादनाय गन्ता ।
कर्मफलस्य साक्षित्वेन पाता वा ।

अर्थात् — यह मन्त्र माध्यन्दिनीय शास्त्रा की अशान्तर शास्त्रा में आया

हुआ माघ्यन्दिनी शाखा के कर्म में प्रयुक्त हुआ है। अथाः शब्द को भिन्न भिन्न धातुओं से बना हुआ मान कर भिन्न २ अर्थ होते हैं। हे अग्निदेव ! तुम सब जगह जाने वाले वा सब कुछ जानने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! तुम (सब के लिए) कर्मकाण्डकारक हो। हे अग्निदेव ! तुम हिंसारहित आचरण से (सब की) रक्षा करने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! जो सापरहित जीव हैं, उन की तुम रक्षा करने वाले हो। अथवा हे अग्निदेव ! तुम निन्दारहित जीवों की रक्षा करने वाले हो। हे अग्निदेव ! तुम सचमुच कल्याणकारक हो। तुम ही हमारे यश के पुरोकाश आदि पदार्थों को इष्टदेवताओं के पास पहुंचाते हो। आप प्रसन्न होकर हम सुखोत्पादक औपध दें।

वेङ्कटेश भाष्य

सावित्राणि जुहोति प्रसूत्यै चतुर्गृहीतेन जुहोति चतुष्पादः पशवः पशूनेषाव रुन्धे चतस्रो दिशो दिक्ष्वेव प्रति तिष्ठति छन्दाश्चिं देवेभ्योवाक्रामन् वांऽभागानि हव्यं वक्ष्याम इति तेभ्य एतच्चतुर्गृहीतमधारयन् पुरोनुवाक्यायै याज्यायै देवतायै वषट्काराय यच्चतुर्गृहीतं जुहोति छन्दाश्च्येध तान्यस्य प्रीणाति देवेभ्यो हव्यं वहन्ति यं कामयेत ॥'

उत्तां संभरतः सावित्रहोमं विदधाति-सावित्राणीति । सावित्राणि जुहोति सावित्रैर्मन्त्रैरेकामाहुतिं जुहोति । मन्त्रबहुत्वाभिप्रायं यदुपचनम् । प्रसूत्यै अनुष्ठानाय सावित्रानुष्ठानं यथा स्यादिति । चतुर्गृहीतेनेत्यादि । गतम् ।

छन्दांसीति । गायत्रीत्रिष्टुप्जगत्यनुष्टुप् रूपाणि चः युष्माकं भागानि वयं हव्यं च ययं न वक्ष्याम इति देवेभ्यः सकाशादयाक्रामन् । तेभ्यः छन्दोभ्य एतच्चतुर्गृहीतमधारयन् छन्दोर्थं पर्यकल्पयन् । किं पुरोनुवाक्यादिभ्यश्च [तुभ्यः] यच्चतुर्गृहीतं तद्

गायत्र्याद्यर्थमधारयन् । सर्वत्र हि पुरोनुवाक्यादिभ्यश्चतुर्गृहीते
इदमिदानीं छन्दोभ्य इति । तस्मात् चतुर्गृहीतस्य होमः छन्दसां
प्रीणनार्थं भवति । तानि च मीतान्यस्य यजमानस्य देवेभ्यो
हव्यं यद्वन्ति ।

यं कामयेतेत्यादि । यं यजमानः.....पापीयान् स्यादित्य-
ध्वर्युः कामयेत्..... ।

अर्थात् —‘सावित्राणि’ इत्यादि मन्त्रों से उच्चासम्भरण में सावित्र होम का विधान है । सावित्र मन्त्र बहुत है । उन सब से सविर्गुरु की अनुमति के लिए एक २ आहुति दी जाती है । ‘चतुर्गृहीतेन’ से लेकर ‘प्रति तिष्ठति’ तक का व्याख्यान हो चुका है । देवताओं के भाग और हवि को हम नहीं ले जाएंगे, यह कह कर गायत्री आदि चार छन्द देवताओं के समीप से भाग गए । तब उन छन्दों के निमित्त देवताओं ने चतुर्गृहीत हवि को दिया । क्या यह वही हवि है जो पुरोनुवाक्यादि आदि चारों को दी जाती थी । उत्तर-हां सर्वत्र चतुर्गृहीत हवि का जो पुरोनुवाक्यादि आदि के लिए विधान किया गया है, वह सब छन्दों की प्रसन्नता के लिए जानना चाहिए । चतुर्गृहीत हवि से प्रसन्न हुए छन्द यजमान की दी हवियों को देवताओं के पास ले जाते हैं । यजमान जिस को अध्वर्यु द्वारा यह पापी होने ऐसी खनना करे..... ।

मयूरेश का यदङ्गरुद्रभाष्य

अथ रुद्रांगत्वेन हरिहरयोरभेदं दर्शयितुं पुरुषसूक्तं व्याख्या-
स्यामः ।

सहस्रशीर्षा पुण्यः सहस्राक्षः सहस्रपाद् ।

स भूमिर्ध्वं सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठदराङ्गुलम् ॥

सहस्रशीर्षा । सहस्रशब्दो बहुत्ववाची । संख्यावाचकत्वे सहस्राक्ष इति विरोधः स्यात् । नेत्रसहस्रद्वयेन भाष्यम् । ततः सहस्रमसंख्यातानि शीर्षाणि यस्य सः । ‘शीर्षञ्छन्दसि [१।१।६०॥] इति शीर्षशब्दस्य शीर्षादेशः । शीर्षग्रहणं सर्वावयवोपलक्षणम्

यानि सर्वप्रणिनां शि तंति तानि सर्वाणि तद्देहान्तः पातित्यात्स्य-
येति सहस्रशीर्षस्यम् । एवमप्रेषि । सहस्रान्तः सहस्रमन्त्रीणि यस्य
सः । अक्षिग्रहणं सर्वज्ञानेन्द्रियोपलक्षणम् । सहस्रगात् सहस्रं पादा
यस्य । 'संयवासुपूर्वस्य [१३।१४०]' इति पादस्यान्त्यलोपः । पाद-
ग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षणम् । स पुरुषो भूमिं ब्रह्माण्डलोककक्षां
सर्वतस्त्रिगुणैर्मध्यस्थः । स्पृष्ट्वा व्याप्य । दशांगुलपरिमितं देशम् ।
अत्यतिष्ठद् अतिक्रम्यावस्थितः । दशांगुलमित्युपलक्षणम् । ब्रह्मा-
ण्डाद्बहिरपि सर्वतो व्याप्यावस्थित इत्यर्थः । यद्वा । नामैः सका-
शादशांगुलमतिक्रम्य हृदि स्थितः । नाभित इति कुतो लभ्यते ।
कतम आत्मेत्युपक्रम्य योऽयं विज्ञानमयः माणेषु ह्यंतर्ज्योतिरिति
श्रुतेः ॥ विज्ञानात्मनो हृद्यवस्थानं कर्मकलोपभोगाय अंतर्ज्योतिषो
नित्यं त्व(त)त्वेन । तदुक्तम्—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृत्तं परिपश्यताते ।

तयोरभ्यः पिप्पलं स्वाह्वयन्तश्नन्नस्यो अभिवाकशीति ॥ इति

[ऋ० १।१६४।२०॥]

स पुरुषोत्र देवता । तथा च श्रुतिः—

इमे वै लोकाः पूरयमेव पुरुषो योयं पथते सोस्यां पुरि शेते
तस्मात्पुरुष [शत० १३।१।२॥] इति ॥

अर्थात्—रुद्राज होने के कारण हरि तथा हर में अनेकभाव को दर्शाने
के लिए पुरुष मूक्त का आश्रय किया जाता है ।

मन्त्रमन्त सहस्र शब्द को बहुत अर्थ का ही बोधक मानना चाहिए ।

यदि सहस्रर्षक्ष वाचक मानें तो 'सहस्राक्षः' इस में विरोध आता है । क्योंकि
त्रिग के सहस्र शिर हांगे उस की दो सहस्र आंखें होनी चाहिएं । इस लिए
सहस्रशीर्षा शब्द का यह अर्थ हुआ कि जिस के सहस्र अर्थात् अक्षरों शिर हैं,
वह अक्षरित शिरों वाला । यही पर शीर्ष शब्द अर्थात् शिरों का सूचक है । समस्त
प्रणिषों के जो शिर हैं, वे सब उनी पुष्ट के हैं । क्योंकि वह सब के आन्दर
वियमान रहता है । इसी प्रकार आगे की भी प्रगति होती है । सहस्राक्षः, अक्षरों

आसों वाला । अक्षिशब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों को बोधित करता है । सहस्र-
पात्, असंख्य पादों वाला । पादशब्द कर्मेन्द्रियों को बताता है । इस प्रकार का
बहु पुरुष पृथ्वी अर्थात् ब्रह्माण्डलोकलोक को तिर्यक्, ऊर्ध्व, तथा अधः समस्त
मार्गोंसे व्याप्त कर के 'दशंगुलम्' अर्थात् ब्रह्माण्ड के बाहर तक भी सब
ओर से व्याप्त कर के स्थित है । अथवा नाभि से ऊपर की ओर दश
अंगुल परिमाण के स्थान तक व्याप्त होकर ज्योति स्वरूप से हृदय में स्थित है ।

माधव साम-विवरण

अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये ।

नि होता सरिस वह्निषि ॥

साम । १ । १२ ॥

भरद्वाजस्वयम् । हे अग्ने आयाहि आगच्छ । किमर्थे
पुनरागच्छामि । उच्यते । वीतये । भक्षणयेत्यर्थः । कस्य ? साम-
ध्यांश्चविषाम् । प्रत्येव गृणानः स्तूयमानः । हव्यदातये । हविर्दाना-
र्थमित्यर्थः । नि होता । नीत्ययमुपसर्गः सत्सीत्याख्यातेन सम्बन्ध-
यितव्यः । होता आह्वाता । केयाम् ? देवानामित्यभ्याहारः । निपरिस
निपीदेत्यर्थः । क पुनर्निपीदामि । उच्यते । वह्निषि । यत्रास्तीर्णं वह्नि-
स्तथेत्यर्थः ।

अर्थान्—इस मन्त्र का अर्थ भरद्वाज है । हे अग्नि तुम हमारे, यहाँ
आओ । यदि पूछो कि किस लिए आऊँ तो उत्तर यही है कि हवियों के खाने के
लिए । हम आपकी स्तुति करते हैं । हमें हवियाँ दीजिए और हमारे बिछाए हुए
दर्भों पर आकर बैठिए ।

विवरण में त्रैया पाठ था तदनुसार ही अर्थ किया गया है । विवरण के
पाठ में कुछ अशुद्धि प्रतीत होती है ।

जमिनिगृह्यमन्त्रवृत्ति

इदं भूमेर्भजामह इदं भद्रं सुमङ्गलम् ।

परा सपत्नान् बाधस्वान्येषां विन्दते धनम् ॥

मन्त्र ब्राह्मण २।४।१॥

अथ भूम्यास्मजयः । प्रजापतिरनुष्टुप्छन्दः । भूमिर्देवता । इदं भूमेरिति । एकवाक्यताप्रसिद्धयर्थं यत्तच्छब्दावस्थादायौ । हे भूमे तव भूमेः पृथिव्याः एकदेशं इदं भागं भजामहे । देवयजनार्थमिति शेषः । यदिदं भागं भद्रं भजनीयं सुमङ्गलं कस्याणं च भवेत् भजताम् । अथवा अस्मिन् भूभागे आरब्धं कर्म इदं करिष्यमाणं भद्रं सुमङ्गलं च भवेत् । परा सपत्नान् बाधस्व । सा त्वं सपत्नान् परा बाधस्व । येऽन्येषामस्माकं च धनं पार्थिवं हिरण्यदि-कर्मफलं वा विन्दते विन्दन्ते अपहरन्ति तांश्च पराबाधस्व विनाशयेत्यर्थः ।

अर्थात्—हे भूमे तूरे इस [वेदी के] देश में हम यज्ञ के लिए भाग लेते हैं । यह तेरा देश भद्र और कल्याण वाला है । अथवा इस वेदी प्रदेश में आरम्भ किया गया वा किया जाने वाला कर्म भद्र और कल्याण वाला हो । जो हमारा वा दूसरों का भनादि हरण करते हैं उन्हें नारा करो ।

वारुच निरुक्त समुच्चय

ब्रह्म जज्ञानं मयमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो देन आवः ।

स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च विवः ॥^१

[यजु० १३।३॥]

सर्वमन्त्रप्रव्याख्यानं प्रथममार्गकथनं कर्तव्यम् । मत्स्यानां जातमापन्नानामेतदार्थं वेदयन्त इति । अत्र प्रदर्शितम् । नकुलो नाम ऋषिः । आदित्यो देवता । तथा हि शौनकर्यदिदर्शनम्—

यस्य चाक्षयं स ऋषिः ।^१ या तेनोच्यते सा देवता । इति ।

धर्माभिष्टवनेऽस्य विनियोगः । परोक्षकृतोऽयं विनियोगः ।

परोक्षकृतोऽयं मन्त्रः मधमपुरुषयोगात् ।

मन्त्र । नामानि सर्वाणि सामान्येनाख्यातजानि हि नैरुक्त-
समयत्वात् क्रियायोगमङ्गीकृत्य प्रयोगः । तथा हि—

तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च
[निरुक्त १।१२॥] इति ।

वृद्धं वृद्धं वृद्धी । इति । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति मनिन्
मत्पयान्तस्य एतद्रूपम् । सर्वतः परिधृङ्त्वात् ब्रह्मशब्देनादित्य-
मण्डलमुच्यते । सर्वस्य हि भुवनस्य तदाधाररूपे स्थितिरित्युप-
निषत्सु गीयते—मण्डले हीदं जगत्प्रतिष्ठितमिति ।

जहानं इति जायमानं उत्पद्यमानमित्यर्थः । प्रथममिति मुख्य-
मुच्यते । अन्येषां तेजसाम् । तथा च स्मरणम्—

ब्राह्मणो वा मनुष्याणामादित्यः तेजसामिव ।

शिरो वा सर्वगात्राणां धर्माणां सत्यमुत्तमम् ॥ इति

पुरस्तात् पूर्वतः । कस्य । सामर्थ्यात् जगदुत्पत्तेः । अथवा
प्रत्यहमुदयास्तमङ्गीकृत्याह पुरस्तात् । पूर्वस्यां दिशि । पूर्वमेव
या सर्वप्राणिनामुत्थानात् । वि इत्ययमुपसर्ग आषः इत्याख्यातेन
सम्बध्यते । कुत एतत्—

अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् ।

इत्यभियुक्तोपदेशात् ।

न निर्वद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुः [निरुक्त १।१३॥] इति
निरुक्तमाध्यकारवचनाच्च । सीमतः । सीमशब्दः सर्वादियु पठितः ।
विभक्तिव्यत्ययेन सप्तम्येकवचनं द्रष्टव्यम् । कुत एतज्जयते । सुपां

१—ये दोनो पत्र आयाबनकृत ऋक्षसर्वानुक्रमणी के परिभाषा प्रकरण में
मिलते हैं । देखो २।४।१॥ अन्य अनेक ग्रन्थकार भी इन्हें सौनक के
नाम से ही उद्धृत करते हैं । इसका अर्थ जानना चाहिए ।

सुप आदेशो भवतीति वैयाकरणस्मरणात् ।

यथार्थं विभक्तीः सन्नमयेत् [निरुक्त २।१॥] इति निरुक्त-
कार्यचनाञ्च । सिम् अस्मिन् जगति । अथवा सीमशब्दः सीमा-
पर्यायः । अस्मिन् पक्षे आकारो मर्यादार्थ आहर्तव्यः । आ सीमतः
सर्वस्य सीमारूपंणायस्थितो लोकालोकपर्वतः । आ लोकालोक-
पर्वत इत्यर्थः । गुरुः रश्मयः । सुरोच्चमानत्वात् सुदीप्तान् रश्मीन्
सहस्रसंख्यातान् । वेनः । सुसिद्धप्रहलिङ्गनराणाम् इति लिङ्गव्यत्ययः ।
वेनं । वेनतिः कान्तिकर्मा । कान्तार्थः । कस्य । सर्वस्य भूतजातस्य ।
आवः वृद्धं वरण इत्यस्य लिङि ह्यन्तसमेतत् रूपम् । विशब्दस्यात्र
समन्वयः व्यवृणोत् । विवृण्वान् विस्पष्टवानित्यर्थः । न केवलं
रश्मिविसर्गमेयाकरोत् । किं तर्हि । यः लिङ्गव्यत्ययः । तत्
अथवा मण्डलमध्यस्थः पुरुषोऽभिधीयते । स आदित्यः । बुध्याः
बुधमन्तर्गितम् । यज्ञा अस्मिन् धृता आप इति । तत्र भवा बुध्याः
दिश उच्यन्ते । तथा च स्मरणम्—

ताभ्यां स शकलाभ्यां तु दिवं भूमिं च निर्ममे ।

मध्ये स्योम दिशश्चाष्टावशां स्थानं च शश्वतम् ॥ इति

[मनु० १।१३॥]

उपमाः । उप इत्यन्तिकनाम । परितो भूता अस्य आदित्यस्य
सर्वस्य या जगतः । सर्वस्य समीपोलब्धेः विशः विष्टभ्य स्थात्रीः ।
अष्टावपि दिशो विवृताः करोतीत्यर्थः । उत्तरच योनिं विद्यमानस्य
वस्तुनः स्तम्भकुम्भादेः योनिं अथतरच अविद्यमानस्य योनिं ।
वेतेर्वनिप्रत्ययान्तस्य वर्णव्यापरादिना योनिशब्दो निरुक्तः ।
योनिमवगतिं विवः विवृणोत् । व्यवृणोत् प्रकाशितवानित्यर्थः ।
किमिदमुच्यते । यावत् खलु भगवत आदित्यस्य तेजसा न
व्यामियते । भुवनमण्डले तावत् सदसद्भावी न व्यासज्येत । व्यापृते
तु घटोऽस्ति न वेति चक्रेण भयति । अतः सत्यमसत्यं च
व्यञ्जितवानित्यर्थः ।

अर्थात्—सब मन्त्रों के व्याख्यान में पहले मन्त्र का श्रुति कहना चाहिए। यह श्रुति आत्मस्त मन्त्रों की कही जाती है। मन्त्र इस का अर्थ है, आदित्य देवता है। यह शक्ति के अभिप्रायानुसार है। धर्माभिष्टान में इस का विनियोग है। इस मन्त्र में प्रथमपुरुष का प्रयोग है, अतः यह मन्त्र प्रत्यक्ष-कृत है।

नैस्त्रो के अनुसार सब नाम धातुज हैं, अतः धातु के अनुसार सब का अर्थ है सब से बड़ा। यह आदित्यमण्डल है। ऐसा ही उपनिषद् में भी कहा है कि यह सब जगत् आदित्य मण्डल में स्थित है।

यह उत्पत्ति वाला और अन्य सब तैजों में प्रधान है। स्मृति में भी कहा है कि आकाश मनुष्यों में, आदित्य तैजों में, शिर अर्धों में और सत्य धर्मों में प्रधान है। इसकी सत्ता सृष्टि से पूर्व अथवा पूर्व दिशा में, या सोते हुए प्राणियों से पूर्व संसार में, या लोकालोक पर्वत तक है। सारे संसार को देखीप्यमान करने के लिए सहस्रों रश्मियां प्रदान करता है। और जलों के स्थान अर्थात् आकाश में रहने वाली आठों दिशाओं को व्याप्त कर समस्त दृश्य पदार्थों के भावाभाव को प्रकट करता है। भगवान् सूर्य के प्रकाश के बिना पदार्थों के अस्ति नास्ति का ज्ञान होना असम्भव है। प्रकाश के होते ही हम कह सकते हैं कि अमुक वस्तु है अथवा नहीं है। अतः सूर्य ही सत् और असत् को बताता है। आकाश जलों का स्थान है। यह स्मृति में भी कहा गया है। उन दो दृक्कों से सुलोक और भूमि बनाई गई। तथा उनके मध्य में आकाश जो कि जलों का अविनश्यर स्थान है और आठों दिशाएं बनाई गई।

परिशिष्ट ३

व्याकरणमहाभाष्य और वेदार्थ

पतञ्जलि का व्याकरण महाभाष्य ईसा से कम से कम १५० वर्ष पूर्व का ग्रन्थ है। प्रो० स्टैन कोनो के अनुसार ईसा से २२५ के पूर्व पतञ्जलि अपना ग्रन्थ लिख रहा होगा। संभव है पतञ्जलि इस से भी अधिक पुराना हो। पातञ्जल महाभाष्य में अनेक वेद मन्त्रों का अर्थ है, और कई वैदिक पदों को बनाबट पर विचार करके उन पदों का अर्थ किया गया है। यह अर्थ बड़े महत्त्व का है। इस के देखने से हम जान सकते हैं कि वेदार्थ करने की कौन सी विधि पतञ्जलि को अभिमत थी। वह विधि पतञ्जलि की ही नहीं समझनी चाहिए, प्रत्युत उस का मूल पाणिनि के काल से ही होगा। पतञ्जलि और पाणिनि के ग्रन्थ में व्याकरण के अनेक ग्रन्थ लिखे गए होंगे। उन सब का निष्कर्ष व्याकरण महाभाष्य में है। फलतः महाभाष्य के मन्त्रार्थ बहुत पुराने काल से चला आया होगा। पाणिनि भी बहुत पुराना व्यक्ति है। वह यास्क का समकालीन ही है। अतः प्राचीन काल से व्याकरण लोग किस प्रकार से वेदार्थ करते थे, यह महाभाष्य के देखने से ज्ञात हो जाएगा।

१-चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्या आबिवेशेति ॥

चत्वारि शृङ्गाणि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनि-
पाताश्च । त्रयो अस्य पादास्त्रयः काला भूतमविष्यद्वर्तमानाः ।
द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्त हस्तासो अस्य सप्त
विभक्तयः । त्रिधा बद्धस्त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति ।
वृषभो वर्णणात् । रोरवीति शब्दं करोति । कुत पतत् । रौतिः
शब्दकर्मा । महो देवो मर्त्या आबिवेशेति । महान्देवः शब्दः ।

मर्त्या मरणधर्माणो मनुष्याः । तानाविवेश । महता देवेन नः साम्यं
यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

२-चत्वारि । अपरिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेह्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

चत्वारि वाकपरिमिता पदानि चत्वारि पदजातानि नामा-
ख्यातोपसर्गनिपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस
ईषिणो मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेह्यन्ति । गुहायां त्रीणि
निहितानि नेह्यन्ति । न चेष्टन्ते । निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीयं वाचो
मनुष्या वदन्ति । तुरीयं इ वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते ।
चतुर्थमित्यर्थः ॥ चत्वारि ॥

३-उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्ते जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥

अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः
शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम् । अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै
तन्वं विसस्ते । तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः ।
तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं
वाग्व्याग्विदे स्वामानं विवृणुते । वाह नो विवृणुयाद्वात्मानमित्यध्येयं
व्याकरणम् ॥ उत त्वः ॥

४-सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमकृत ।

अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ॥

सक्तुः सक्तुर्दुर्धावो भयति । कसतेर्वा विपरीताद्विकसितो
भवति । तितउ परिपवनं भयति । ततवद्वा तुन्नवद्वा । धीरा ध्यान-
वन्तो मनसा प्रज्ञानेन वाचमकृत वाचमकृत । अत्रा सखायः
सख्यानि जानते । अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते । सायु-
ज्यानि जानते । । य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः ।
के पुनस्ते । वैयाकरणाः । कुत एतत् । भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि

वाचि । एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति । लक्ष्मीर्लक्षणाद्भा-
सनात्परिवृद्धा भवति ॥ सकृमिव ॥

५—सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।

अनुसरन्ति काकुदं सूर्यं सुषिरामिव ॥

सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि यस्य ते सप्त सिन्धवः
सप्त विभक्त्योऽनुसरन्ति काकुदम् । काकुदं तालु । काकुर्जिह्वा
सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम् । सूर्यं सुषिरामिव । तद्यथा शोभना-
मूर्ध्नि सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहत्येवं तव सप्त सिन्धवः सप्त
विभक्त्यस्तावन्नुत्तरन्ति । तेनासि सत्यदेवः । सत्यदेवाः स्यामे-
त्यध्येयं उवाचरणम् ॥ सुदेवो असि ॥

६—कृष्णो नोनाव वृषभो यदीदम् । ऋ० १।७।२॥

नोनूयतेनोनाव ।^१

७—एकशब्दोऽयं बहुर्थः ।.....अस्त्यसहायवाची । तद्यथा—

एकाग्रयः एकहस्तानि । एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् । इति ।

असहायैरित्यर्थः ।

अस्त्यन्यार्थे वर्तते । तद्यथा—

प्रजामेका रक्षत्यूर्जमेका । इति ।

अन्येत्यर्थः ।

सधमादो द्युम्न एकास्ताः ।

अन्या इत्यर्थः ।^२

८—बह्वर्था अपि धातवो भवन्तीति । तद्यथा । इडिः स्तुति-

चोदना-याच्म्रासु इष्टः । प्रेरणे चापि वर्तते—

अग्निर्वा इतो वृष्टिमोष्टे मरुतो ऽमुतश्चयावयन्तीति ।^३

१—१।१।२॥ भाग १ पृ० २३ ।

२—१।१।२॥ १।४।२१॥ भा० १ पृ० ८३, ८४ । पृ० ३२१ ॥

३—१।१।२॥ भा० १ पृ० २४६ । १।१।१॥ भा० १ पृ० १४।१।१।१॥
भाग १ पृ० ३६ ॥

६—सूत्र १।१।६॥ के व्याख्यान में मन्त्रों में जितने प्रकार का व्यत्यय होता है, उस के उदाहरण दिए हैं। यह सारा पाठ ३।१।८५॥ के व्याख्यान में पुनः मिलता है। इस के देखने से पता लगता है कि पतञ्जलि और उस के पूर्वजों के अनुसार व्यत्यय का क्षेत्र कितना है।

१०—अथवा भोगशब्दः शरीरवाच्यपि दृश्यते। तद्यथा—
अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्।

श्रु० ६।७५।१४॥

अहिरिव शरीरैरिति गम्यते।*

महाभाष्यरूप मन्त्रार्थ के जो पूर्वोद्धृत दश उदाहरण दिए गए हैं, उन के देखने से यह प्रतीत होता है कि पतञ्जलि वैदिक पदों के भावार्थ को ही प्रधान मानता है। उस का अर्थ बड़ा सरल और तत्काल समझ में आने वाला है। पतञ्जलि मन्त्र के अभिप्राय तक पहुंचता है, यह उस के ऊपरि अर्थ तक ही नहीं रहता। महाभाष्य का अध्ययनविशेष करने से वेदार्थ के करने में बड़ी सहायता मिल सकती है।

शब्द-सूचि

अ	अमरकोश	४८, ११४
अगस्त्य ४०	अरण्यसंहिता १३६, १३७	
अज्ञातरुद्रभाष्यकार १२८	अरविन्दघोष ७७, ८४	
अङ्गार १८	अर्चनाना २५६	
अथर्वपरिशिष्ट २४४, २४५	अलङ्कारसुधानिधि ५५, ६२	
अथर्ववेद ७४, १४३, १६२, २४५	अष्टादशाध्याय २१२	
अथर्ववेदभाष्य ११८	अष्टाध्यायी ८४, १६६, २१३	
अथर्वसंहिताभाष्य ६१	अष्टाध्यायीकाण्ड १०२	
अध्यापक ४६	अस्यधामसूक्त १७०	
अनन्त ६६, १००, १०१, १०२, १२५, २५०	अस्यवामीयसूक्त २२, ४६, १७७	
अनन्ताचार्य १००, २०८, २१०	अहोबल १२७	
अनुक्रमणी ४८, २३०	आ	
अनुक्रमणिकाकार ५०	आख्यानदर्शन २४१	
अनुक्रमणिकाभाष्य ४८	आश्रायण १६२, १६६	
अनुवाकानुक्रमणी ४१, ४२	आङ्गिरसकल्प १४४	
अनुव्याख्यान ४६	आचार्यपाद १११	
अपाला १२२	आत्मज्ञान ५०	
अभिधान ४८	आत्मानन्द १, २२, ४६, ५०, ५२, ५३, ५४, ६५, १७०	
अभिधानकोश २३४	१७६, १७७	
अभिनवशङ्कर १२५, १२६	आश्रेय ११०, ११०, २२६	

आर्धवण परिशिष्ट	१६२	आश्वलायनमन्त्रभाष्य	७२
आदित्यदर्शन	१०६, १०७	आश्वलायनश्रौत	२०६
आनन्दतीर्थ	४३, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ६७, २४९	आश्वलायनश्रौतभाष्य	६९
आनन्दबोध	६८, ६९, १००, १४८	आश्वलायन श्रौतवृत्ति	२०, २१
आनन्दबोधभट्ट	६८, ६९	आश्वलायनसूत्र	१३६
आनन्दश्रुति	४६	आह्निककाण्ड	५०
आपस्तम्ब	४८, ८६, १२०	इण्डियन् पण्टीकेरी	५८, ५९
आपस्तम्बगृह्यभाष्य	११५	इण्डियन् हिस्टोरीकल	
आपस्तम्बगृह्यसूत्र-		कार्टरली	५८
व्याख्या (अनाकुला)	७१	इण्डिया आफिस	२७
आपस्तम्ब धर्मसूत्र व्या०	७१	इरिस्त्र	११, २३१
आपस्तम्बमन्त्रपाठ	१२२	इष्टकापूर्ण	६६
आपस्तम्बश्रौत	११६, १४८	ई	
आपस्तम्बसूत्र	६१	ईशायासोपनिषत्	८८, ८९, १००
आपिशलि	२२८	उ	
आफ्रेक्ट	५६	उच्च	१०३
आरण्यक	६०	उज्ज्वल	४८
आरण्यविवरण	१३९	उणादि	४८
आर्वाभ्यान्नाय	२०१	उणादिवृत्ति	४८, २१२
आर्यभट्ट	११५	उत्तरविवरण	१३२
आर्यभटीय	११४	उद्गीथ	४, ६, ११, १२, १३, १४, १५, २२, २३, २४, २५, ४६, ५६, ६०, ६६, ७२, १६७, २२३, २४६
आर्यमुनि	८४	उद्गीथ भाष्य	२२, २२८ २३३, २५७
आर्षानुक्रमणी	२५, २३०		
आश्वलायनगृह्यविवरण	२१, २२		
आश्वलायनगृह्यभाष्य	६९		
आश्वलायनगृह्यसूत्र व्या०	७६		
आश्वलायन मन्त्रपाठ	७१		

उपनिषत्	५०, २३०	ऋग्वेदपदपाठ	६६
उपमन्यु	१६७	ऋग्वेदभाष्य	६५, ५५, ६३, ६६,
उपवर्ष	२०६		६६, ७०, ७१, ७५,
उपवर्षभाष्य	७०		७६, ११८, १७०,
उपेन्द्रभट्ट	१८०		१७४, १६५, १६७,
उपोद्घात	५८		२३२
उषट्	६४, ६६, ७०, ७१.	ऋग्वेदसंहिता	६६
	८२, ८५, ८७, ८८	ऋग्वेदसर्वानुक्रमणी	७१
	८६, ८७, ८३, १०६,	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका	७५
	१२०, १२५, १२६.	ऋग्वेदभाष्य	६१
	१३१, १८०, १६६,		ए
	२०५	एकवीर	३०
उवटभाष्य	६२, १०४, १०६,	एकामिकाण्ड	११४, १२२
	१२३	एकामिकाण्डभाष्य	११५
उवट्यजुर्वेदभाष्य	१६४	एकामिकाण्डव्याख्या	७१
ऋ		एकान्तनिघण्टु	५०
ऋक्प्रातिशाख्य	७१, १४६ १७६	एकान्तरमाला	४८
ऋक्प्रातिशाख्यभाष्य	९०	एगलिङ्ग	५१
ऋक्संहिता	१७१		ऐ
ऋक्सर्वानुक्रमणीभाष्य	६०	ऐतरेय	३६, ६०
ऋग्वेदभाष्य	१४, ६०, ६१, ६२, ६७,	ऐतरेयब्राह्मण	५८, १३६
	६५, १६५	ऐतरेयब्राह्मणभाष्य	१६, ७०
ऋग्वेद	५, २५, ४३, ६३, ६८,	ऐतरेयभाष्य	४६
	८३, ८४, ९५, ८७,	ऐतरेयारण्यकभाष्य	६२
	१३३, १६२, १६८,	ऐतरेयोपनिषद्दीपिका	६२
	१८०, १८६, १८७,	ऐतिहासिक	१२२
	१६७, २००, २४०	ऐपिग्राफिया इण्डिका	५६
ऋग्वेदकमपाठ	१७६	ऐपिग्राफिया कार्णाटिका	५६

ओ		काठकगृह्यसूत्र	१०६
ओरिपेटेलिया	५६	काठकसंहिता	६०
ओ		काण्डानुक्रमणी	१११
औदुम्बरायण	१६२, १६७	काण्व	६१
औपमन्यव	१६२, १६६, १६७, १६, १६४	काण्व ब्राह्मण	६८
और्णवाम	६८, १६२, १७७, १७८	काण्वयजुर्भाष्य	६१
क		काण्वशतपथब्राह्मण	६६
कठगृह्यसूत्रविचरण	१०६	काण्वसंहिता	६२, ९८, १०१, १०५, १२०, १३८, १४८
कठमन्त्रपाठ	१०६, १०७, १०६	काण्वसंहिताभाष्य	६६, ६८, ६९
कठसंहिता	१०६	कात्तन्त्रवृत्तिभाष्य	१३०
कण्वकण्डाभरण	१००, १०२, १२६	कात्ययन	१६२, १८०, १८१
कण्वधुति	४६	कात्यायन	४०, ७१
कपर्दी स्वामी	६१, ११२	कात्यायन धौत	६२, ६६
कम्पण	५५, ५७	कात्यायनधौतभाष्य	-६, ६०
कम्पराज	५५	कात्यायनसर्वानुक्रमणी	२०५
कर्क	६०, २४६	कात्यायनसूत्र	१०१
कर्मकर	१८३, १६२	कात्यायनस्मार्तमन्त्रार्थ-	
कल्प	२०६	दीपिका	२५०
कल्पतरु	५०	कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणी	९३
कल्पविहान	१४५	कादम्बरी	१६, १३३
कवीन्द्राचार्य	२५, १२६, २५०	कापिष्ठल	१४९, २२१
कश्मीर	२२३	कालनाथ	१०२, १८३, २६३
कश्यपप्रजापति	१८४, १८५, १६०, १६२	कावेरी	३५
काठक	३६	काशिका	४८, ११४
काठकगृह्यपञ्चिका	१०६	कुण्डिन	११०
काठकगृह्यभाष्य	१०७	कृष्णाण्डप्रदीपिका	१२६

कृष्णदेव	२३०	मालव १६२, १६६, १७४, १७८,	
केशवस्वामी	४, २०, ३०, ३२,	१७६, १८०, २०७	
	११०, १११	मालव ब्राह्मण	१७६
केशवाचार्य	५०	गीता	६६, २३०
कैयट	४८	गीताभाष्य	६६, ६३, ६८
कैवल्योपनिषत्	१२८	गुणविष्णु	१२३, १५०, १४१,
कोश	६७, ६८		१४२
कौटिल्य अर्थशास्त्र	५६	गुणे डा०	५६
कौण्डिन्य	११०	गुरु [भास्कर]	९६
कौत्स	१९९, २१६	गुरुदेव	११२, ११३
कौत्सव्य	१६२, १६१, २४५	गुरुस्वामी	२
	२४६	गृह्यप्रकाश	१०४
कौशिक (गोत्र)	३५	गृह्यप्रदीप	२२
कौशिक भट्टभास्कर	११३	गृह्यविचरण	२०
कौशिकसूत्र	१४४	गोपाल	१११
कौशोत्तिक	१६, ६०	गोपालिका	२१६
क्रमपाठ	१८०	गोभिलगृह्यवृत्ति	२४६
कौण्डिक	१६२, १८०	गोभिलगृह्यसूत्र	२०
क्षीरस्वामी	२०८, २०६	गोमान्	३५, ३६
क्षुर	११६	गोविन्द	३५
क्षुरभाष्य	११६	गोविन्दस्वामी	३
	ग	गौतमधर्मसूत्रव्याख्या	
गङ्गाकार	११५, ११६	मिताक्षरा	७६
गदाधर	५०	गौरधर	६६, ६२, १२३
गर्भीपनिषद्	५०	ग्रहलाघव	६३
गार्ग्य १५२, १६२, १६८, १६६,		य	
	१७४, २२६	चतुर्वेदस्वामी	६३, ६८
गार्ग्यसंहिता	१५२	चतुर्वेदाचार्य	६३

चन्दनपुर	१४२	जयपाल	१०३, १४२
चन्द्रिका	४६	जयपुर	१०८
चन्द्रिकाकार	५०	जातवेद भट्टोपाध्याय	६६
चन्द्रिकाकार आह्निकग्रन्थ	५०	जातवेदसे सूक्त	१७४
चम्पराज	५७	जीवानन्द	२२५
चरक	८६, १६७	जैमिनि	६६, २५४
चरकब्राह्मण	३६, ६०, २२६	जैमिनीयगृह्यसूत्र	२५२
चरकमन्त्र	२२६	जैमिनीयन्यायमालाविस्तर	६०
चरकसूत्र	४१, ४२, १६७	जैमिनीयमीमांसा	४८
चारायणीयमन्त्रपाठ	१०६	ज्ञानयज्ञभाष्य	११४, ११८
चारायणीय मन्त्रविवृति	१०७	ज्ञानराज	६३
चारायणीयशास्त्रा	१०७	ज्वालादत्त	७३
चूषिकार	१५, २३०	ट	
चोल	३१, ३२, ३५	टङ्क	११२, २०६
छ		टिप्पणकार	५०
छन्दः संहिता	१३७	त	
छन्दसिकाविवरण	१३२	तत्त्वोर	११८, १३४
छन्दोगमन्त्रभाष्य	१२३	तत्त्वविवेक	१४८
छन्दोजुक्तमणी	२२०	तरन्त	२५६
छन्दोविज्ञान	१५५	तलवकार	२५४
छान्दोग्यभाष्य	४८, १४०, १४२	ताण्ड्य	३६, ६०
ज		ताण्ड्यब्राह्मणभाष्य	१६६
जगद्धर	९२	तुरभुति	४६
जगद्धर भट्ट	६०	तैटीकि	१६२, १७८
जन्मेजय	७०	तैत्तिरीय ३६, ५०, ६०, ६६, ६७	
जम्बू	२२३	तैत्तिरीयप्रातिशाख्य ६१, १५०,	
जयतीर्थ ४४, ४६, ४७, ४८, ४९			१५१
जयतीर्थटीका	४६	तैत्तिरीयब्राह्मण	४७

तैत्तिरीयब्राह्मणभाष्य	६१	१६७, १६८, २००,
तैत्तिरीयभाष्य	६१	२१६, २१७, २१६,
तैत्तिरीयशाखा	५८	२२४, २२८, २३३,
तैत्तिरीयसंहिता ६०, ६०, ११०,		२३४
११२ ११७, ११६,	दुर्गभाष्य	१६१, १६६, १६८,
१२०, १३७, १५०,	दुर्गवृत्ति	६, २२६, २३५
१७७, २०४, २२०	दुर्गसिंह	३२३
तैत्तिरीयसंहिताभाष्य ११२, ११८,	दुर्गसिंहविजय	२२४
१२२, १२६	देवणभट्ट	५०
तैत्तिरीयारण्यक ११२	देवताकार	२३०
तैत्तिरीयारण्यकभाष्य ६१, ११४	देवतानुक्रमणी	२४
तोलोक १०३	देवपाल	१०६, १०८
त्रिकाण्डमण्डन २० ११०, १११	देवपालभाष्य	१०७
त्रिवन्ध्रम् १८, ३७	देवमित्र	१४५, १४६
व	देवयाज्ञिक	६६
वक्षिणापथ ३५	देवराज १, ३, ५, ७, ८, १०,	
व्यानन्वेदभाष्य ८०	११, २३, २४, २६,	
व्यानन्व सरस्वती ७२, ७३, ७४,	२७, २८, २९, ३०,	
७५, ८२, ८४,	३२, ३३, ७०, ७१,	
६५, १८५, २१६	११२, ११३, १२३,	
वाचने ८२	१३३, १७०, २०८,	
दिवाकर २१	२१०, २११, २१२,	
दुर्ग ११, १२, १३, १४, २४,	२२८, २३४	
३२, ३३, १६१, १६२,	देवस्थामी २०, २१, ६८, ७०,	
१७०, १७६, १७७,	२०६	
१७८, १८१, १८२,	देवज्ञसूर्य	६३, १३८
१८३, १८६, १८७,	द्रमिड ११२, २०६	
१८६, १८२, १८५,	द्रविडस्वामी ५०	

घ		निघण्टु
धनञ्जय	४८	१७, २४, २६, ३५, ४०, ४८, ५०, ५४, ६१,
धन्वयज्वा	४३	७०, ८४, ८६, १०८,
धातुपाठ	२२८	११२, ११५, १६०,
धातुवृत्ति	४८, ५५, ६०, ६१, ११६	१६३, १६४, १६५, १६६, १६६, १७०,
धातुफलयज्वा	४३	१७१, १७२, १८१,
ध्रुवसेन	१६	१८३, १८४, १८५, १८६, १८७, १८८,
न		
नक्षत्रकल्प	१४४	१६०, १६२, १६४,
नरसिंह	२०, ४७, ४८, ४९	१६५, २०२, २०६,
नरसिंह वर्मा	१२१	२३४, २४०, २४२,
नरहरि	१२७	२४४
नरहरि सोमयाजी	५८	निघण्टुनिर्वचन २२८, २३४
नागदेव	१०१	निघण्टुभाष्य ७, २३, २८, २९,
नागस्वामी	२	७१, १११, १२३,
नागेशमठ	१०१	१७०
नानार्थार्णवसंक्षेप	४, ३२	निदान १३६
नारदीयपुराण	५०	निदानसूत्र ४०, ८०४
नारदीयशिक्षाविषयखण्ड	१३६, १४०	निरुक्त ५, १०, १७, २४, ४०, ४८, ५०, ५१, ५३,
नारायण	४, ६, १४, १८, १९, २०, २१, ४६, ५६, १११, १३३, १३६, १४६	८३, १०८, १६१, १६२, १६६, १६७, १६८, १७१, १७२, १७३, १७६, १७७,
नारायणयाज्ञपेयी	५८	१७८, १७९, १८०,
नासिक	२४६	१८१, १८५, १८६,
नासिकक्षेत्र	१४८	१८४, १८५, १८६,

निरुक्त	१६८, १६९, २०२,	पञ्चरात्र	५०
	२०६, २२६, २२८,	पञ्चशिख	२२१
	२३६, २३६	पट्टन	१३१
निरुक्तटीका	२००	पण्डरीदीक्षित	५८
निरुक्तनिघण्टु	२४५, २४६	परिडितसर्वस्व	१०६
निरुक्तपरिशिष्ट	१६७	पतञ्जलि	१५, १५८, १६८, २१३
निरुक्तभाष्य	१४, १७, १६६,	पद्मञ्जरी	२११
	१७०, १८१, १८२,	पदार्थप्रकाश	१०२
	१६६, २३५	पद्मनाभ	६२
निरुक्तभाष्यटीका	१०, ११,	परमार्थप्रपा	६२, ६३
	२३३, २३४,	पराशरस्मृति	५६
	२४२	पाटलिपुत्र	२१३
निरुक्तवार्तिक	३४, १७०, २१३,	पाणिनीयाष्टक	१७६
	२१६, २१६, २३६	पाण्डुरङ्गवामन काणे	२०, ५०
निरुक्तवृत्ति	१६	पातञ्जलव्याकरणमहाभाष्य	१६४
निरुक्तसमुच्चय	१६५, १६३, २३७,	पारस्करगृह्यसूक्तभाष्य	१०६
	२३८, २४३	पारस्करमन्त्रभाष्य	१०४, २६४
निरुक्तालोचन	१८३	पार्थसारथिमिश्र	१०३
नृसिंह	१२७	पिङ्गलनाग	२०५
नृसिंहमन्त्रकल्प	५०	पितृभूति	२०६
नौकाटीका	६४	पितृशर्मा	१६
न्यकुसारिणी	२०५	पुराकल्प	२२६
न्यायपरिशुद्धि	३०, ११३	पुराण	५०
न्यायमहामणि	१२७	पुरुषकार	२११
न्यायसुधा	४८	पुरुषसूक्त	४४, ८८, ८६
	५	पुरुषार्थसुधानिधि	६२
पञ्चनद	१०३	पुष्करोक्तकल्प	५०, ५३

पैङ्क्तिरहस्य	५०	बालकृष्ण	१२२
पैङ्क्तिभुति	४६	बालशास्त्री (आगाशे)	६८
पैष्पलाद	३६	बालशास्त्री	१००
प्रकाशात्माचार्य	६६	बालमुद्रहरण	१२७
प्रपञ्चद्वय	७०	बुद्धप्रथम	५५, ६६, १२०
प्रपदमाहण	१२७	बृहदेवता	१७, २४, ३३, ३४,
प्रभाकरमिश्र	२५		४०, ४१, ८६, १६६,
प्रशंसा (वेदप्रशंसा ?)	५०		१६६, १७१, १७३,
प्राचीनव्याख्यान	१२६		१७५, १७६, १७७,
प्रातिशाख्यभाष्य	१८०		१७८, १७९, १८०,
प्रायश्चित्तसुधानिधि	५५		१८१, १८८, २०३,
प्रायश्चित्तसुधानिधि अथवा			२०४, २१४, २१६,
कर्मविपाक	६२		२२०, २३०, २३७,
प्रेम	१३३		२४१, २५६
क		बृहदारण्यकवार्तिक	२१३
फिदज एडवर्ड हाल	६२, ६५	बृहदेवताकार	४६
फोर्टविलियम	१२२	बृहदयजुर्वेदभाष्य	१०५
व		बेणोराय	१२७
बड़ोदा	१२५, १३५	बेलबेलकर	१६३, १६४
वर्क भुति	४६	बैजनाथ काशीनाथ राजवाडे	
वर्धरस्वामी	२१७		२२५
यज्ञालसेन	१४१	बोधायन	५६, ११२
गहवृन्धारण्यक	५०	बोधायनगृह्यसूत्र	११०
बाण	१३३	बोधायन	१२०
बाणभट्ट	१६	बोधायनकारिका	१११
बादरायण	४५	बोधायन प्रयोगसार	२०, १११
वाङ्मय	१७६, १८०	बोधायन धीत	१४८

यौधावनसूत्र	१११	भर्तृध्रुव	१६
यौद्धग्रन्थ	२३६	भर्तृयज्ञ	२०६
ब्रह्मगीता	५०	भर्तृहरि	२०६, २३१
ब्रह्मरत्नप्रसूति	३७	भवगोल	३५
ब्रह्माण्डपुराण १४५, १७६, २३७		भवत्रात	२५३
ब्रह्मोपनिषत्परिशिष्ट	५०	भवदेव	१३०, १३१
ब्राह्मण ४०, ६०, ६८, १२०		भवदेव ठक्कुर	१३०
ब्राह्मणग्रन्थ	८६, १६५	भवदेव मिथ	१३०
ब्राह्मणवल	१०६, १०७	भवदेवस्वामी ११०, १११, ११२,	
ब्राह्मणसर्वस्व १०५, १०६, १२३			११३
भ		भवानीशङ्कर	१२८
भक्तिशत	६४	भागीरथी	१०१
भगवद्गीता ४८, ५०, ६२ ६३		भागुरि	१८१
भगवत्पाद	४४	भामह	२३१
भट्ट (कुमारिल)	६६	भारद्वाज	५६, ६१, ११५
भट्ट भास्कर ६६, ७०, १११,		भारद्वाजसूत्र	५०
११५, ११६, ११७,		भारुचि	११२
११८, ११९, १२०,		भाल्लवि	३६
१२१, १२५, १२६,		भावप्रकाशन	४२
१५०, १५२, १६५,		भाषरत्नप्रकाशिका	४०
१७७		भाषार्थदीपिका	१०२
भट्टभास्कर मिथ ६०, ११२, ११४		भाषिकसूत्रभाष्य	१०२, १३६
भट्टाचार्य (कुमारिल)	५०	भास्कर	४६
भट्टिकाव्य	३	भास्करभाष्य	११७, ११८
भण्डारकर	२०	भास्करवंशी	१२७
भरतभाष्य	१४०	कवि भोगनाथ	५६
भरतस्वामी ६०, १३५, १३६, २११		भोज ५०, ७० ८६, ८७, २११	

भोजनिघण्टु	५०	महाभारत	१६२, २०७, २२०
भौवायन	१२१	महाभारततात्पर्य निर्णय	३४
म		महाभाष्य	४८, ८४, १६२,
मंगल	१०३		१६६, १७६, २१३
मंगलदेव	२३१	महामह	१०५
मण्डनमिश्र	२१२	महायोगशास्त्र	५०
मद्रास	१८, १३५	महाराजदेव	१०३
मधुक	१७६	महार्णव	११३, ११७, ११८,
मधुसूदन	१८६		१२६
मधुसूदन सरस्यती	१८५, १७०	महास्यामी	१३६
	१६०	महिम्नस्तोत्र	१८५
मध्व	४४	महीधर	३४, ८२, ८६, ६०,
मध्वभाष्य	४४		६२, ६३, १०२,
मनमोहनचक्रवर्ती	रा० ख० १०५		१४८, २४६
मनु	५६	महीधरभाष्य	८८, ८६, १२८
मनुस्मृति	१७, ८३	महेश्वर	५, ६, ८, ६, १०, ११,
मन्त्रब्राह्मण	१२७, २७०		१३, १५, १६, २३४
मन्त्रभाष्य	८७, ६०	माठावृत्ति	२२१
मन्त्रमहोदधि	६२, ६४	माधव	२०, २६, २७, ३०, ३३, ५,
मन्त्रार्थदीपिका शत्रुघ्नकृत	१२३,		३५, ३६, ३८, ४०, ४१,
	१२४		४७, ५६, ६०, ६३,
मन्त्रार्थमञ्जरी	४८, ४६		१३२, १३४, १३५,
मयूरेण	१२८, २६७		१३६, २६६
मल्लारि	६२	माधवदेव	३७, १३३
महाभागवत	५०	माधवभट्ट	१८, १६, २६, ६०
महाभारत	५०, ७०, १७६,	माधवभाष्य	३१
	१८०, १८४, १६०,	माधवरात	१०७

माधवसायण	२६	मैत्रायणीय	३६
माधवाचार्य	४, ६६, १०१	मैत्रायणीय-संहिता	१४६,
माधवीयविचरण	१३२		१५०, २२४
माधवीयाधातुवृत्ति	१३२	मैसूर	१२५, १३५
माधवीयानुकमणी	३६, २१२	मैसूरपुरातत्त्वविभाग रिपोर्ट	५६
माध्यन्दिन	६१	मौद्रल्य	६८
माध्यन्दिनशास्त्रा	६६	य	
माध्यन्दिनसंहिता	१४७, १४८	यज्ञतन्त्रसुधानिधि	५५, ६२
माध्यन्दिनसंहिताभाष्य	६१	यज्ञदा	१३६
माध्यन्दिनीयावान्तरशास्त्रा	२६५	यज्ञपार्थ	१०६
मान्धाता	११३, ११७	यज्ञेश्वर	१४६, १५०
मान्युधुति	४६	यजुःप्रातिशाख्य	६०
मायण	५६, ५७	यजुर्मंजरी	१०२, १०४, १३६
मालतीमाधव	६०	यजुर्वेद	६३, ६४, ७३, ६१,
मीमांसा	७०		६३, ६५, १६२
मीमांसासर्वस्य	१५६, २५२	यजुर्वेदभाष्य	८६, ८६, ६२,
मुकुन्ददेव	७४		६४, ६५, १२५,
मुकुन्दाचार्य वेदभाष्य	१०३		१६६
मुद्रल	६७, ६८, १७४	यजुर्वेदमाध्यन्दिनसंहिता	७०,
मुद्रलभाष्य	६७		८५
मुरारिमिथ्र	१०४, २५०, २५१,	यमस्मृति	५०
	२६४	यशोदाकिशोर	६३
मेरुत्तर	४२	याजुषप्रातिशाख्य	१०२
मैकडानल	४०	याजुषभाष्य	७१
मैकसमूलर	२३, २४, ४६, ५२,	याजुषशास्त्रा	५७, ६२, २३७
	८, ५६, ६०	याजुषसर्वानुकमणी	६६, १००,
मैत्रायणी उपनिषद्	८३		१७७, २०६

याजुर्वेदसंहिता	१२५	रत्नमाला	१३१
याज्ञवल्क्य	१४५, १४७	रत्नशास्त्र	२०
याज्ञवल्क्यस्मृति	५०	रथवीति	२५६
यास्क	६, १३, १७, ४०, ५१, १५२, १६२, १६३, १६४, १६५, १६७, १६८, १६९, १७४, १७६, १७७ १७९, १८१, १८२, १८३, १८४, १८५, १८७, १९०, १९१, १९२, १९४, १९७, १९९, २०४, २०५, २०६, २०७, २१८, २१९, २४०	रथीतर १७१, १७२, १७४, १७६ राघवेन्द्रयति ४४, ६८, ४९ राज १८, २६, २७, २८, २९, ३२, ३५, ३६, ३७ राजाराम १८४, १९२ राजेन्द्र वर्मा १२१ राम १०३, १३५ रामनाथ १३५ रामप्रपन्न २२६ रामराम ५८ रामानुज ३२, ७२, ११२, ११४ रायमुकुट १३० रामायण २२० रायण ६२, ६५, ६५, ६६, ८२, १६३, १६४, १८३ ६२, १४७ रायणभाष्य ६३, ६४, ६७, ६२, १३८ रायणमन्त्रभाष्य १६५ रायणाचार्य ६७ रुद्रकल्प १२६ रुद्रप्रयोगदर्पण ६२ रुद्रभाष्य ११७, ११८, १२८, १४४	
याज्ञिकीयनिघण्टु	१०७, १८७, २४६		
यास्क्रीयनिरुक्त	६१, ८९, ११५, १६३, १६४, १८३		
यास्क्रीयसर्वांशुकमणी	२०५		
योगग्रन्थ	५०		
योगमित्र	५०		
योगयाज्ञवल्क्य	५०		
योगशास्त्र	५०		
र			
रङ्गेशपुरी	२१०		
रत्नकण्ठ	६१		

शब्द-सूची

२९३

रुद्राध्याय	७३, ११७, ११८	वर्गविभाग	६७
	१२५, १२७	वलमी	१६
रुद्राध्यायपदपाठ	८६	वल्लाल	११३
रुद्रोपनिषद्भाष्य	११५	वाक्यपदीय	२३१, २५४
रेणु	२२	वाघर	१०३
रेणुकृतकारिका	२१	वाचस्पति	५०, १०४
रेणुदीक्षित	२१	वाजसनेयक	६१
रोध	१६२	वाजसनेयसंहिता	१४७
रोधपण्डित	१८३	वाजसनेयिसं० भाष्य	८१
ल		वात्स्यायन	२२०
लक्ष्मण	३०, ४२, ४३, ११३,	वामदेव	१३७
लक्ष्मणसेन	१४१	वामन	५०
लक्ष्मणसेनदेव	१०५	वाररुच-निरुक्त-समुच्चय	२३५,
लक्ष्मणस्वरूप ङा०	३, ५, ६, ७		२७०
लक्ष्मीधर	५०	वार्तिक	२१४
लक्ष्मीधराचार्य	५०	वार्तिककार	५०, २१३, २१४
लघुपाठ	१७०, १७८	वार्ध्यायणि	१६२, १६८
लाहौर	३७	वासिष्ठरामायण	५० ६६
लीलावती	६३	वासिष्ठवेदान्तकारिका	४०
लीलावतीटीका	६३, ६४	विक्रम	१३४
लुप्तनिघण्टु	८६	विजयेश्वर	१०६
लुप्तशास्त्रा	१२२, २७०	विज्ञानेश्वर	५०
लेख	१००	विदग्धशाकट्य	१४६
व		विद्यातीर्थ	५७
वज्रट	८७, ८८	विद्यारण्य	५७
वररुचि	२४, ४८, १६५, १६६,	विद्यारण्य धीपाद.	५८
	२३६, २४०, २४१, २४२	विद्यारण्य स्वामी	५७

विमलयोध	७०, ६६	वेङ्कटमाधव	४७, ४८, ७२, ६३,
विरजानन्द सरस्वती	७३		६७, १६५, १८६
विषरण	५०	वेङ्कटमाधवार्य	३२
विषरणकार	३७, ४४	वेङ्कटार्य	३५
विषरणग्रन्थ	६६	वेङ्कटेश	१२१, १८६, २६६
विश्व	४१	वेङ्कटेश्वर	१२१
विश्वकर्मा भौवन	२२२	वेददीप	९२, ९४, १०२
विश्वरूप दीक्षित	२५१	वेददर्शन	१०७
विश्वेश्वर	१२६	वेदनिष्पण्ड	७०, २३६
विश्वेश्वर भट्ट	११३, ११७	वेदभाष्य	७६, ८२, ११२, २३४
विष्णुधर्मोत्तर	५०, ५१	वेदभाष्यसारसंग्रह	१२१
विष्णुपुराण	५०	वेदभूषण	४२
विष्णुप्रकाशक	५०	वेदमित्र	४६
विष्णुरहस्य	५०	वेदमिश्र	१०४, २५१, २५२
वीरचोल	३१	वेदविलास	६१
वीरपाल	१०३	वेदविलासिनी	१२३
वीरराजेन्द्र	३१	वेदाचार्य	३०, ११३, ११४
वृत्तिकार	५०	वेदान्तदर्शन	६५
वृद्धमतु	५०	वेदान्तदेशिक	३०, ११३
वृद्धशौनक	५०	वेदान्तसूत्र	११४
वेङ्कट	३५	वेदान्तसूत्रभा० [धृतप्रकाशिका]	
वेङ्कटनाथ	१२१, १२५, १२६, १२७		७२
वेङ्कटमाधव	४, ६, ११, १८,	वेदान्ती	५०
	२२, २५, २६, २७,	वेदान्तार्थसंग्रह	११७, १२१
	२६, ३०, ३१, ३२,	वैलङ्कर	८०
	३३, ३४, ३६, ३८,	वैतान	१४४
	३६, ४०, ४१, ४२,	वैतानसूत्र	१४४

वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा	२३४	शाकल्य	१४५, १४६, १४७,
वैष्णवसर्वस्व	१०६		१५०, १७६, १८६,
व्यास	४, ४६, ५७		२६६
श		शाकल्यसंहिता	१५२
शङ्कर	५२, ६५	शास्त्रान्तरपाठ	११५
शङ्कराचार्य	२५, ५०	शांखायनगृह्य	२२
शंख	५०	शाठ्यायन	६६, ६०,
शत्रुघ्न (मिश्र)	१७, ९७, १२३,	शाठ्यायनब्राह्मण	६०
	१२४	शान्तिकल्प	१४४
शतपथ	१, २, ३, ३९, ५५, ६०,	शावरगृह्य	१२२
	८४, ८६, ८६	शावरभाष्य	४६, २१०
शतपथब्राह्मण	१०१, २३१	शाम्यव्यगृह्य	१२२
शतपथब्राह्मणभाष्य	१०२	शारदातन्त्र	४२, ४३
शतपथभाष्य	८६	शास्त्रदीपिका	१०३
शतश्लोकभाष्य	६४	शिक्षा	१७९
शबरस्वामी	६, १६, ७०	शिक्षण	५७
शशीयसी	२५६	शिवदत्त म० म०	२२५
शाकटायन	१७४, १७६, १८६	शिवधर्मोत्तर	५०
शाकपूणि	५७, ५९, ५४, ११८,	शिवनाथ अग्निहोत्री राय	८४
	१६२, १६६, १७०,	शिवरहस्य	११७
	१७१, १७२, १७४,	शिवशङ्कर काव्यतीर्थ पं०	
	१७५, १७६, १७७,	शुक्लयजु	९६
	१७६, १८८, २२६,	शुक्लयजुर्वेद	३४
	२४०, २४२	शुद्धिदीपिका	१०५
शाकपूणिपुत्र	१६६	शैवसर्वस्य	१०६
शाकल	६४	शोभाकर	१३९
शाकल्य	२३, ४६, ६६,	शौनक	४०, ४६, ५१, ८५,

शौनक	१७६, १७६, २०६, २२०, २७१	सत्यमत	२७, १३६, १६०, २२५
शौनकभाष्य	८५, ८६	सत्यमतसामधर्मी	१३ १ ६
श्यामाश्व	२५६	संख्याबन्धनमन्त्रभाष्य	
श्यामाश्वख्यान	५६	सम्प्रदायज्ञ	५०
धीकण्ड	११४	सम्प्रदायविद	१२०
धीकण्डनाथ	५६	सर्वज्ञ	५०
धीनिवास	१०५, २३४	सर्गानुकमणी	४०, ६४, ८४,
धीनिवासाचार्य	११५		२०४, २०५, २४०
धीपदकृष्णवेलवेकर	१८१	सहदेव	१०३
धीमती	५७	सांख्य (कारिका)	५०
धीमापी	५६	सांख्यदर्शन	२५१
धीरंगपटम	१३५	सामदर्पण	६४
धीराम अनन्त कृष्णशास्त्री	११७	सामपदपाठ	१६६
धीस्वामी	३	सामब्राह्मण	६१
धौतवृत्ति	२१	सामभाष्य	६१, ६३, १३७
ध्वेतकेतु	१७६	सामविवरण	१८, २६९
ध्वेताभ्यतर	५०	सामवेद	३७, १३४, १३६
			१५४, १६२
पडङ्गद्व	१३०	सामवेदभाष्य	१६, १३७
		सामसंहिता	१२५
सङ्कर्षण	३५	साम्यशिव	३१, ३२, ३७
सङ्गम	५७	सायण	१, २, १७, २३, २४,
संगम	५६		२५, २६, ३०, ३२,
संहिताविधि	१७४		४७, ४८, ५५, ५६,
सङ्गमद्वितीय	५५		६०, ६१, ६४, ६५,
संग्रहश्लोक	६०		७२, ७३, ८०, ९६,

शब्द-सूची

२९७

सायण	६७, ६८, ५६, ११३,	सोमरस	२६२
	११८, ११६, १२०,	सोमानन्दपुत्र	१०६
	१२१, १२३, १२४,	सौगत	११५
	१२७, १३२, १३५,	सौत्रामणी	२६२
	१३६, १३७, १४८,	सौपर्णी धृति	४६
	१४१, १४३, १६५,	स्कन्द	८, ६, १०, ११,
	१६६, २१०, २११,		१२, १३, १५, १६,
	२५६		१७, २५, ३१, ४८,
सायण ऋग्भाष्य	२६२		५६, १६८, १७७,
सायण काण्वसंहिताभाष्य	६२		१६५, २००, २१६,
सायणभाष्य	२८, ५६, ६४,		२३३, २३४, २४०,
	६७, ६८, ८०,		२४२, २४६
	८२, ६३, ६६,	स्कन्दऋग्भाष्य	२२७, २२८,
सायण माधव	६३, ६६, १००		२२६
सायणाचार्य	७५	स्कन्दटीका	२२६, २३०, २३४
सावित्रहोम	२६७	स्कन्दपुराण	५०, ११७
सिद्धेश्वर	१८३	स्कन्दभाष्य	१८, ४६
सुदर्शनमीमांसा	३०, ११३	स्कन्द-महेश्वर	६, ८, ६, ११
सुदर्शनसूत्रि (वेदव्यास)	७२		१३, १४, २३,
सुब्रह्मण्यन् बलियराज	३७		२४, ३३, १६६,
सुभाषितसुधानिधि	५५, ६२		१७०, १७६,
सुरेश्वर	२१३		१८५, १६६,
सूत्रसंग्रह	१८१		१६६, २११,
सूर्यदेवज्ञ	१३७		२१५, २२३,
सूर्यनारायण	११४		२२६, २३१,
सूर्यपरिद्धत	६२, ६४, ६८		२३२, २४२,
सेतलूर	३१		२१४

स्कन्दमहेश्वरनिरुक्तभाष्यटीका	हरदत्ताचार्य	७१
२२८	हरप्रसादशास्त्री म० म०	१२४
स्कन्दस्वामी १, ३, ४, ५, ७,	हररात	१२६
१८, २२, ३०,	हरिपाल भट्ट	१०८
४७, ६०, ७३,	हरि भडकम्बर	२२५
१३३, १७०, १७४,	हरिवंश	५०
१७६, २११, २१२,	हरिश्चन्द्र	१०३
२३६	हरिस्वामी १, २, ३, ४, ७३,	
स्तुतिकुसुमाञ्जलि ६१, ६२	८६, २३१, २४६	
स्थौलाष्टोवि १६२, १८०	हरिहर महाराज	५८
स्फोटसिद्धि २१५	हरिहर द्वितीय	५५
स्थविरशाकलय १४६	हरिहरि	१४३
स्मार्तमन्त्रार्थदीपिका १२६	हलायुध १०५, १०६, १२३,	
स्मृति ५०	१४१, २४२	
स्मृतिचन्द्रिका ५०	हस्तसेख	१०२
स्वयम्भूभट्ट १०३	हस्तामलक	२५
स्वरूप ङा० ६, २६, ३३, ३७,	हारलता	२०६
२२६	हारिद्रविकब्राह्मण	६१
६	हालमहाशय	६३
हंसपाल १०३	हृदयधरभट्ट	५०
हरदत्त ७१, ११५, १२२, १२३	हृषीकेश	२०४
हरदत्तमिश्र १२७	होलीरमाध्व	१०१

मन्त्र-प्रतीक-सूची

अक्षिति ध्रुव	५
अगोरुधाय गविये शुक्लाय	७१
अग्न आयाहि धीतये गृणानो	२६६
अग्निमीडे	१४१
अतस्त्वं बर्हिः शतवक्ष्यः विरोह	१४६
अपप्रोथ दुन्दुमे दुष्पुनान्	११६
अश्विनमे नदीतमे	१७५
अरेणुभिर्जेहमानो	११६
अयाश्वाग्नेऽस्वन्नभिश्चरितपाश्च	२६४
अस्य वामस्य	१७०
अहप्रदि पर्वते	५२
अहन् विभर्षि	५३
अहिरिव भोगैः पर्येति बाहुम्	२७७
अहोरात्राणि मरुतो विलिष्टं	११६
आत्मा देवानां भुवनस्य	५३
आपो ज्योती रसोऽमृतं	१०६
आमन्द्रमावेरायं	११४
इदं भूमेर्मजामह इदं भद्रं	२७०
इन्द्रं क्रतुं न आभर	२४०
इन्द्रं मित्रं	५२
इमं मे गच्छे यमुने	१७५

इयं शुष्मेभिः	१७५
उत त्यः पश्यन्न दृश्यं वाचं	२७५
उप प्रयोभिः	५
उर्वन्तरितं	६६
श्रुवीसे अत्रिम्	२२७
एकं पादं नोत्तिष्ठति सलिलात्	२२१
एकस्मै स्वाहा ह्याभ्यां स्वाहा	६०
पष्टा रायः	६६, १५६
क ईपते तुज्यते कः	१६७
कया नश्चित्र आभुषदूती	१२७
कृष्णो नोनाथ वृषभो यदीम्	२७६
के ह्य नरः श्रेष्ठतमाः	२५५
चत्वारि वाक्परिमिता पदानि	५२, २७५
चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः	२७४
चित्र इन्द्राजा राजका इदन्यके	१७५
चित्रं देवानां	५२, १०६, २६३
जातवेदसे	१७३
जहान एव व्यवाधत सृधः	६८
तत्त्वा यामि	२२८
तमग्ने हविष्मन्तो देवं	२६
तमू अहवन् वेधा भुवे कं	२२७
तरत् स मन्दी धावति	१३५
तस्मा अरक्कमाम वो यस्य	१०८
त्रय पनां महिमानः सचन्ते	११६
त्रयः केशिनः	५२
त्रिक्रुकेभिः पतति	५३
त्वमग्ने रुद्रः	५२

त्रिभ्यः स्वाहा	६०
दन्तमूर्तेर्मृदं तस्वीः	१४७
दक्षा युवाकवः	३८
द्वयद्वयं मानुष आपयायां	१७५
द्वा सुपर्णा सयुजा सन्नाया	१६८
पक्षी बृहन्न भवतो	५३
पितेव पुत्रं दत्तये वचोभिः	११६
बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं	२५७
ब्रह्म जहानं प्रथमं पुरस्तात्	२७०
महानैन्द्रं प्रक्षयत्यां	१७३
महीमे अस्य वृषनाम	२८
मा नः	४६
मित्रस्य वर्षणी धृतः	२३७
मित्रो जनाभ्यातय	५२
ये यजत्रा	३८
यो अस्मान्धराद्य १ वयं	१४६
रश्मयश्च देवा गरगिरः	११२
विद्रथे नवे द्रुपदे अर्भके	१७२
विश्वेभिर्देवैः पृतना जयामि	१३७
शतं ते राजन्	५२
शन्नो देयीराभिष्टये	१४१
सकृमिव तितउना पुनन्तः	२७५
सरस्वती सरयुः सिन्धुः	१७५
सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः	२६७
सावित्राणि जुहोति प्रसूयै	२६६
सुदेवो असि वरुण	२७६
सोमाय स्वाहा	११५

सौपर्णपक्षममृतयुति

५३

स्थिरेभिरङ्गैः

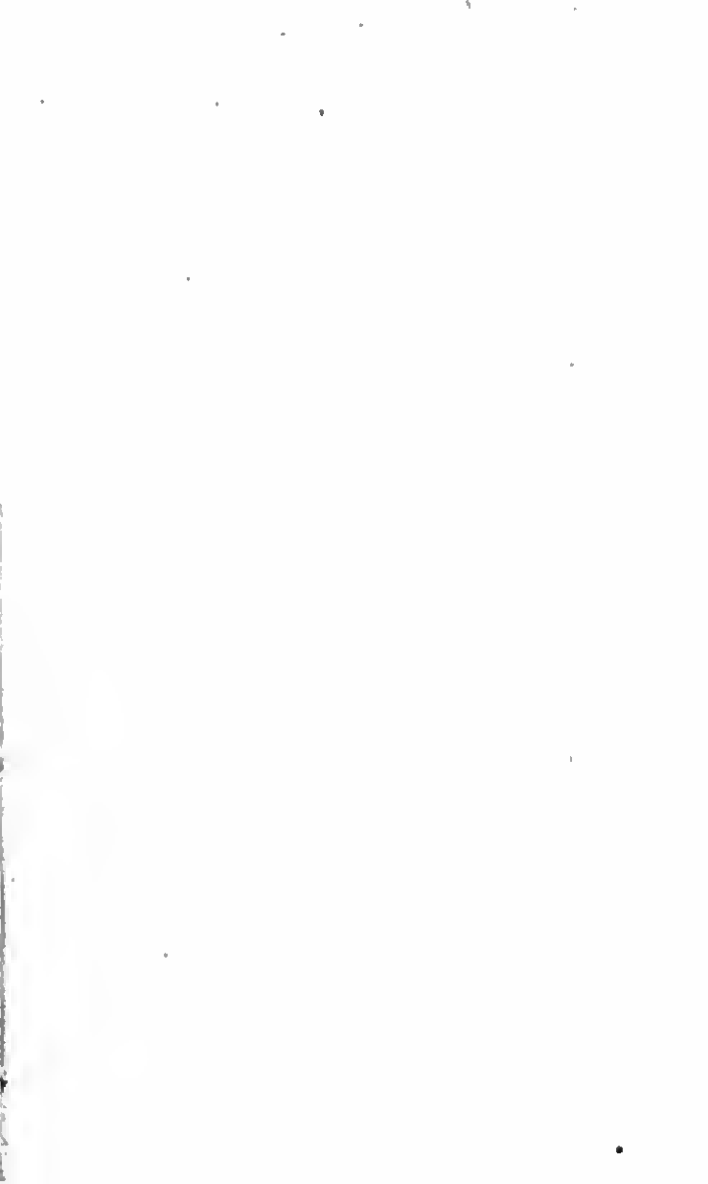
५३

हंसः गुचिपत्

१०६, ११६

स्वाद्धीं त्या स्वादुना तीमां

२६२



दधाननन्द महाविद्यालय संस्कृत-ग्रन्थमाला

* प्रकाशित ग्रन्थ *

१—अथर्ववेदीया यज्ञपटलिका	१॥)
२—ऋग्वेद पर व्याख्यान	१॥)
३—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण	२॥)
४—दन्त्योष्ठविधि	॥)
५—अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा	१)
६—अथर्ववेदीया गृह्यसूत्रानुक्रमिका	४)
७—रामायण, अयोध्या-काण्ड	७॥)
८—वैदिक कोष प्रथम भाग	१२)
९—काठकगृह्यसूत्र with extracts from three com. ed. by Dr. W. Caland.	
१०—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग द्वितीय	५)
११—चारायणीय मन्त्रार्थाध्याय	१)
१२—रामायण, वाल्मीकि-काण्ड	५)
१३—वैदिक वाङ्मय का इतिहास भाग १ खण्ड २	५)

अन्य ग्रन्थ

१—संस्कृत साहित्य का इतिहास	३)
२—विशाल भारत	३)

* यन्त्रस्थ *

१—ऋग्वेदमाध्य-उद्गीथाचार्यकृत	
-------------------------------	--

SUPDT. RESEARCH DEPARTMENT,

D. A. V. College; Lahore.



CATALOGUED.

✓C

Archaeological Library,

8175

Call No. 891.209/ Bha

Author— Bhagavat Datta

Title— *A history of vedic literature*
Vol I p II; The Comment-
aries of the Vedas

Borrower No.	Date of Issue	Date of Return	B.

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.